NYA JEVAN 1955 G.K.V.

नया जीवन
जुलाई १९५४
मूल्य ६ आने

कागज़ के एक छोटे पुर्ज़े पर
महात्मा गांधी ने आश्रम के
एक रोगी को रात के दो
बजे एक हिदायत लिखी थी ।
अब यह पुर्ज़ा एक कीमती संस्मरण है !

विदेश के एक अज्ञात कवि
द्वारा लिखा एक पुर्जा मिला:
उसके मरने के बरसों बाद
वह उसी से अमर हो गया;
उसपर उसकी एक कविता लिखी थी ।

कागज़ के बिना न
शास्त्र मिलते न साहित्य ।
कागज़ हमारी सभ्यता की
एक पवित्र धरोहर है !

श्रेष्ठ स्वदेशी कागज़ों के निर्माता

# स्टार पेपर मिल्स लि०

सहारनपुर : उत्तर-प्रदेश

मैनेजिंग एजेन्ट्स—बाजोरिया एण्ड कम्पनी, कलकत्ता

# " त्रिपथगा "

## हिन्दी की अभिनव सांस्कृतिक पत्रिका

जिसमें आपको सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्व लोक-साहित्य, लोक-कला, ललित-कला, क्षेत्रीय साहित्य तथा भारत के विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों का सजीव और ज्ञानवर्द्धक वर्णन अधिकारी विद्वानों की लेखनी से मिलेगा।

| | |
|---|---|
| वार्षिक मूल्य | ८ रुपये |
| एक प्रति | १२ आने |

प्रकाशन तिथि की प्रतीक्षा कीजिये। ग्राहक तथा विज्ञापन दाता कृपया निम्न पते पर पत्र व्यवहार करें।

पब्लिकेशंस ब्यूरो, सूचना विभाग
विधान भवन, लखनऊ

जरूरी जानकारी

प्रकाशन का समय—महीने की पहली तारीख है।

यदि 'नयाजीवन' ७ तारीख तक न पहुंचे, तो समझिये आपका अङ्क कोई दूसरे सज्जन पढ़ रहे हैं और कार्यालय को कार्ड लिखिए।

वर्ष भर का चन्दा (विशेषांक सहित) पांच रुपये और एक कापी का छः आने है।

ह्वीलर और गुलाबसिंह एण्ड सन्स के रेलवे बुकस्टालों पर और शायद आपके नगर की एजेंसी पर भी 'नयाजीवन' मिलता है।

लेखकों से उत्तर या रचना की वापसी के लिये टिकट न भेजने की प्रार्थना है।

हर तरह के पत्र-व्यवहार का पता—विकास लिमिटेड, सहारनपुर यू० पी० है।

ग्राहक चाहे जिस अङ्क से बन सकते हैं, जनवरी से बनने में फाइल ठीक रहती है। पत्र व्यवहार में ग्राहक नं० अवश्य दें।

'नयाजीवन' में उन चीज़ों के ही विज्ञापन छपते हैं, जिनसे देश की समृद्धि, स्वास्थ्य और पूर्णता बढ़े।

विज्ञापन के रेट विज्ञापक की शक्ति के अनुसार लिए जाते हैं और यदि विज्ञापक साधन हीन होने पर भी देश के लिए आवश्यक निर्माण कर रहे हों, तो बिना शुल्क भी छपते हैं।

आलोचना के लिए प्रकाशक बन्धुओं से पुस्तकों की एक-एक प्रति भेजने की प्रार्थना है। यदि आलोचना कार्यालय से बाहर के किसी विद्वान से करानी आवश्यक हुई, तो लिखकर दूसरी प्रति मंगा ली जाएगी।

विचारों का विश्वविद्यालय

भारत की अनेक राज्य-सरकारों द्वारा स्वीकृत

सम्पादक
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

सहकारी
अखिलेश ● एम० कविता

हमारा काम यह नहीं है—कि इस विशाल देश में बसे चन्द दिमागी ऐय्याशों का फालतू समय चैन से काटने के लिए मनोरंजक साहित्य नाम का मैख़ाना हर समय खुला रक्खें!

★

हमारा काम तो यह है—कि इस विशाल देश के कोने-कोने में फैले जन-साधारण के मन में विशृङ्खलित वर्तमान के प्रति विद्रोह और भव्य-भविष्यत् के निर्माण की भूख जगायें!

मुद्रक
विकास प्रिंटिंग वर्क्स, सहारनपुर

प्रकाशक
विकास लिमिटेड,
सहारनपुर, : उत्तरप्रदेश

२५/६-७

# कहां, क्या, किसका?


## कहानी-संस्मरण-स्केच

अजी, क्या रक्खा है इन बातों में ६
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

पंचों का फैसला १२
श्री विश्वनाथ भटेले
चेयरमैन टाउन एरिया
इकदिल (इटावा)

कस्बे के जलपान-गृह में १५
श्री राजेन्द्रनाथ मिश्र
३२, नेपियर टाउन,
जबलपुर म. प्र.

अब मुलम्मा नहीं है! १७
श्री लाडली मोहन
शीशमहल, मेरठ

## जीवन-निर्माण

वे दस मूर्ख
और ये हजारों समझदार! २१
श्री रामेश्वरदयाल दुबे
राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, वर्धा

## जीवन-परिचय

मिलिन्द जी
विद्वान, तापस, श्रमी, निर्लिप्त
और मूक साधक! ३३
श्री कैलाश श्रीवास्तव
मध्यभारत प्रदेश युवक कांग्रेस
कार्यालय, सर्राफा,
लश्कर, ग्वालियर

पंचशील और दस सिद्धान्त-सूत्र ३८

## नया समाज

भगवान को कोई भी सींखचों
के अन्दर बन्द नहीं रख सकता। ४५
श्री वियोगी हरि
('हिन्दुस्तान' दैनिक के सौजन्य से)

## कविता-गद्य-काव्य

धुआं ३
श्री प्रकाश सक्सेना
बी-५/१ रिवर बैंक कालोनी,
लखनऊ

दो शकरपारे ४
श्री वेदप्रकाश बटुक

एक रुबाई ११
श्री नीरज
१०६/१६ स्वरूप नगर,
कानपुर

स्वयं मस्त इतना कि मधुमास की,
मेरे सामने कौन औकात है। १६
श्री बालपाण्डेय
३२, नेपियर टाउन,
जबलपुर म. प्र.

यों ही गीत न बन पाते हैं! २६
श्री शान्ति स्वरूप 'कुसुम'
छत्ता जम्बूदास, सहारनपुर

## सम्पादकीय ५

## जीवन के झरोखे से २४

## गांधी जी का पृष्ठ २८

## अपने पढ़ने के कमरे में २६

## नया भारत ५०

## नये लेखकों के सम्बन्ध में ३६

मैं कहानी-लेखक कैसे बना?
श्री आनन्दप्रकाश जैन
८५, माटवाड़ा, मेरठ

# धुँवा

**श्री प्रकाश सक्सेना**

प्रकाश सक्सेना;

सचमुच एक प्रकाशमान व्यक्तित्व, जो कभी फीका नहीं पड़ा ! बचपन में दंगई, तो विद्यार्थीपन में पैना और तब अपने राज्याधिकारी-जीवन में कर्मठ-फ्रंटियर मेल की तरह तेज़ और लक्ष्यदर्शी !.

देखते - देखते पास चलते जाने कितने बह गए, कितने उलझ गए, पर वह अडिग और अनगुफा और यों दबंग !

उसकी ईमानदारी, न आगे बढ़ने—कुछ और पाने का टैक्ट और न भय की भभूत;

वह उसका ईमान, जीवन धर्म, स्वभाव—उसे कुछ मिले या मिला हुआ छिने, कहने में प्रखर, करने में प्रचण्ड और जीवन में. प्रशस्त प्रकाश सक्सेना !

वायु मण्डल के पटों को चीर कर,
मत्त यौवन से भरी अँगड़ाइयाँ ले,
धुँवा ऊपर उठ रहा है—
फोड़ता, ज्यों मृदुल अंकुर गुरु धरा को।
सतत ऊँचा उठ रहा है—
चुनौती ज्यों दे रहा अवरोधियों को !

है न इसकी पीठ पर कोई शिफ़ारिश;
घूँस की तह भी न इसने दी कहीं पर;
चापलूसी कर न अपनी पत गँवाई;
मित्र-निन्दा कर न निज कीरत बढ़ाई;
पीठ में छुरियां किसी के भी न भोंकी;
किन्तु फिर भी उठा जाता है निरन्तर;
रोक पाता है न कोई भी कहीं पर।
क्षितिज व्यापी वायुमण्डल अपरिमित !
तनिक सा यह धुँवा करता है विजित।
हो गया ज्यों प्राप्त ब्रह्मा वर इसे।
उठ रहा वह इसलिए, उसमें तपन है।
यह नहीं मांगी हुई निज की तपन है,
साधना से प्राप्त जीवन की किरन है,
उमड़ते से सिन्धु की अंतर जलन है।

दहकते अंगार इसके चरण तल।
रुक नहीं सकता इसी से एक पल।
और यह उठता रहेगा—
जब तलक इसमें तपन है,
जब तलक यह शुद्ध तन है,
जब तलक अकलुष वदन है,
जब तलक ना मोह पाती वायु की गोरी भुजायें,
लूट ले जाती नहीं उत्तप्त जीवन की कमाई,
लीन हो जाता नहीं यदि मेट निज अस्तित्व सारा,
सबल हो भी वह नहीं लेता कोई दुर्बल सहारा,
खटकने लगती नहीं निज दृष्टि में निज कालिमा ही,
तो किसी दिन छू सकेगा सूर्य की नव लालिमा भी।
किन्तु यदि करने लगा अठखेलियाँ चंचल पवन से,
चढ़ व विमानों पर लगाई दौड़ यदि सुर यान तक से,
तो न ये अंगार भू के तपन देते ही रहेंगे,
तब गिरेगा ज्यों गिरा था नहुष भू पर।

# दो शकरपारे !

श्री वेदप्रकाश बटुक

सागर की परिधि असीम है, तो क्या; यदि वह प्यासे की प्यास और भी बढ़ा देता है ?

कूप की सीमा लघु है, तो क्या; यदि उसमें प्यासे की प्यास को चुल्लू-भर शीतल वारि के वरदान से शान्त करने की क्षमता है !

महान की महानता उसकी रहस्यमयी असीमता में नहीं; हाँ, है अभिलाषी की अभिलाषा-पूर्ति में !

समस्त सरिताओं की अजस्र अमृतधारा भी सागर को मधुर नहीं बना पातीं !

सरिताओं का सर्वस्व समर्पण भी उसके हृदय का खारापन दूर नहीं कर पाता !

पर सूर्य की किरणों से तप्त होते ही वह अपना स्वभाव बदल देता है।

और भर देता है मेघों को मधुर अमृत के वारि-कणों से !

फिर महान कौन ? समर्पण या शक्ति ? मानव के साथ ही मानवीयता की कृतार्थता है; दानव के प्रति तो वह दुर्बलता ही है।
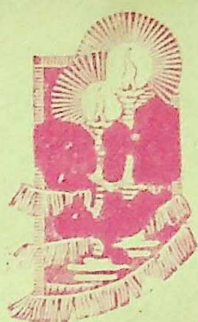
# नया जीवन

## समान अवसर

स्वराज्य क्या है ? कुछ लोग उसे सबको समान बनाने की मैशीन समझते हैं। यह भूल है; क्योंकि ऐसा करने का सही अर्थ है सबके व्यक्तित्वों का सर्वनाश !

फिर स्वराज्य क्या है ? स्वराज्य है राष्ट्र के सब नागरिकों के लिए समान अवसर की सुलभता।

क्या हमारे राष्ट्र का स्वराज्य अपनी यह चरितार्थता पा सका है ? नहीं, अभी नहीं !

पेप्सू के वीर नेता श्री वृषभान ने अपने एक भाषण में कुछ बहुत महत्वपूर्ण शब्द कहे हैं, जिन पर सारे देश का ध्यान जाना चाहिए।

वे कहते हैं—"सरकारी नौकरों ने भी देश में अपना एक स्वार्थ कायम कर लिया है। लोक-सेवा-आयोग बढ़िया पोशाक, पालिश किए गए जूतों और धुआंधार अंग्रेजी बोलने वालों को बहुत ज्यादा महत्व देते हैं। मौजूदा शिक्षा-प्रणाली में गरीबों के बच्चों को ये सब चीजें कहां नसीब होती हैं।"

श्री वृषभान ने बहुत गहरे होकर कहा—"मैं तो यह चाहता हूँ कि स्कूलों में उन बच्चों पर ज्यादा ध्यान दिया जाए, जिनके माता-पिता बड़े आदमी नहीं कहलाते। इससे उन्हें ऐसे लोगों के बच्चों से होड़ लेने का सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा, जो बड़े आदमी कहलाते हैं।"

क्या ही अच्छा हो कि हर नगर में आदर्शवादी व्यवस्था के नीचे कुछ ऐसे छोटे स्कूल खुलें, जो चुने हुए होनहार बालकों को हाथ में लेकर उन्हें पढ़ाने का नहीं, बनाने का प्रयत्न करें और इस प्रकार देश के भावी नेताओं की एक पीढ़ी तैयार हो।

## कुमारी लोरिया बेरी

कुमारी लोरिया बेरी उस भारतीय हवाई जहाज की परिचारिका थी, जो दुर्घटनाग्रस्त होकर समुद्र में गिर पड़ा। बचे हुए तीन चालकों में से एक कप्तान एम. डी. दीक्षित ने बताया कि दुर्घटना होने में केवल ४ मिनट लगे और विस्फोट के बाद १२० मील प्रति घन्टा की रफ्तार से जहाज नीचे गिरा, पर लोरिया ने मृत्यु को सामने देखते हुए भी धीरज नहीं खोया और बहुत फुर्ती से यात्रियों और चालकों को 'लाइफ जैकेट' (तैरने वाली पेटियां) बांट दीं। यदि जहाज एक मिनट भी पानी पर तैरता, तो बहुत से यात्री बच जाते, पर वह गिरते ही डूब गया।

लोरिया का नाम भी मरने वालों में ही है, पर जिसके अन्तिम चरण स्वयं के संकट को भूलकर दूसरों को बचाने में बीते, उसका जीवन कितना सुन्दर था और मृत्यु कितनी प्रेरक !

## शाबाश राजकुमार !

आगरा के २६ वर्षीय इंजीनियर श्री राजकुमार ३ वर्ष पूर्व अपनी मोटर-साईकिल पर विश्व की यात्रा करने को निकले थे। कोई ३॥ लाख मील की यात्रा कर वे भारत लौटे हैं। वे एशिया, यूरोप, उत्तर व पूर्वी अफ्रीकी देशों की सैर कर आए हैं और अब बर्मा और चीन होते हुए रूस जा रहे हैं, जहाँ से उनका इरादा अमरीका जाने का है।

इस बहादुर तरुण ने अपनी यात्रा में सहारा के विशाल रेगिस्तान को मोटर साईकिल से पार करके विश्व का पहला रिकार्ड कायम किया है।

खास बात यह है कि वे घर से सिर्फ १५ रुपये लेकर चले थे। जनता के प्रेम के कारण उन्हें मार्ग में कोई कष्ट नहीं हुआ और उनका कोष भी बढ़ता गया।

हमारे देश में जो नया उत्साह, नया साहस फूट रहा है, राजकुमार उसके जीवन्त प्रतिनिधि हैं। आवश्यक है और उचित भी कि समाज ऐसे तरुणों को सार्वजनिक सम्मान देकर बढ़ावा दे।

## स्पंज और युवक

डाक्टर सैयद महमूद ने आज के शिक्षित युवकों की उपमा स्पंज से दी कि पानी में डालते ही स्पंज जैसे फूल जाता है और जरा सा दबाते ही उसमें से सारा पानी निकल जाता है। वैसे ही आज के शिक्षित युवक जब जीवन में प्रवेश करते हैं, तो सपनों और खयाली पुलावों से भरे होते हैं, पर जीवन-संघर्ष का दबाव पड़ते ही निचुड़ जाते हैं—उनमें अपने पावों पर खड़े होने का दम ही नहीं रहता !

यह एक मित्र की आलोचना है, इसलिए भारत के युवकों का ध्यान इधर जाना चाहिए और यह एक मित्र की आलोचना है, इसलिये डाक्टर महमूद और उस तरह के दूसरे लोगों का ध्यान इधर जाना चाहिए कि भारत के युवक जीवन-संघर्ष में खड़े रहने लायक बनें इसके लिए देश में कौन-सा प्रयत्न हो रहा है ?

## डाक्टर कोलेर

जर्मनी के चिकित्सक संघ ने अपना सर्वोच्च सम्मान—पैरेकेलसस-पदक - डाक्टर ओटमर कोलेर को दिया है, जो शल्य-चिकित्सा के अद्भुत आचार्य हैं।

उनके आपरेशनों की कहानियां नानी की कहानियों की तरह जर्मनी में प्रसिद्ध हैं। जब वे १९४३ में स्तालिनग्राद की लड़ाई में युद्ध-बंदी बना लिए गए, तो सोवियत बंदी शिविर में उन्होंने बढ़ई के बरमे और लुहार की छेनी से एक कैदी की खोपड़ी का आपरेशन सफलता पूर्वक कर दिया और एक दूसरे कैदी की बांह आरी से काट कर जूते गांठने वाले मोची के डोरे से घाव सी दिया।

डाक्टर कोलेर जैसे लोगों के लिए संसार की सड़ी राजनीति लाख कैद-

खाने खोले और फांसियां खड़ी करें, वे विश्व की विभूति हैं—मानवता सदा जिनका जयगान करेगी।

## ये सुन्दर अपाहिज !

इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने अपनी पत्नी के जीवित रहते दूसरा विवाह किया ही था कि पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री श्री मोहम्मद अली ने भी इतिहास को दोहरा दिया।

अब मज़ा देखिये कि इण्डोनेशिया के महिला-संगठनों का प्रतिनिधि मण्डल सुकर्ण से मिला, तो उसने उनसे यह प्रार्थना की कि वे पटरानी का पद पहली पत्नी के ही पास रहने दें और वे मान गए और पाकिस्तानी महिला संगठनों का प्रतिनिधि मंडल मुहम्मद अली से मिला, तो उसने उनसे यह प्रार्थना की कि वे पहली पत्नी के साथ भी नई पत्नी के समान ही सद्व्यवहार करें और वे मान गए।

> होठों और आंखों को सौंदर्य नहीं कहते, बल्कि सबकी सम्मिलित शक्ति और पूर्ण परिणाम को। —पोप

सोचने की बात यह है कि सुकर्ण और मुहम्मद अली की पहली पत्नियों को मैं 'एक सुन्दर अपाहिज' के सिवा और क्या कहूँ? जब पुरुष पत्नी के रहते दूसरी पत्नी लाया, तो निश्चय ही उसने अपना पतित्व खो दिया या छीन लिया, तो इस स्थिति में उससे उसके घर में स्थान मांगने का अर्थ कोढ़ दिखा कर पैसा मांगने के अतिरिक्त और क्या है? हाँ, उस आदर्शवादी नारी की बात सम्मान के योग्य हो सकती है, जो इतना बड़ा अपराध करने पर भी पति के साथ अपनी हार्दिकता नहीं तोड़ सकती, पर उनकी घोषणा, तो यह होगी कि—"वह कुछ भी करे, मेरा है, मैं उसकी हूं।"

## २५ वर्ष होगए !

७२ वर्ष के वृद्ध रामदास बाबा चित्रकूट में कोटतीर्थ से हनुमान धारा जाने वाले मार्ग पर रहते हैं। चार मील के इस मार्ग से हजारों यात्री हर साल गुजरते हैं, पर इस पर पानी का कोई प्रबन्ध नहीं।

यात्रियों के कष्ट से दुखी होकर बाबा ने स्वयं फावड़ा लेकर एक कुआं खोदना आरम्भ किया और उस पथरीली जमीन को १०० हाथ नीचा खोद डाला, पर अभी तक उसमें पानी नहीं आया और बाबा जी रस्सी की सीढ़ी से नीचे उतर कर अब भी रोज उसे खोदा करते हैं।

उन्हें यह खुदाई करते २५ वर्ष—चौथाई शताब्दी—बीत गये; क्या यह समाचार विश्व में मानवीय धीरज के इतिहास का अद्भुत समाचार नहीं है? आशा है इस समाचार की ओर शासन का ध्यान जायेगा और वह कुआं शीघ्र ही पक्का होजाएगा, पर इतने दिनों तक उस मूक निष्ठा की ओर किसी का ध्यान न जाना जहाँ हमारे सामाजिक मोतियाबिन्द का दयनीय चित्र है, वहां निर्लिप्त भाव से बाबा का लगे रहना मानव की निर्लिप्त निष्ठा का वंदनीय चित्र भी है।

## आकाश होकर

हिन्दी के वर्चस्वी कवि और तेजस्वी वक्ता श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने अपनी एक वक्तृता में हम सब में समाई बटवारे की वृत्ति पर एक महत्व-पूर्ण वाक्य कहा है–

"बंगाल और बिहार बहुत दिनों तक एक थे और किसी प्रकार की राष्ट्रीय आवश्यकता आने पर वे फिर से एक हो सकते हैं। धरती का विभाजन तो वन, पर्वत, नदी, समुद्र सब के कारण सम्भव है, किन्तु इनके ऊपर प्रसरित होने वाला आकाश एक है। हम सांस्कृतिक कार्यकर्ता आकाश होकर उनसे भी एकाकार होते हैं, जो निचले स्तर पर बटे हुए हैं !"

## दो लड़कियां !

अहमदाबाद की एक लड़कीने विवाह मण्डप में आकर देखा कि वर बूढ़ा है, तो उसने विवाह से इंकार कर दिया और तेजी से महिलाश्रम में चली गई !

दरभंगा की एक लड़की विवाह मण्डप में आई, तो वर महाशय अड़े हुए थे कि साइकिल न मिले, तो विवाह न करेंगे। साइकिल देना सम्भव न था, तो वर महाशय उठ भागे। गांव वालों ने उन्हें स्टेशन पर जा पकड़ा और फिर गांव ले आए। तीन दिन हिरासत में रहकर वर महाशय बिना साइकिल के ही विवाह कर ले गए।

पहली लड़की पर प्रशंसा की पुष्प-वृष्टियां, पर दूसरी के साथ रियायत भी करनी हो तो कहा जाय— दयनीय !

## सिनेमा के पोस्टर !

सिनेमा के पोस्टरों से शहरों के सुन्दर मकान परेशान हैं। इन पोस्टरों में बहुत से गन्दी तस्वीरों से और बहुत से गन्दी भाषा से भरे होते है, पर प्रश्न तो यह है कि मकान मालिक की मर्जी के बिना क्या कोई उसकी दीवार पर पोस्टर लगा सकता है ?

लखनऊ की म्युनिसिपैलिटी ने इस बारे में एक उपनियम बनाकर लागू किया और पोस्टरों पर पाबन्दी लगा दी। सिनेमा मालिकों ने इस उपनियम के विरुद्ध लखनऊ के मुंसिफ की अदालत में दावा दायर कर दिया, पर इंसाफी मुंसिफ ने उनका अधिकार स्वीकार नहीं किया।

आशा है ऐसे उपनियम और फैसले दूसरे नगरों में भी दोहराये जाएंगे।

## शहीदों के स्मारक

उत्तर प्रदेश सरकार ने शहीदों के स्मारक बनाने का महत्वपूर्ण और उप-योगी फैसला किया है। १८५७ के शहीदों का स्मारक मेरठ में, १९२१ से १९४२ तक के ज्ञात-अज्ञात शहीदों का स्मारक लखनऊ में, महारानी लक्ष्मी बाई का झांसी में, नाना साहब का बिठूर में, तांतिया टोपे का कानपुर में, महाराज चेतसिंह का बनारस में और चन्द्र शेखर आजाद का इलाहाबाद में बनाया जाएगा।

निर्णय बहुत शानदार है और आशा है इसकी पूर्ति उत्तर प्रदेश की शान के लायक होगी।

## विशेषणों में !

कांग्रेस की एक गश्ती चिट्ठी में नए, शक्तिशाली, एकता बद्ध, खुशहाल और प्रगतिशील राष्ट्र के निर्माण के लिए काम करने की अपील की गई है। इन ५ विशेषणों में निश्चय ही हमारे राष्ट्र के भविष्य का स्वप्नचित्र आ गया है।

# अजी, क्या रक्खा है इन बातों में !

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

●

देखिये, आप जानते हैं मैं एक पत्रकार हूँ। वैसे तो गली-गली पत्रकार हैं और ऐसे पत्रकार कि क्या बताऊं आपको कि न उनका सम्बन्ध है किसी पत्र से और न वास्ता कार से, पर हैं वे इतने बड़े पत्रकार कि उनके लैटर पेपर पर भी यह छपा है और घर के बाहर के छोटे बोर्ड पर भी।

बहुत से साथी हैं कि उन बेचारों की मजाक उड़ाते हैं। शायद आप भी उनमें हों और बहुत से साथी हैं कि उन्हें ताने देते हैं, उन पर नाराज़ होते हैं, उनसे कुढ़ते हैं, पर मुझे न ताने सूझते हैं, न झुंझलाहट आती है।

देख रहा हूं कि आपके चेहरे पर जो नाक है, वह ज़रा चिकुड़ गई है और इससे आपका पूरा चेहरा ही एक प्रश्न-चिन्ह बन गया है। साफ है कि आपके गले मेरी बात नहीं उतर रही है, पर आप तो जानते ही हैं कि मैं एक पत्रकार हूं और मेरा काम ही बातों को गले उतारना है, तो मैं आपके प्रश्न का समाधान अवश्य करूंगा।

और फिर समाधान क्या था इसमें ? यह न कोई दर्शन की गुत्थी है, न राजनीति की समस्या, बातों की बात है और बात का और मट्ठे का बढ़ाना क्या, घटाना क्या ? अरे भाई, बात तो सिर्फ इतनी है कि वे कहते हैं हम पत्रकार हैं और मैं कहता हूं कि बधाई आपको कि आप बेकार तो नहीं हैं, कुछ न कुछ कार हैं। अब आप ही बताइये कि इस हालत में ताने, नाराज़ी और कुढ़न की गुंजाइश ही कहां है ?

जी, देखिये, कुढ़न की इसमें गुंजाइश नहीं है, पर इसमें यह गुंजाइश भी नहीं है कि आप मुझे भी ऐसा ही पत्रकार समझ बैठें। मैं पत्रकार हूँ, यानी सम्पादक हूं अपने पत्रों का।

यह लीजिये, वह आ रहा है सामने से प्रेस का फोरमैन। लोग समझते हैं, जाने क्या होता है सम्पादक, पर यहां ८ पन्ने पूरे करने में हो जाता है भुस। हां जी, भुस ही है और क्या कि लगने लगता है, जैसे भीतर न खून रहा हो न रस, बस सूखा-सूखा और रूखा-रूखा।

"क्या बात है भाई खैरातीलाल ?"

"बात यही है कि अग्रलेख अभी तक नहीं मिला और साप्ताहिक लेट हो रहा है। अब शाम के ६ बजे हैं। नोट कर लीजिये कि आपने रात में नौ बजे तक अग्रलेख न दिया, तो कल पत्र नहीं निकलेगा और यह भी सोच लीजिये सम्पादक जी, कि कल की जगह वह परसों डाक में पड़ा, तो सबका सब बैरंग हो जायेगा। गंगाधर जी तो और तरह के पोस्ट मास्टर थे। वे देर-सबेर भी ले लेते थे, पर यह जो अब नए आए हैं, बस घड़ी की सुई और कलेण्डर की तारीख देखकर काम करते हैं। मैंने सब बातें आपसे कह दी हैं, अब आप जानें

और आपका काम। तो नौ बजे भेज दूं शम्भू या रिजवान को मैटर लेने ?"

"हां, हां, जरूर भेज देना। मुंह-हाथ धोकर चाय का प्याला पिए अब बैठता हूँ मेज़ पर। तुम ६ क्या ८॥ बजे ही मंगा लेना लेख।"

खैरातीलाल चला गया और मैं अब मेज़ पर जा रहा हूं। कल्पना बेटी ने मुझे गरम-गरम चाय पिला दी है और मूड ऐसी ताज़मताज़ा हो रही है कि कोई दिमाग में हाथ डालकर चाहे, तो पूरा का पूरा अग्रलेख निकाल ले। लेख क्या है भारत की चहुंमुखी प्रगति को देखने के लिए एक नया चश्मा ही है।

जी हां, एक नया चश्मा। बात यह है कि आंख कमजोर हो, तो उसे साफ नहीं दीखता, पर चश्मा लगा लो, तो जोत जाग जाती है। सदियों की गुलामी में भारत की आंखें कमजोर हो गई हैं, इसलिए स्वतन्त्र भारत में जो कुछ हुआ—हो रहा है, उसे हम समझ नहीं पाते। हमारी आंखें तरक्की देखने की आदी हो गई हैं, पर स्वतन्त्र भारत कर रहा है उन्नति। मेरे अग्रलेख के चश्में से वह उन्नति साफ दिखाई देगी।

"वाह भाई वाह, यह तरक्की और उन्नति की धुरपट खूब रही। अरे भाई, जो खुदा वही ईश्वर और जो ईश्वर वही गौड; भले आदमी, इनमें भी भला क्या भेद ? और जो भेद इनमें नहीं, वह तरक्की और उन्नति में कहां से आ घुसा ?"

है न यही बात आपके मनमें, पर कहूँ एक बात; बुरा न मानियेगा, आप की बात बस बातों की बात है, यानी बेबात की बात। उसमें न जान है न मान-एक दम पोपली। भाई मेरे, तरक्की और उन्नति में बहुत फर्क है, बहुत अन्तर है। लीजिए पहले मेरा चश्मा आप ही लगाइये। तरक्की है भौतिक समृद्धि, बाहरी सुख साधनों की वृद्धि और उन्नति है मानसिक समृद्धि, किसी ऊंचे उद्देश्य के साथ जीवन की आन्तरिक प्रवृत्तियों का जुड़ जाना।

मालूम होता है साफ-साफ ही कहना पड़ेगा आपसे। स्वतन्त्र भारत ने बांधों, योजनाओं, कालोनियों, भवनों के निर्माण की दिशा में जो वृद्धि की है, वह तरक्की है और एक ईमानदार शान्ति-दूत के रूप में जो कार्य किया है, वह है उन्नति—प्राचीन की भाषा में एक है अभ्युदय और दूसरा है निश्रेयस। कहिए, है न नया चश्मा ?

तो अग्रलेख मेरा तैयार है मेरे मस्तिष्क में, पर मेरा पत्र तो मस्तिष्क पर नहीं, कागज़ पर छपता है और इसलिए अपना लेख भी मुझे कागज़ पर उतारना है। तो लीजिए, यह जम गया मैं और यह लिखा शीर्षक। बस अब फर्र—फर्र।

यह कौन चला आ रहा है मेरे कमरे की तरफ ? इन लोगों के लिए न समय है न असमय, जब देखा उड़ लिए हवा के झोंके-से। ओह, रामचरण जी हैं।

"ओहो ! तो सम्पादक जी अभी अपनी कुर्सी पर ही जोग साध रहे हैं। अरे भाई चमगादड़ और उल्लू दुनियां के सबसे मनहूस जीव हैं, पर इस समय तो उनके परों और पैरों में भी चाल आ गई, पर तुम्हारा पहिया ऐसा जाम

डब डबाया है, जो आँसू यह मेरी आंखों में,
इसको तेरे किसी ऐहसान की दरकार नहीं;
जो इबादत भी करे और शिकायत भी करे—
प्यार का है वह बहाना, तो मगर प्यार नहीं।

नीरज

हुआ कि बस जमा सो जमा। अच्छा लो उठो अब कुर्सी से।"

"अच्छा लो अब उठो कुर्सी से! यह खूब रही। मुझे अभी अग्रलेख लिखकर पूरा करना है, नहीं तो पत्र लेट हो जायगा और आप जानते हैं यह बहुत बुरी बात है।" मैं उनसे कह रहा हूँ, पर कह वे रहे हैं—"अजी, क्या रक्खा है इन बातों में, लो उठो, बदन में डालो कुरता और पैरों में चमकाओ चप्पल और बस फुर्र फुर्र; सीधे लक्ष्मी टाकीज़ में। अरे भाई, वो शानदार पिक्चर है सम्पादक जी, कि उसके एक-एक गीत पर दो-दो लेख और एक-एक डायलाग पर चार-चार अग्रलेख न्यौछावर हो जाएं।"

मैं अपनी मजबूरियां अपने बोलों में पिरो रहा हूं, पर उनके पास सबका एक ही उत्तर है अजी क्या रक्खा है इन बातों में। और लीजिए वे मेरा कुरता खूंटी से उतारे ला रहे हैं और मेरे चप्पलों को अपने बूट से मसलते-धकेलते-सरकाते। उनके हर व्यवहार का एक ही अर्थ है—अजी, क्या रक्खा है इन बातों में!

एक तरफ पत्र का अग्रलेख और दूसरी तरफ सिनेमा का शो। साफ-साफ एक तरफ प्रतिष्ठा और जिम्मेदारी का प्रश्न और दूसरी तरफ एक मामूली मनोरंजन, जो कभी भी किया जा सकता है। क्योंजी, यह क्या बात है कि इतने छोटे से प्रश्न के मुकाबले, इतना बड़ा प्रश्न मेरे मित्र के गले क्यों नहीं उतरता? मैं अपने काम का महत्व जब उन्हें समझाने का प्रयत्न करता हूँ—वे कहते हैं अजी—क्या रक्खा है इन बातों में और समझते हैं कि अब मेरी बात कोई बात नहीं और बस उनकी बात ही एक बात है, पर प्रश्न तो यह है कि वे समझदार आदमी हैं, फिर मेरी बात को क्यों नहीं समझ पा रहे?

मुझे याद आरही है उस दिन वाली टेलीफोन की बात। अरे साहब, अब क्या सुनाऊँ आपको, पर सुनानी तो है ही। मुझे अपने मित्र सेठ सेवकराम खेमका से कुछ काम था कि मैंने टेलीफोन उठाया और उनका नम्बर मांगा। उनका टेलीफोन बहुत कम ऐसी भलमनसाहत बरतता है कि मांगते ही मिल जाये, पर उस दिन वह मिल गया और एक रूखी सी आवाज़ कानों में पड़ी—"किसे पूछते हो?"

मैंने सेवकराम जी का नाम बता

(शेष पृष्ठ ५३ पर)

# पंचों का फैसला

श्री विश्वनाथ भटेले

●

श्यामू और उमराय दोनों लहूलुहान थे। केंडा लाला कान्सटेबिल, हरी और मुरारी दोनों की बांह गहे जा रहा था। लहूलुहान होकर भी श्यामू और उमराय दोनों इस अदा से अगल-बगल देखते हुसकते जा रहे थे, जैसे वे पिटकर भी जीते हों।

हुकूमत का शिकंजा उनकी सुरक्षा की खातिर कस चुका था। कान्सटेबिल ने क्रमशः श्यामू और उमराय के ऊपर हरी व मुरारी को एक साथ लाठियां छोड़ते देख लिया। ए……ऽ, जब तक वह दौड़ कर पहुँचा, हाथ पड़ चुके थे। श्यामू का कान बीच से फटकर ऊपर से लटक रहा था। खून की धार मची थी। उमराय के कांधे पर मुरारी का पनैंठा नीला होकर उभर आया था। उसका मुंह मुर्दाना हो रहा था। सिर्फ आंखों में विराट गौरव की गरिमा चमचमा उठी थी।

केंडा लाला कस्बे की कोतवाली में तैनात है, लेकिन इसी मुहल्ले में मकान लेकर रहता है। उसके रहते मुहल्ले में पारा खटक जाय, तो लानत है उसकी सिपाही गीरी पर!! लोग उसकी सिपाही-सत्ता में अविश्वास करने लगेंगे। फिर तो जीते-जी मरना हो जायेगा। इसलिये केंडा लाला शाम से ही चौक के चारों ओर मंडरा रहा था। चौक में सबेरे से ही पंचायत फंसी थी। बिरादरी भर को कौराग्रास हराम हो रहा था। रसोई पत्तलों में पड़ी सूख रही थी और पंच-बिचारों की आंतें पेट में सुलग रहीं थी। जब तक पंचायत न सुलझ जाये, पंच कौर नहीं उठा सकते।

गंगाराम के यहां लड़के की शादी है। कल का टीका है। आज मण्डप के भोज में मौजे भर की बिरादरी जुड़ी थी। हाथ-पांव धो, आचमन-कुल्ली करके बिरादरी बैठ गई। कुहनी से कुहनी भिड़ा कर जीमने वाले बिरादरी-भाइयों की क्या बात है !!!

बड़े करम नीके, जिसके द्वार बिरादरी भइए इकट्ठे हों। इन्हीं भोज-पंचायतों में लड़की वाले लड़कों को खोजते हैं। कोई बिरादरी का भइया अगर ऊंच-नीच चलन चलेगा, तो यहां उसकी चर्चा होगी। भला जो बिरादरी के साथ बैठ के कौर उठायेगा, उसे बिरादरी की नाक कटाने का हक नहीं है। चार चुटीले-छटे छोकरे उठे और गदपद-गदपद दस मिनट में पत्तलें

परोस दीं। दही के ताजे गरम आलू और घर के घी की कुरकुरी पूरियां हरी पत्तलों में महक उठीं। परस पूरी हो गई। अब सब खामोश हो गये। लगे ताकने एक दूसरे का मुंह! सब लोग किसी अनजान की प्रतीक्षा कर उठे।

गंगाराम ने हाथ जोड़ कर कहा— "चना-मटर जो बन पड़ा, सो हाजिर है। पंचभाइयों की जूठन मेरे आंगन में गिर जाये, तो मेरे भाग खुल जायें। उठाव पंच कौर! जै लक्ष्मी नारायण जी की।"

ए, एकदम श्यामू अखाड़े में कूदता-सा बोला– "गंगाराम भइया! मेरी पत्तल से कौर नहीं उठता।"

"सो काहे रे श्यामा?" कई पंच एक साथ बोल उठे। उनकी आवाज में अकूत अचम्भा था। सारी बिरादरी का चित्त इस बात पर जम गया। खाने-पीने की ऐसी-तैसी!!"

◆ जब बचपन में पाधा के यहां अ-आ-इ-ई पढ़ने गया, तो पहले ही दिन पूछा–पाधा जी, मुझे लिखना कब आजाएगा?

◆ गुर्रा कर बोले—"अबे, अभी तू पैदा तो हुआ नहीं और लिखना सीखने लगा। अभी तो बेटा, बरसों उंगलियां घिसेगा, तब कहीं तुझे कलम पकड़नी आएगी।"

◆ पाधा जी ने ठीक कहा था, सो कलम पकड़ना सीखने में मुझे कोई पच्चीस ही वर्ष लगे।

◆ पर शिवजी ने कहा—मीच आंख उसने मीच ली। शिवजी ने कहा—खोल आंख और उसने खोल ली और बस भोले की माया कि वह कुरते की आस्तीन से सिनक पोंछता-पोंछता कलम पकड़ना सीख गया।

◆ अरे साहब, वह कलम पकड़ता है कि उसे चलाता है; जैसे खलीफा बुन्दू अपना गदका घुमाते हों।

◆ और वह है यह विश्वनाथ भटेले, जिसकी कलम के जौहर देखकर जी चाहता कि कलम रखदूं और कहूं कि ले, बस अब तू ही लिख!

श्यामू अब तक उकड़ूं बैठा था। एक घुटना आगे मोड़ कर सिद्ध बैठक पर आते हुये उसने चुनौती की कमान तान दी—"मुझे अपने हाथ उठाके हरिया कौर खिलाये तो खाऊं।"

बिरादरी के दस-पन्द्रह चलती वाले चौधरी बोलने-बतराने लगे। एक आवाज तेज़ सुन पड़ी। "उठ रे हरिया! श्यामू तेरा भइया बिरादर है। जो तू है सोई श्यामू है। अपने हाथ से उठाके कौर देदे उसके मुंह में।"

हरिया के ऊपर गाज-सी गिर गई। उसके भरे-चिकने चेहरे पर सफेदी बिखर गई। तब तक श्यामा ने ताश की फ्लाश का दूसरा पत्ता फेंक डाला—

"दूसरा कौर मुरारी खिलायेगा तो खाऊंगा।"

पंच भइया फैल कर आराम से बैठ गये। पंचायत शुरू हो गई और

पत्तलों पर मक्खियां भिनभिनाने लगीं। मौजे भर की बिरादरी के मुखिया ने हुक्म दिया कि हरी और मुरारी दोनों अपने-अपने हाथ से श्यामू के मुंह में कौर दें।

लामुहाल दोनों को उठना पड़ा। मंत्रबंधे - से जाकर उन्होंने कौर तोड़े और श्यामा के मुंह की तरफ बढ़ा दिये। दोनों ही श्यामा की आंखों से आंखें चार करने में कन्नी काट रहे थे। श्यामा ने तड़पकर कहा—

"मेरी आंखों से आंख मिला रे हरिया!" हरिया का मुँह लाल-सुर्ख हो रहा था और मुरारी तो हरिया का नकलिया भर था। हरिया और उसके साथ मुरारी खिसिया गए। दोनों ने तुनक कर पत्तल में कौर फेंक दिए और तचते-खौलते अपनी-अपनी जगहों पर जा जमे। उनके चेहरे पर दसियों रंग आ जा रहे थे।

अन्त में हरिया हारता-सा कतराया—

"श्यामा पंचों के सामने मेरा कसूर कहे।"

मुखिया ने श्यामा को कसूर बताने का आदेश दिया! श्यामा खड़ा हो गया और हाथ जोड़कर बोला—

"पंच भइया के बीच मोय भरी भवानी की कसम, जो झूठ कहूँ। इस हरिया और मुरारी ने कसाई को बेचके गइया कटाय दई। पंचो सरग फट जायगा, जो सुनेगा कि इन दोनों ने एक नहीं सैंकड़ों गउएँ कटाय डालीं। कईओं साल से इनका जेई गुपचुप धन्धा है। पंचो! मेरा गवाह उमराय है; वासे पूछ लिया जाए।"

चौधरी ने कसम धरी "उमराय! तुम बाल-बच्चों वाले हो। हलफ़ से हरफ़-हरफ़ सांची कहियो।"

उमराय भी हाथ बांधकर खड़े हो गए और बोले "सिगरे पंचन की जूती मेरे सिर-माथे पर। अकि, श्यामा के बोल हरफ़-हरफ़ सांच हैं। मैं अपने जेठे (ज्येष्ठ पुत्र) की बांह गहके गंगा उठाता हूँ।"

पंचों ने देखा, उमराय ने पास बैठे बारह-साल के खिलन्दड़े लड़के की बांह पकड़ कर उसे अपने पास ही खड़ा कर लिया था। दोनों पिता-पुत्र भरी सभा के मौन में मूक खड़े गहरी करुणा फैला रहे थे।

साफ़ा सम्हालते चौधरी ने होठ-जीभ भिड़ाकर जोर से 'चिक्-चिक' की आवाज़ की और बुदबुदाए "उमराय का लड़का बिचारा कैसा मुलुलुआ बना खड़ा है, जैसे नौटंकी में राजा हरीचन्द रोहतास कुंवर को बेचने को खड़ा करते हैं?

बहुत लोग एक साथ अपनी-अपनी कहने लगे। चौधरी ने गरजकर कहा— "हरिया और मुरारी जवाब दें, वर्ना गंगाराम की रसोई जो खराब हुई, उसका हर्जाना देना पड़ेगा।"

थोड़ी देर सन्नाटा फिर बना रहा। चौधरी ने कड़ककर कहा "जवाब देउ हरी! तुमने नीच-पाव धरो कि नहीं?"

चौधरी की तेज आवाज़ के नीचे भी स्नेह की ऊष्मा जान पड़ती थी। हरिया दुलार की गर्मी से पिघल कर फूट गया। बोला-"चौधरी, कसूर मुझ से बन पड़ा। पापी पेट सब करने को

(शेष पृष्ठ ६० पर)

लेखक

# अब मुलम्मा नहीं है !

श्री लाडली मोहन

मैंने सोच लिया था कि चाहे मेरी जान ही क्यों न चली जाय, पर इस बार पिता जी की इस आदत को छुड़ा कर ही मानूंगा।

मानता हूं कि उनकी शहर में इज्जत है। उनकी गणना शहर के प्रसिद्ध रईसों में की जाती है। वह एक विद्यालय के मन्त्री हैं, दूसरे के प्रधान। शहर में उनकी कई कोठियां हैं, कारें हैं। उनको देखकर लोग खड़े हो जाते हैं, परन्तु यह सब धोखा है। वास्तविकता को बड़ी बुद्धिमानी से छिपा कर रखा गया है। यह सब ऐसा ही है, जैसे मिट्टी की दीवारों पर चूने का प्लास्टर कर दिया गया हो या एक शहर की विधवा दूसरे शहर में सधवा का ढोंग रच रही हो।

पिता जी ने सारी कोठियों पर कर्जा ले रखा है। कमाई का कोई साधन नहीं। केवल किराया आता है। सारांश यह कि न कर्जा चुकाया जा सकता है, न ब्याज दिया जा सकता है और यह कर्जा केवल इसलिये किया गया है कि वे पुराने रईस हैं और एक जमाने से चली आई उनकी रस्में टूट न जाएं।

होली की शाम को बड़ा कमरा सजाया जा रहा था। शहर के अन्य रईस इन खोखली दीवारों का सहारा लगायेंगे। विधवा सधवा के रूप में शृंगार करेगी। मुलम्मे पर मीना किया जायेगा। साहू साहब के घर पर उनके मेहमान आयेंगे। रातभर अंगूर की बोतलें खुलेंगी, फिर छूम - छ- न -न होगी और रईसी की खोखली दीवारें और भी खोखली हो जाएंगी।
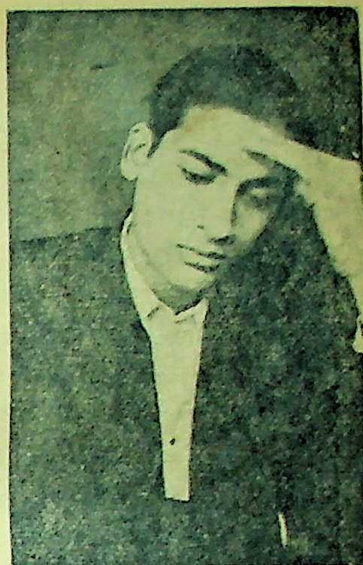
जिस समय शहर के विभिन्न स्थानों पर होली मंगलाई जा रही थी, मैं एक अन्धेरे बाग़ में खड़ा हुआ साहस एकत्र कर रहा था। रिहर्सल कर रहा था कि किस प्रकार उन नाचने वालियों से कहूंगा—"निकल जाओ यहां से ! क्या बदतमीज़ी फैला रखी है !!" और कई

बार रिहर्सल कर लेने के बाद जब मैं जलता हुआ लौटा, तो वास्तव में महफिल हंस रही थी।

मैं धीरे-धीरे महफिल के बीच में पहुँच गया। पिता जी आंखें बन्द किए वाह वाही सूचक सिर हिला रहे थे। एक सज्जन एक हार हाथ में लिए बैठे थे, जिसमें रुपये के नोट पिरोए हुए थे। कुछ क्षण मैंने नाचने वालियों का नाच देखा, जैसा डाक्टरों का मिक्शचर होता है। बेवकूफों ने भरत-नाट्यम्, ओरियन्टल और कत्थक सब को मिला कर एक कर रखा था। साथ में बेहूदे हाव-भाव, मेरी घृणा चोटी पर पहुँच गई और मैं चिल्ला पड़ा—"निकल जाओ यहां से!"

एक दो मिनट के लिए सब भौंचक्के रह गये। पिता जी मुझे देख कर खड़े हुए। स्थिति समझने का उन्होंने प्रयत्न किया और फिर वे मुझे धुनने लगे। मेहमान लोग हें-हें करते हुए मुझे बचाने को दौड़े, पर वे मुझे इस प्रकार बचा रहे थे कि मैं और पिटूं। पिता जी डाट रहे थे—"यह क्या बदतमीजी है। तुझे यह भी अक्ल नहीं कि कहां कैसा व्यवहार करना चाहिए! बड़ा चला है सुधारक का बच्चा!"

तब अन्तिम लात मारकर उन्होंने मुझे हाल के बाहर खदेड़ दिया, जहां से नौकर मुझे दूसरे कमरे में ले गए।

और मुझे अक्ल आ गई! मैं सोचने लगा कि वास्तव में मैंने गलती की। भला नाचने वालियों का इसमें क्या दोष था? उन्हें बुलाया गया, वे आगईं। नहीं, मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था। जो यह सब कुछ कर रहे थे, उन्हें प्रताड़ित करना चाहिये था। मैंने एक अच्छे काम का आरम्भ गलत तरीके से किया।

भूल ज्ञात होते ही मुझे फिर जोश आ गया। समाज में पिटने पर आदमी बेशर्म हो जाता है। मैं एक जोश के साथ फिर वहां जा पहुँचा। इस बार का दृश्य पहले से भिन्न था। एक मेहमान महोदय नर्तकी के कत्थक नृत्य के साथ ताण्डव नृत्य कर रहे थे। दूसरे तीसरे की पीठ पर ताल दे रहे थे। चौथे पांचवे की सिगरेट सुलगा रहे थे। छठे आनन्द में विभोर हो, अपने शरीर को इस प्रकार की लहर दे रहे थे, मानो ऊंट पर सवार हों। जगह जगह छालियां बिखरी हुई थीं।

मैं उनके बीच में खड़े होकर भाषण देने लगा—"बुजुर्गो, यह बड़े शर्म की बात है कि आप लोग—"

मगर मैं अपनी बात पूरी करूं कि उससे पहिले ही पिता जी मेरी गर्दन पकड़ कर मुझे एक कमरे में ले गए और उसमें मुझे बन्द कर ताला लगा दिया और चीखते चले गये—'मेरी सारी इज्जत कम्बख्त ने धूल में मिला दी। भला अपने घर आने वालों का कहीं इस प्रकार अपमान किया जाता है? बदतमीज, जाहिल कहीं का!!'

कई बार इस विषय को लेकर पहिले भी पिता जी से मेरी झड़प हो चुकी थी। अब मैं सोचने लगा कि यह भी उचित नहीं हुआ। वास्तव में मुझे मेहमानों का अपमान नहीं करना चाहिये था, पिता जी नहीं मानते न सही, लेकिन मुझे कहना केवल उन्हीं को चाहिए था,

उन्हीं को मजबूर करना चाहिये था, पर क्योंकि मैं जानता था कि वे इस प्रकार नहीं मानेंगे, मैंने यह सब किया था। अब मैंने एक तीसरे तरीके पर विचार किया। बहुत सोचने-विचारने के बाद एक पत्र तैयार किया और सुबह दरवाजा खुलते ही मैं तीर की तरह कोठी के बाहर निकल गया। दौड़ता हुआ मैं एक स्थानीय दैनिक पत्र के सम्पादक के यहां पहुँचा और वह पत्र मैंने छपने के लिए दे दिया।

पत्र पढ़ कर सम्पादक ने नीचे मेरे हस्ताक्षर कराए और कम्पोजीटर को वह दे दिया। पत्र ऊबड़ खाबड़ भाषा में इस प्रकार लिखा था :—

सावधान

मेरे पिता साहू माधवेन्द्र जी इस समय बुरी तरह कर्जे के जाल में फंसे हुए हैं। उन्होंने कई कोठियां गिरवी रक्खी हुई हैं, पर कोठियों का मालिक मैं हूँ वे नहीं, इसलिए कोई व्यक्ति उनको कर्जा न दे। वह न कर्जा चुका सकते हैं, न ब्याज दे सकते हैं।

साहू माधवेन्द्र जी का पुत्र
महेन्द्र

मैं घरों से भाग जाने वाले लड़कों में नहीं हूँ, इसलिये इतनी बड़ी हरकत करने के बाद भी मैं घर ही पहुँचा। पिता जी अपने कमरे में इस समय आराम कर रहे थे। बाहर रंग फेंके जा रहे थे। शोर मच रहा था। मैं अपने स्टडी रूम में जाकर पुस्तकों से चिपट गया। लगभग चार-पांच घन्टे बाद ही घर की शान्ति में एक तूफान आ गया। पिता जी दहाड़ रहे थे, जैसे गोली लगने पर शेर दहाड़ता है—"निकाल

○ नाम और काम में सामंजस्य हो, यह आवश्यक नहीं है—लक्ष्मीनारायण क्या भीख नहीं मांगते ?

○ लाडली मोहन अपनी वृत्तियों में लाडला, तो कृतियों में मोहन; यों नाम और काम में यथार्थवादी, तो अपनी साहित्य-दृष्टि में भी यथार्थवादी !

○ नए भारत का आरम्भ अन्धकार और निराशा में हुआ था। गत वर्षों में आशा का अरुणोदय हुआ है। हमारे साहित्य में इसका स्वरूप है—अपने चारों ओर बहते जीवन का निरीक्षण-सर्वेक्षण और उसकी कुरूपता में स्वरूप सृष्टि की आकुलता !

○ हिन्दी के स्कैचों और संस्मरणों में इसकी जगमगाहट है और इस जगमगाहट को नई पीढ़ी के जिन तरुणों ने आत्मसात किया है, उन्हीं में एक नाम है—लाडली मोहन !

○ लाडली मोहन; स्वभाग में सरल, विचारों तरल और विषमताओं के लिए गरल और यों नई पीढ़ी का एक होनहार और प्यार के लायक तरुण, जिससे अच्छी उम्मीदें करना जरूरी और वाजिब दोनों !

दो सूअर को। मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता। आज मैं इसे जान से मार डालूंगा। गधे ने शहर में मेरी फजीहत की है। अखबारों में मेरा नाम उछाला है। यह मेरा बेटा नहीं, दुश्मन है!"

वे दहाड़ते हुए मेरे कमरे में आए, परन्तु इस बार लात घूसों से उन्होंने मेरी मरम्मत नहीं की, केवल कान पकड़ कर जीने तक खींच लाये और धक्का दे दिया—"निकल जा यहां से!" धक्का जोर का था, मैं बिना किसी पैड़ी पर पैर रक्खे ऊपर से नीचे आगया। फलस्वरूप मेरा सर फट गया और मुझे हस्पताल पहुँचाया गया।

हस्पताल में जिस समय आंखें खुलीं, पिता जी बराबर की कुर्सी पर बैठे हुए थे। वे बड़े प्यार से मेरे सर पर हाथ फेर रहे थे। लगता था, जैसे वे अपने कार्य पर पश्चात्ताप कर रहे हों। दो एक सज्जन और भी बैठे हुए थे। उन्होंने बताया कि चोट अधिक नहीं है, शाम तक अस्पताल से छुट्टी मिल जाएगी।

× × ×

अब पिता जी ने सब कोठियां बेच दी हैं। कर्जे वालों का कर्जा चुका दिया है। नौकरों की तन्खवाहें दे दी हैं। जो कुछ दस पांच हजार रुपया बचा, उसे लेकर वह शहर छोड़ दिया है और नए शहर में नए सिरे से जिन्दगी शुरू की है, जहां की दीवारों पर प्लास्टर नहीं है, जहां विधवा अपने असली रूप में है और अब गिलट पर चांदी का मुलम्मा नहीं है।

---

( पृष्ठ १५ का शेष )

"जी नहीं, कहा नहीं कि छोटी सी जगह है। यहां बर्फ का क्या काम, पर पानी तो नये घड़े का है। क्या ठण्डा नहीं है?"

साहब ने बिगड़ते हुए कहा—"खाक ठण्डा है। बिल्कुल अदहन जैसा रक्खा है।"

फिर वे तुनक कर खड़े हो गए। अचानक उनका हाथ गिलास में लगा और वह पत्थर के फर्श पर गिर कर चूर-चूर हो गया।

वे दो ही कदम बढ़े थे कि फिर वही सधी हुई आवाज कानों में आई—"खाया-पिया कुछ नहीं, गिलास फोड़ा; ६ आने!"

साहब बहादुर काउण्टर पर छः इकन्नियां पटक कर, कटे हुए कनकौए की तरह आगे बढ़ गये और जलपान-गृह हंसी में गूंज उठा।

# वे दस मूर्ख और ये हज़ारों समझदार!

श्री रामेश्वरदयाल दुबे

संस्कृत की दशम न्याय कहानी आपने सुनी है ? यदि नहीं, तो लीजिये, मैं आपको सुनाता हूँ —

एक बार दस आदमी यात्रा करने निकले। रास्ते में एक बड़ी नदी पड़ी। सबने तैर कर उसे पार किया। उस पार पहुँचने पर सबने सोचा—एक बार गिन लेना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि कोई डूब गया हो।

फिर क्या था, गिनाई शुरू हुई। एक ने गिना—एक, दो, तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ, नौ! ओं? यह क्या? हम तो ९ ही रह गए। अब तो गया है। हम अब नौ रह गये हैं।

यात्री ने गिनकर देखा कि वे अब भी १० हैं, पर अपने को ९ कह रहे हैं? यात्री ने कहा—"अच्छा, मेरे सामने गिनो।"

एक ने गिनना शुरू किया—"एक, दो, तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ और यह नौ।"

यात्री ने देखा—गिनने वाले ने अपने को गिना ही नहीं है। यही गलती सब ने की होगी। यात्री ने उन्हें उनकी गलती बता दी और दस के दस आदमी गिन लिये।
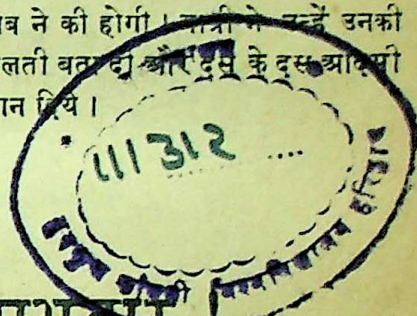


सब के दिल में डर पैदा हो गया। शंका दूर करने के लिए सबने ही गिना, पर परिणाम वही—केवल नौ। सबको विश्वास हो गया कि हम में से एक नदी में डूब गया है। वे रोने-धोने लगे। उनके मन को एक ही विचार मथ रहा था कि जो डूब गया है, उसके घर वालों के सामने कौन-सा मुंह लेकर जाएंगे?

इतने में एक यात्री उधर आ पहुँचा। उसने सबके रोने का कारण पूछा। उसे बताया गया कि हम लोग घर से दस चले थे, पर एक नदी में डूब

संस्कृत की यह पुरानी कहानी यहाँ समाप्त होती है, परन्तु आज की नई कहानी यहीं से प्रारम्भ हो जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि वह कहानी दस मूर्खों की थी, और यह कहानी है १० से कहीं अधिक समझदारों की।

× × ×

बेचने से पहले गेहूँ में मिट्टी और कंकड़ियां मिलाने वाला व्यापारी किसान जब मंहगे दामों पर भी खरीदे कपड़े को बहुत कमज़ोर पाता है, तब दो गालियां देने के बाद कहता है—"लूट

मचा रखी है। मजबूत सूत लगाते इन की नानी मरती है। दाम कस कर लेंगे और सड़ा कपड़ा हाथ में थमा देंगे। ईमानदारी तो अब जैसे रही ही नहीं।"

× × ×

चप्पल और जूतों के तले के भीतर चमड़े के स्थान पर मिट्टी-कागज भरने वाला मोची जब दूध वाले से दूध खरीद कर देखता है कि उसमें दूध से अधिक पानी है, तब वह कलियुग को कोसता हुआ कहता है—"लोगों को ईश्वर का भी डर नहीं रह गया है। बारह आने सेर दूध देते हैं और उसमें आधे से अधिक पानी। ऐसा धन जोड़ कर क्या यह सुखी होंगे?"

× × ×

दो मन से अधिक सामान को एक मन से कम बताने वाला, पांच वर्ष की लड़की को ३ वर्ष से १ माह कम बताने वाला, १५ साल के लड़के को अभी केवल ११ वर्ष का बच्चा बताने वाला यात्री जब टिकट चेकर द्वारा पकड़े जाने पर ५-७ रु० रिश्वत में देकर छूट जाने पर घर पहुँच कर स्त्री से बात करता है तब टिकट चेकर को अपना 'साला' बनाकर कहता है—"फिजूल में ५-७ रु० पड़ गए। लाख कहा कम्बख्त ने एक न सुनी। जाने कितना हराम का खाते हैं। सरकार को धोखा देते हैं कमीने कहीं के।"

× × ×

स्थानीय कन्या पाठशाला में श्रमदान विषय पर वादविवाद था। अध्यक्षा का स्थान एक श्रीमती जी ने ग्रहण किया। अखबारों की रिपोर्ट से पता चला कि वादविवाद के अन्त में श्रीमती जी ने श्रमदान विषय पर बहुत ही अच्छा सारगर्भित भाषण दिया। ये श्रीमती जी मेरे एक मित्र प्रोफेसर की पत्नी हैं। उस रोज़ प्रोफेसर साहब से मिलने उनके घर गया था। मैंने आवाज दी और बरामदे में पड़ी कुर्सी पर बैठ गया। सुनता क्या हूँ कि अन्दर महाभारत मचा है:—

"बीमार हो गई होगी, इसीलिये बेचारी नहीं आई होगी।"

"जी, बीमार होगई होगी! तुम्हीं ने महरी को सिर पर चढ़ा रखा है। आये दिन बीमार! अब ये बर्तन कौन साफ करे? झाड़ू कौन दे? तुमने तो कह दिया बीमार होगई होगी बेचारी!"

"इसमें नाराज होने की क्या बात है? कभी-कभी अपना काम खुद भी करना पड़े, तो अपनी तैयारी रहनी ही चाहिये।"

"हाँ हाँ, कह देने में क्या लगता है, पर मुझ से यह सब कुछ नहीं होने का। अब यही बाकी रह गया है कि बर्तन माँजूं, चक्की पीसूं।"

इस महाभारत का संजय तो मुझे बनना नहीं था, इसलिये मैं चुपके से उठकर चल दिया। मैं चला जा रहा था और प्रश्न जमकर दिमाग में बैठ गया था कि श्रमदान पर श्रीमती जी का सारगर्भित भाषण और महाभारत

का यह दृश्य, दोनों में गांठ कैसे लगे?

× × ×

घर में खिड़कियां बनाई जाती हैं, हवा-प्रकाश आने के लिये, मगर इन खिड़कियों से घर का कूड़ा-कचरा ठीक सड़क पर फेंकने वाले जाने कितने भद्र लोगों को आपने भी म्युनिसपैलिटी की गन्दगी के बारे में आलोचना करते सुना होगा।

× × ×

आज की इस नई कहानी के आप भी एक पात्र होंगे। आप स्वयं ही अपना अन्तर-निरीक्षण कर लें। लेखक भी अपने को इसका एक अंग मानता है। हम सभी, जब दुनिया की, समाज की, शहर या गांव की आलोचना करने बैठते हैं, तब ठीक संस्कृत की कहानी के उन दसों मूर्खों की तरह अपने को गिनना भूल जाते हैं।

आप पूछेंगे—संस्कृत की कहानी में एक यात्री ने आकर समस्या को हल कर दिया था, आज की कहानी में भी तो किसी को आना चाहिए।

आपने ठीक कहा और मैं आपको बताऊं, यहां भी एक यात्री, हाँ, एक महान यात्री आया था और आकर चला भी गया। उसने हमारी आंखों में उंगली डालकर हमें समझाया था। जीवन के किस क्षेत्र पर उसने प्रकाश नहीं डाला? किस समस्या के स्थायी हल की ओर संकेत नहीं किया? मगर हम हैं कि चिकने घड़े—कितना ही पानी डालो, रूखे के रूखे!

हम सभी पहले आलोचक बने हुये हैं, पीछे और कुछ। जब पूछा गया कि—"तुम आलोचना सभी की करते हो, कभी अपने को भी देखा है?" तो आलोचक जी उत्तर दे सकते हैं—"दूसरों की आलोचना करने से अवकाश ही नहीं मिलता—अपनी ओर कब देखें?"

उत्तर, उत्तर के लिये भले ठीक हो, परन्तु जीवन का सत्य तो यही है कि हम जब गिनें, तो उसका आरम्भ अपने से करें।

---

> जिसने अपने वास्तविक स्वरूप को जान लिया उसने ईश्वर को जान लिया। —अज्ञात
>
> हम पृथ्वी से तो परिचित हैं, पर अपने अन्दर के स्वर्ग से बिल्कुल अपरिचित हैं। —गांधी

# जीवन के झरोखे से

## वर्षगांठ और शा

जार्ज बर्नार्डशा को अपनी वर्षगांठ मनाना बहुत नापसंद था। वे चिढ़ते थे कि कोई उन्हें बूढ़ा होने की याद दिलाए।

उनकी वर्षगांठ पर उनका कोई भी अन्तरंग मित्र उनसे मिलने नहीं आता था। जो बधाइयां बाहर से आती थीं, उन्हें वे पढ़ना तो दूर, अक्सर देखते भी न थे।

वे कहा करते थे—"बूढ़ा होने पर बधाई पाने की इच्छा रखने वाला कोई बेवकूफ ही होगा।"

९२वीं वर्षगांठ पर भूल से 'अफ्रीकन टाइम्स' में उनकी मृत्यु का समाचार छप गया, तो उन्होंने सम्पादक को तार दिया था—"जी, मैं अभी मृत नहीं, अर्धमृत हूं। कृपा कर भूल सुधार कर दीजिए!"

## नेहरू जी की चुनौती

भारत के प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू की चुनौती है कि मैं अपनी उम्र के किसी भी व्यक्ति से किसी भी विषय में प्रतिद्वन्द्विता के लिए तैयार हूँ। मैं १०० गज़ से १ मील तक की दौड़ में अपने हम-उम्र किसी भी व्यक्ति का मुकाबला करने को तैयार हूँ। यदि कोई तैराकी में मुकाबला करना चाहे, तो भी मैं तैयार हूं। यदि कोई घुड़सवारी की चुनौती दे, तो मैं घुड़सवारी के लिये भी तैयार हूँ। मैं हमेशा शरीर को ठीक और मज़बूत रखने का हामी रहा हूँ। मुझे दुर्बलता और कमज़ोरी से बड़ी घृणा रही है। कमज़ोरों के साथ मेरी कोई सहानुभूति नहीं है। बहुत से लोग बीमार रहना बड़प्पन का चिह्न समझते हैं। मैं चाहता हूं कि सभी युवक बलवान और स्वस्थ रहें। शारीरिक स्वास्थ्य के बिना मानसिक विकास सम्भव नहीं।

## कलाकार और श्रम

उस समय की बात करते हुए जब कि वे सिने जगत की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अभिनेत्री थीं, देविका रानी ने कहा कि उनके स्वर्गीय पति श्री हिमांशुराय, जिन्होंने बाम्बे टाकीज़ की स्थापना की थी, एक बहुत प्रभावशाली व्यक्ति और कठोर अनुशासन प्रिय थे।

जब देविका रानी को सैट पर अभिनय करने से अवकाश मिलता था तो वे उनसे कहते थे—अब तुम्हारा यहां कोई काम नहीं रह गया। जाओ और गुसलखाने का फर्श साफ कर डालो। बेकार बैठना ठीक नहीं है।

उनके इस आदेश पर लावण्यमयी देविका रानी को क्रोध और आश्चर्य

होता था, लेकिन उनको हिमांशुराय के आदेशानुसार सभी काम करने पड़ते थे। झाड़ू लगाना, कपड़े धोना, मेज़, कुर्सी पोंछना इत्यादि।

देविका रानी ने बताया कि एक दिन जब वे 'अछूत कन्या' में प्रधान स्त्री-भूमिका अभिनीत कर रही थीं, तो उन्होंने कहा कि अपनी भूमिका के संवाद को याद करते हुए हमेशा की तरह काम करती रहो। इस बात पर उनको इतना गुस्सा आया कि आवेश में वे उनके आफिस में तेज़ी से घुस गईं और पट-कथा को मेज़ पर पटक कर बोलीं—'आप मुझ से अच्छा अभिनय करने की आशा कैसे कर सकते हैं, जबकि मुझको इतने दूसरे भी काम करने पड़ते हैं। मैं ऐसे जीवन से ऊब गई हूं। लीजिये अपनी 'स्क्रिप्ट' और मैं चली। मैं अब काम नहीं करूंगी।'

हिमांशुराय ने अपनी तारिका पत्नी की ओर घूर कर देखा और कहा—'तुम एक कलाकार हो और संसार में तुमसे तुम्हारी अभिनय-कला कोई छीन नहीं सकता।'

फिर एकाएक उनके मुख पर उदासी छा गई और जो बात उन्होंने देविका रानी से कही, उसको देविका रानी ने बहुत दिन बाद समझा। राय ने उनसे कहा—'मैं तुमसे कहीं पहिले मर जाऊंगा और तुम यहां अकेली रह जाओगी। इससे पहिले कि यह बात घटित हो, मैं चाहता हूं कि तुम इस बीच में स्वावलम्बी बन जाओ। तुम में हिम्मत और बुद्धि दोनों ही हैं। तुम अपना काम शुरू कर दो समय बहुत कम है।'

यह बात सुनकर देविका रानी अवाक् रह गई और राय से माफी मांग कर कमरे से बाहर जाने लगी। जैसे ही वे दरवाजे के पास पहुंची कि राय ने कहा—'यहां आओ। तुमको मालूम होना चाहिए कि एक कलाकार अपनी स्क्रिप्ट के बगैर बाहर नहीं जा सकता। मेज पर से अपनी पटकथा उठालो और चुपचाप अपने काम में लग जाओ।

---

यदि तुम दुनिया भर की गन्दगी और पापों से बचकर वास्तविक जीवन निर्माण करना चाहते हो तो खूब दृढ़ता पूर्वक काम करो, चाहे तुम्हारा काम अस्तबल साफ करना ही क्यों न हो।

—थोरो

# यों ही गीत न बन पाते हैं !

श्री शान्तिस्वरूप 'कुसुम'

○

यों ही गीत न बन पाते हैं !

गीतों में देनी पड़ती है मेरे दोस्त, बड़ी कुर्बानी,
सिर्फ कल्पनाओं से ही तो इनमें आती नहीं रवानी,
पत्नी को मयके भिजवा कर भी क्या प्रीत जताई जाती,
बिना प्रीत के भी गीतों की कड़ियें कहीं उठाई जातीं ?
अरे, गीत लिखने वाले तो सर पर बांध कफन आते हैं ;
यों ही गीत न बन पाते हैं !

मुंह बिचका कर, यह-वह कहकर सबको आज हँसा सकते हो,
बिजली के खम्भों पर भी तुम छन्दों को लटका सकते हो,
बैंगन और चुकुन्दर जैसे लिखने को 'सब्जैक्ट' बहुत हैं,
पास तुम्हारे यारों, ये कवि-सम्मेलन के 'टैक्ट' बहुत हैं,
पर इनसे ही क्या स्वर्गों से उतर सुरों के दल आते हैं ?
यों ही गीत न बन पाते हैं !

एक ज़माना था जब तुमने आज़ादी की लड़ी लड़ाई,
एक ज़माना था जब तुमने दुनिया भर में धाक मचाई,
गई गुलामी, तुम्हें मुबारक, पर क्यों बन्द हुई कविताई ?
आज़ादी आई क्या भाई, भूल गए सारी चतुराई,
उठे जनाज़े अब देखो कवियों - कविताओं के जाते हैं,
यों ही गीत न बन पाते हैं !

और करोगे क्या, है ही क्या, ये ही नए प्रयोग करोगे,
कहीं घास के फूल, नीम के फूल, ठुंठ से बात करोगे,
सच कहता हूँ बाज़ीगर के और सीख लो जादू टोने,
नहीं मिलेगी कहीं निराशा और न होंगे ये दिन दोने,
जादू से दिल क्या पत्थर भी पानी पानी हो जाते हैं,
यों ही गीत न बन पाते हैं !

लीडर यदि बीमार पड़ें, तो तुम्हें फुरहरी-सी है आती,
खबर ठीक की मिल जाने पर मनमें उथल-पुथल मच जाती,
अभिनन्दन ग्रन्थों का युग है तुमसे अब फिर कौन बचेगा,
मुख्य पृष्ठ पर नहीं, न सही, अरे, कहीं तो नाम छपेगा,
ये आकर्षण, आकर्षण क्या हम जिनको ग़म बतलाते हैं;
यों ही गीत न बन पाते हैं !

कहकर गीत बेचने वालो गीतों का अपमान करो मत,
व्यर्थ कैंचियों से भावों का यों आदान प्रदान करो मत,
रोज़ देखता हूँ, सुनता हूं, जाने इसमें कौन भलाई,
कहीं किसी का ब्याह, किसी का लगन, खड़े तुम लिए बधाई,
नाम कमाने को क्या ऐसे-ऐसे ही गुर अपनाते हैं;
यों ही गीत न बन पाते हैं !

बहुत सुन चुके, बहुत कह चुका, एक बात अब मेरी मानो,
बन्द करो ये कागज-पत्तर मत अपने को सब कुछ जानों,
क्या होगा कलमें घिसने से, क्या होगा हेरा फेरी से,
जब कविता का कोष लुटा था, तब तुम आये थे देरी से,
इसमें किस का दोष, बाद वाले तो यों ही पछताते हैं;
यों ही गीत न बन पाते हैं !

---

# गाँधी जी का पृष्ठ

१९२५-२६ की बात है। श्री कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी द्वारा स्थापित साहित्य-संसद ने गुजरात साहित्य परिषद के अधिवेशन को निमंत्रित किया था। मुंशी के विरोधियों को भय था कि इससे मुंशी का प्रभाव बहुत बढ़ जाएगा। मुंशी जी सर रमण लाल देसाई को सभापति बनाना चाहते थे, तो विरोधियों ने गाँधी जी का नाम उपस्थित कर दिया। उनका विश्वास था कि मुंशी इस का विरोध करेंगे और इस प्रकार से गुजरात में मुंशी को गाँधी विरोधी कहकर लांछना दे सकेंगे—नीचा कर सकेंगे।

मुंशी ने इस दाव को समझा और वे चुपचाप गांधी जी के पास जा पहुंचे। सारी स्थिति समझा कर उन्होंने गांधी जी से कहा—"धृष्टता क्षमा कीजिएगा। आप सभापति बनेंगे, तो शोभा की दृष्टि से तो परिषद् का कार्य सुन्दर हो जाएगा, परन्तु विद्वानों का तेज अस्त होगा और उनके हृदय पर चोट लगेगी। परिणाम यह होगा कि न संगठन हो सकेगा, न शब्द रचना के नियम बन सकेंगे और जय राम जी की करके हम अपने घर का रास्ता लेंगे।"

गांधी जी तुरन्त इस से सहमत हो गये—"यह मुझे मालूम है कि मैं जहां जाता हूं, वहां दूसरों के लिये अनुकूलता नहीं रहती।"

मुंशी जी ने अवसर का उपयोग किया—"अहमदाबाद में आप और रवीन्द्र बाबू इकट्ठे हुए थे, इसलिए परिषद के साहित्यकार फीके पड़ गये थे।"

बातचीत का उपसंहार गान्धी जी ने यों कर दिया—"हाँ, तुमने मेरे प्रति बहुत विनय प्रदर्शित की। मुझ पर विश्वास न होता, तो तुम इस प्रकार न आते।"

फिर भी मुंशी जी ने कहा—"मैंने जो कुछ कहा, उसका बुरा न मानियेगा।"

गांधी जी ने अपनी बातचीत के तीनों गुण—व्यंग, प्रेरणा और भोलापन—एक वाक्य में भर कर कहा—"ज़रा भी नहीं। जिस प्रकार स्पष्टता और शुद्ध मन से तुमने यहाँ वकालत की, उस प्रकार तुम कोर्ट में करते हो, तो तुम्हारे समान उच्च प्रकार के वकील मुझे बहुत नहीं मिले।"

गान्धी जी ने पत्र लिखकर परिषद का सभापति बनने से इंकार कर दिया।

श्री मुंशी के शब्दों में—यदि मनुष्य स्वधर्मशील हो, तो उसका आदर मान करने को गान्धी जी तैयार रहते थे और श्रीमती लीलावती मुंशी के शब्दों में—यही मनुष्य ऐसे व्यवहार की कद्र कर सकता है।

(पृष्ठ ११ का शेष)
दिया, तो पूछा—कौन हैं आप ?

मैंने अपना नाम उन्हें बताया—प्रभाकर ! करूं भी क्या, उपनाम ही मेरा नाम होगया है और वही मुझे बताना पड़ा।

"सेठ जी भीतर हैं, अपना नाम बताइये, तो हम उन्हें कहदें।" फोन से फिर प्रश्न हुआ और मैंने फिर अपना उपनाम बताया—प्रभाकर। सुनते ही वे बोले—"क्या कहा—टमाटर ?"

अपने सम्बोधन में हरेक आदमी जीवन में बहुत कुछ सुनता है, मैं भी सुनता ही रहता हूँ, पर यह सुनना सचमुच कुछ सुनना था और सच बताऊँ आप से, सुनते ही मैं तो हंसते-हंसते लोट पोट हो गया और टेलीफोन रख देने के सिवा मुझे कुछ न सूझा, पर कहानी का क्लाइमेक्स अभी बाकी है। थोड़ी देर के बाद सेवकराम जी से फोन मिला, तो पूछा—अरे भाई, ये कौन थे फोन पर, जो मुझे टमाटर बना रहे थे ?

वे भी जोर से हंसे और तब बोले—"भाई साहब, वे हमारे रसोइया जी थे। बात यह है कि उनकी रसोई में आप तो कभी आते नहीं, पर टमाटर रोज आते हैं, अब आप ही बताइए कि प्रभाकर की जगह वह टमाटर को याद करते हैं, तो क्या बुरा करते हैं ?"

सुनकर मुझे भी इतने जोर से हंसी आई कि टेलीफोन रख देने के सिवाय कुछ और नहीं सूझा, पर तभी खुल गई मेरे सामने रामचरण जी के आग्रह की बात कि वे मेरे अग्रलेख को महत्व न देकर सिनेमा चलने को महत्व क्यों दे रहे थे ?

क्यों दे रहे थे ? वही तो कह रहा हूँ। बात यह है कि हम जो चाहते हैं, वह चाहने लायक है या नहीं, इसे भूल जाते हैं और भूल क्या जाते हैं चाह का चाव हमें दूसरी बात पर ध्यान ही नहीं देने देता, क्योंकि ध्यान का आधार है सम्पर्क, पर जब कोई बात अपनी गहराई से अपनी सचाई और हमारी चाह के बीच में आकर खड़ी होती है, हमें अपने बारे में सोचने को मजबूर करती है, तब सचाई और गहराई के उस तकाजे को टालने के लिये हम एक ढाल का प्रयोग करते हैं और वही ढाल है, अजी, क्या रक्खा है इन बातों में !

जीवन भी एक अद्‌भुत यन्त्र है, अजीब मखमसा है। इसमें बहुत-सी चीजें हैं जिन्हें हमने कभी नहीं देखा और कभी नहीं जांचा, पर हम उन्हें १०० नहीं सवा सौ फीसदी सच मानते हैं। ऐसी ही एक बात है कबूतर और बिल्ली की। कहते हैं जब कबूतर अपने मजे में गुटर गूं लगा रहा हो और एक डरावनी बिल्ली कहीं से बचती सिमटती अचानक उसके सामने आ कूदे, तो तै है कि बिल्ली नहीं, मौत ही छाती पर आ कूदी।

अक्ल की मांग है कि कबूतर अब एक भी पल खराब न करे, अपने पर तोले और झपाके से यों उड़े कि श्रीमती बिल्ली देवी जी देखा करें टुकर टुकर और मांजा करें अपनी ही जीभ से अपने होठ, जैसे रसगुल्ला किसी बच्चे के ओठों से

लगकर नीचे की गन्दी जमीन पर आ गिरा हो, पर नहीं, कबूतर जी न तोलेंगे पर और न लेंगे उड़ारी, बस अपनी जगह जरा सिमटेंगे और आंखें करेंगे बन्द, और समझे आप कि समझेंगे यह कि न अब हम दीख रहे हैं देवी जी को और न कुछ कर सकती हैं हमारा वे।

कहते हैं जब आदमी सोता है, उसकी अक्ल तब भी जागती रहती है। तो अब उनकी अक्ल उनकी इस समझदारी पर हंसेगी और कहेगी उनसे कि भले आदमी, ज़रा आंख की दोनों नहीं, तो एक ही पुतली को टिमटिमा कर देख, यमराज अपना पंजा साध रहा है बौड़म, पर जानते हैं आप कि कबूतर जी क्या कहेंगे यह बात सुनकर ?

वे कहेंगे बस यह कि अजी, क्या रखा है इन बातों में और बस ज़रा और सिमट जाएंगे वे महाशय, जैसे स्वयं ही अपनी रोटी का एक ग्रास, चपाती का एक लुक्मा बना रहे हों। यह दुनियां रोटी का ग्रास बनाने में वैसे ही बहुत होशियार है, फिर जब कोई स्वयं ग्रास बनने में सहायता-सहयोग देने लगे, तो क्या कहने-कड़वी और नीम चढ़ी। पता नहीं बिल्ली और कबूतर की इस बात में कितनी सचाई है और कितनी नहीं, पर मेरी आप मानें तो इसे सच मान लें और सच भी सचमुच १०० फी सदी।

अपनी बात कहूँ आपसे ? मैंने तो पिछले साल से इसे पूर्ण सत्य मान लिया है और यह काम किसी खंडहर या वीराने में नहीं, भारत की राजधानी के चहल-पहली कनाट प्लेस में एक बैंच पर बैठे-बैठे किया था।

"क्या किया था आपने कनाट सर्कस में बैठकर ?" यह आप पूछ रहे हैं और मैं कह रहा हूं आपसे कि कनाट सर्कस में बैठकर मैंने इसे १०० टका सच मान लिया था कि एक ऐसी भी दवा है जिसे खाकर आदमी भय को, खतरे को सामने देखकर भी आंख मीच सकता है और मान सकता है कि अब कोई भय नहीं रहा।

"ऐं! क्या कहा कि ऐसी कोई दवा है कि जिसे खाकर आदमी सामने के भय को भूल सकता है ?"

"हां, जी, आपका प्रश्न सही है, सच है, काम का है और मैं कहता हूँ कि हां, एक ऐसी दवा है और लीजिए बताऊं आपको कि वह दवा ऐसी नहीं कि गोविन्द अत्तार पुड़िया में बांध दे या केमिस्ट किचनर शीशी में घोल दे। वह दवा है ऐसी कि आप ही घोलें और आप ही पियें। वो दवा है यह ज्ञान कि अजी क्या रखा है इन बातों में और इस ज्ञान का साक्षात्कार मुझे कनाट सर्कस में हुआ था।

बात यह हुई कि मैं कनाट सर्कस में एक बैंच पर बैठा ताज़ी हवा ले रहा था कि मेरे पास ही सड़क पर एक मोटर टैक्सी रुकी और उसका ड्राइवर और यात्री दोनों गुत्थम गुत्था होने लगे। लड़तों के बीच में आ कूदना और लड़ाई को असम्भव कर देना, मेरा स्वभाव है और स्वभाव न समय देखता है न स्थान। मैं भूल गया कि मैं परदेस में हूँ और जा पहुँचा युद्ध क्षेत्र में।

पहला निशाना बिठाया मैंने ड्राइवर पर—"अपनी सवारियों से ही लड़ते हो

भैया ?" बोला—"बाबू जी, जब सवारी नाकू हो जाय तो क्या करें ? सुबह आठ बजे इन्होंने टैक्सी ली और कुतुब मीनार और जाने कहां कहां ले गये। अब ९ बजे गाड़ी छोड़ रहे हैं, तो कहते हैं कि किराये के रुपये मेरे पास नहीं हैं।"

यात्री साहब भपक कर बोले—"अजी, क्या रक्खा है इन बातों में। लो हटो, अब हमें जाने दो। दो चार दिन में फिर मिलेंगे और न मिले, तो यार, कयामत के दिन अपना हिसाब कर लेना।"

यात्री की यह बेफिक्री देखकर मुझे लगा कि ड्राइवर की बात झूठी है और बात यह नहीं कुछ और है, पर तभी तमककर ड्राइवर ने कहा—"कयामत के दिन नहीं, हिसाब तो मैं तुमसे अभी करूंगा।"

यात्री ने गुर्राकर कहा—"तो ले, अभी कर" और घूसा मारकर खिड़की का शीशा तोड़ दिया। मैंने उसे थपथपाया—"आखिर बात क्या है ? और ड्राइवर भाई की बात सही है, तो आपको इसके किराये के रुपये अभी देने चाहियें।"

नम्रता से वह बोला—'बड़े भाई, रुपये जब जेब में हैं ही नहीं, तो देदूं क्या इसे ?"

तो जब रुपये आपकी जेब में नहीं थे, तो आप दिन भर टैक्सी में क्यों घूमते रहे मेरे भाई ? मैंने पूछा तो वे तड़ाक से बोले—"अजी, क्या रक्खा है इन बातों में। भाई साहब, सुबह-सुबह ही दो फ्रेन्ड मिल गईं और कहने लगीं कि चलो घूमने। महीनों की मनहूसियत के बाद खुशी का यह मौका मिला, तो मैं कैसे इन्कार कर देता, भला आप ही बताइये कि क्या रक्खा है इन बातों में !"

उसकी बात सुनकर सच कहूं आपसे कि मैं मान गया कि कबूतर आंख मींचकर जरूर बिल्ली को भूल सकता है और यह दवा ऐसी है कि इसे खाकर आने वाला भय और खतरा पास नहीं फटक सकता। सौ खतरे हों, लाख भय हों, उन्हें सोचो मत—अजी क्या रक्खा है इन बातों में।

समय भी कभी-कभी अच्छी फुलझड़ियां छोड़ता है। जिस दिन ये यात्री जी मिले, उसके दूसरे ही दिन पत्रों में पढ़ा एक समाचार—

नैरोबी के घच्चू कमानी नाम के एक युवक को किसी की हत्या के अपराध में फांसी की सजा हो गई। घच्चू के वकील ने कहा था कि यह काम उससे नशे में हो गया, पर जजों का मत था कि नशे में होते हुए भी उसे इस काम के बुरा होने का पूरा पूरा भान था।

"तुम इस बारे में क्या कहना चाहते हो ?" जब जज ने घच्चू से पूछा, तो कुछ देर तक छत की ओर देखने के बाद वह बोला—"हां, कुछ ठीक है, कुछ बेठीक है, पर जज साहब, क्या रखा है इन बातों में, यह चाय का समय ठीक है।"

तो क्या हमारे राम चरण जी और क्या कबूतर जी, क्या हमारे यात्री जी और क्या घच्चू कमानी, सब की बातों में एक बात है कि क्या रक्खा है इन बातों में।

तो ठीक है क्या रक्खा है इन बातों में, आइए अब आराम करें।

( पृष्ठ १४ का शेष )
मजबूर करता है अब तो पंचभइया मुझे छिमा करदें ।"

चौधरी तड़पे—"पंचभइया तब छिमा करेंगे, जब पचास रुपया डण्ड हरिया भरेगा और पचास मुरारी । पंच राजा हैं, वो जिस काम में चाहेंगे, उस रुपये को डाल देंगे ।"

पंच फैसला सुनते ही मुरारी तो विद्रोही हो गया । पचास की लम्बी गिनती ने उसे भयभीत कर दिया था । कांधे से गिरता हुआ मैला अंगौछा सम्हालता वह उठ खड़ा हुआ और विद्रूप से बोला "पचास क्या पांच सौ दूंगा मैं ! ऐसे जीभ पटक दी. जैसे मेरे घर में नोट छपते हैं । ऐसे पंच गए भाड़ में ।"

बड़बड़ाता—लपकता मुरारी पंचायत से उठ गया ? और चौधरी ने अन्तिम फैसला सुना दिया—"मुरारी बिरादरी से खारिज किया जाता है । उसका हुक्का पानी बन्द । आज से जो कोई उससे चलन-व्यवहार करेगा, सोई बिरादरी का दण्ड भरेगा ।"

हरिया ने पचास रुपया दण्ड भरना स्वीकार कर लिया, लेकिन श्यामू और उमराय की तरफ़ किटकिटाती निगाहों से घूरता रहा, जैसे खून का घूंट पीकर रह गया हो । वह खिसिया गया था । बिरादरी के बीच उसकी पगड़ी धूल हो गई थी और बात दो कौड़ी ।

भराभर जवानी के दिन ! मसें भीग कर स्याह हो रही हैं और बाजुओं के ऐंठन बढ़ते ही जाते हैं । हरिया के मनमें रील चल रही थी । श्यामा ने आज उसकी धूल कर दी । अब कैसे कोई लड़की वाला उसके द्वार झांकेगा ! लम्बी सांस लेकर उसने दण्ड के पचास रुपये गिने और चौधरी के सामने फेंक दिए । चौधरी ने हुकुम दिया—"श्यामा अब हरिया के हाथ से खा ले ।"

हरिया ने कौर उठाया और श्यामा के मुंह में दे दिया । उसकी झिझक बे-नक़ाब हो चुकी थी । सब पंचों ने भोग लगाया और डटकर पत्तलों में पूड़ियाँ फाड़ीं गईं ।

कौर चबाते-चबाते हरिया श्यामा के लिए सबको सुनाकर कह उठा "कभी नाव गाड़ी पर और कभी गाड़ी नाव पर ।"

श्यामू के मुंह से भी निकल गया "करम राजा है ।" सबने खा-पीकर कुल्ली की और बीड़ियां जलाई जाने लगीं । चिलमें भी चल पड़ीं । कोई चला गया, कोई-कोई बैठ गए ।

ठीक-से बात आगे जुत भी न सकी थी कि गली से गुज़रते श्यामू पर मुरारी ने सूंतकर लाठी छोड़ दी । मुरारी के जोड़िया हरिया ने उधर रूपा की दूकान के सामने उमराय के कन्धे में सोटा पिला दिया ।

दोनों को केंड़ा लाला कान्सटेबिल थाम ले गया । श्यामू और उमराय भी पिटकर जीते से साथ चले गए । भीड़ उनका जुलूस देख रही थी । मुरारी पंचों को गालियां क़तरता जा रहा था लेकिन हरिया लगातार एक ही वाक्य कह रहा था "श्यामू दादा ब्याज खाइके मोटे हो रहे हैं, सो इन्होंने बिचारे पंच पिटवा डाले और हमें पुलिस में ले जा रहे हैं ।"

पुलिस कुछ भी करे, पंचायत का फैसला अटल है ।

# नया जीवन

सम्पादक

कन्हैया लाल मिश्र 'प्रभाकर'



सितम्बर १९५५ मूल्य ६ आने

रामू और श्यामू दो सगे भाई,
रामू स्वभाव का कड़वा,
श्यामू शान्त सज्जन,
दोनों का परिवार समृद्ध !

एक दिन रामू ने क्या कुछ कहा,
कि श्यामू भी बेकाबू होगया,
दोनों में मुकदमेबाज़ी छिड़ी,
और दोनों बरबाद हो गए !

## स्वभाव का मिठास जीवन का वरदान है ।

## सदा मीठे रहिये !

आरम्भ — —१९४०



### जरूरी जानकारी

प्रकाशन का समय—महीने की पहली तारीख है।

यदि 'नयाजीवन' ७ तारीख तक आपकी सेवा में न पहुँचे, तो समझिये आपका अङ्क कोई दूसरे सज्जन पढ़ रहे हैं और कार्यालय को कार्ड लिखिए।

वर्ष भर का चन्दा (विशेषांक सहित) पांच रुपये और एक कापी का छः आने है।

ह्वीलर और गुलाबसिंह एन्ड सन्स के रेलवे बुकस्टालों पर और शायद आपके नगर की एजेंसी पर भी 'नयाजीवन' मिलता है।

लेखकों से उत्तर या रचना की वापसी के लिये टिकट न भेजने की प्रार्थना है।

हर तरह के पत्र-व्यवहार का पता—विकास लिमिटेड, सहारनपुर यू० पी० है।

ग्राहक चाहे जिस अङ्क से बन सकते हैं, जनवरी से बनने में फाइल ठीक रहती है। पत्र व्यवहार में ग्राहक नं० अवश्य दें।

'नयाजीवन' में उन चीज़ों के ही विज्ञापन छपते हैं, जिनसे देश की समृद्धि स्वास्थ्य और पूर्णता बढ़े।

विज्ञापन के रेट विज्ञापक की शक्ति के अनुसार लिये जाते हैं और यदि विज्ञापक साधन हीन होने पर भी देश के लिए आवश्यक निर्माण कर रहे हों, तो बिना शुल्क भी छपते हैं।

आलोचना के लिए प्रकाशक बन्धुओं से पुस्तकों की एक-एक प्रति भेजने की प्रार्थना है। यदि आलोचना कार्यालय से बाहर के किसी विद्वान से करानी आवश्यक हुई, तो लिखकर दूसरी प्रति मंगा ली जायेगी।

विचारों का विश्वविद्यालय

# नया जीवन

भारत की अनेक राज्य-सरकारों द्वारा स्वीकृत

सम्पादक

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

सहकारी

अखिलेश ● एस० कविता

हमारा काम यह नहीं है—कि इस विशाल देश में बसे चन्द दिमागी ऐय्याशों का फालतू समय चैन से काटने के लिए मनोरंजन साहित्य नाम का मैख़ाना हर समय खुला रक्खें !

हमारा काम तो यह है—कि इस विशाल देश के कोने-कोने में फैले जन-साधारण के मन में विशृङ्खलित वर्तमान के प्रति विद्रोह और भव्य-भविष्यत् के निर्माण की भूख जगायें !

मुद्रक

विकास प्रिंटिंग वर्क्स, सहारनपुर

प्रकाशक

विकास लिमिटेड,

सहारनपुर, उत्तरप्रदेश

२२/६

# कहां, क्या, किसका ?

## कहानी-संस्मरण-स्केच


रोजगार ६
श्री ज़ोय अंसारी
सहारा कार्यालय, दिल्ली

लोक-सभा के अधिवेशन में १४
श्री विश्वनाथ भटेले
इकदिल जिला इटावा

इम्फाल में १७
श्री रघुराज गुप्त
भारती-भवन, देहरादून


## जीवन-निर्माण


इन्कार कैसे कर दूँ ? १५
कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर

आइंस्टीन के विचार १६


## जीवन-परिचय


यह हैं-आग़ा हश्र काश्मीरी १२
श्री गंगाप्रसाद माथुर
२६२८, छत्ता प्रतापसिंह
किनारी बाजार, दिल्ली

रतनलाल बंसल—
एक जलती-जागती मशाल ! ३७
श्री विश्वनाथ भटेले
इकदिल, इटावा


## हमारे बालक


अपने बालकों के
स्वयं दुश्मन न बनिये ! ४३
श्री देव शर्मा एम. ए.
२, भगवानदास छात्रावास
हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस ५


## कविता-गद्य-काव्य


मैं माली हूँ ३
श्री जयकुमार 'जलज'
३ जैन होस्टल,
प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रेम और मृत्यु ४
श्री मोरेश्वर रामपल्लीवार
डा० विंग्ले का बंगला
माया रोड, धर्मपेठ नागपुर म० प्र०

एक दिवस का ही परिचय है ४१
श्री पुरुषोत्तम खरे
१५१, फूटाताल, जबलपुर म० प्र०

विचार और सम्मति ५
सफलता का रहस्य २४
अपने पढ़ने के कमरे में ३१
गांधी जी का पृष्ठ ३६
नये लेखकों के सम्बन्ध में ४५
जीवन के झरोखे से ४७

# मैं माली हूँ !

श्री जयकुमार 'जलज'

★

मेरी खुशियों के साथ दिवाली चलती है,
दीपावलियों से बँधी नहीं मेरी खुशियाँ,
मेरा पथ मेरे चरणों का अनुगामी है,
पथ पर निर्भर रह सकी नहीं मेरी गतियाँ,
दुःखों के ये उच्छ्वास मिटा मुझको देंगे ?
मैं मोड़ दिया करता हूँ, जब तूफानों को,
ये शाप परिस्थिति के मेरा क्या कर लेंगे,
मैं तो ठुकराया करता हूँ वरदानों को !

मुझको प्यारे मिट्टी के मनुज खिलौने हैं
बालक-सा चिपटूँगा उनके रूखे तन से,
जिस तरह हृदय से श्वास लिपटती रहती है,
बन प्यार लिपट लूँगा उनके भूखे मन से,
अपने श्रम के अधरों का रक्त पिला दूँगा,
अपने आदर्शों के भूखे अरमानों को,
ये शाप परिस्थिति के मेरा क्या कर लेंगे,
मैं तो ठुकराया करता हूँ वरदानों को !

मैं माली हूँ चुपचाप न बैठा रह सकता,
जब पत्ता-पत्ता ही उपवन का सूखा है,
मैं सपनों में, तर्कों में उलझ नहीं सकता,
जब मेरी भू का कण-कण, क्षण-क्षण भूखा है,
मुझको छवि के ये स्वर्ग सकेंगे बाँध नहीं,
ठुकरा दूँगा यदि आयें तो निर्वाणों को,
ये शाप परिस्थिति के मेरा क्या कर लेंगे,
मैं तो ठुकराया करता हूँ वरदानों को !

★
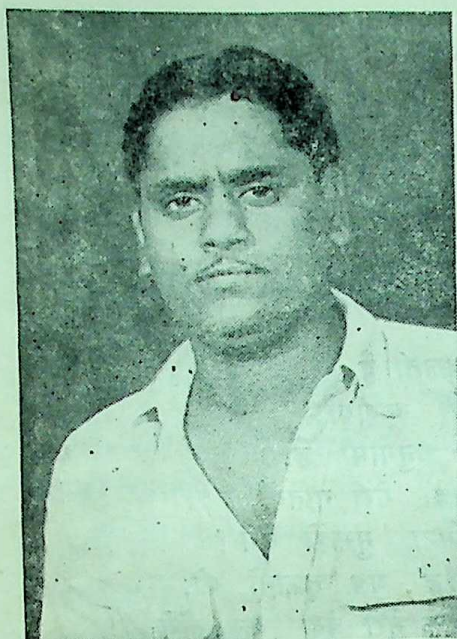
लेखक

# प्रेम और मृत्यु !

श्री मोरेश्वर रामपल्लीवार

●

द्रष्टा ने यमुना के किनारे रहने वाले युवकों से कहा—"देखो, मुझे यमुना के किनारे प्रेम के पदचिन्ह दिखाई देते हैं और नदी के नीले जल में उस का प्रतिबिम्ब भी।"

उन युवकों ने उसे पागल समझा और यमुना के किनारे बिखरे हुए पत्थरों से मार भगाया।

× × ×

कई वर्ष बीत गए अब यमुना के अमर प्रेम का प्रतीक भव्य ताजमहल खड़ा हो चुका था।

द्रष्टा फिर घूमता-फिरता यमुना के किनारे आ पहुंचा। उसने देखा—कुछ प्रौढ़ व्यक्ति ताज महल के सामने सिर झुकाये बैठे हैं।

पूछा—"तुम लोग क्या कर रहे हो यहां ?"

एक व्यक्ति ने उसकी ओर विचित्र दृष्टि से देखा और कहा—"क्या तुम ताजमहल को नहीं देख रहे हो ? यह अमर प्रेम का प्रतीक है। उसका प्रतिबिम्ब यमुना के नीले जल में दिखाई देता है और हम उसे सिर झुका रहे हैं-सम्मान दे रहे हैं।"

द्रष्टा ने कहा—"हां, यमुना के किनारे पद-चिन्ह अवश्य दिखाई देते हैं, पर वे एक के नहीं, दो के हैं और नीले जल में प्रतिबिम्ब भी दो हैं, एक नहीं।"

उसने सोचा—हे भगवान ! जब तक प्रेम के साथ मृत्यु न चले, इन्हें उसके पदचिन्ह क्यों नहीं दिखाई देते और जब तक प्रेम पर मृत्यु की छाया नहीं फैल जाती, इन्हें उसका प्रतिबिंब क्यों नहीं दिखाई देता ?

और वह जोर से हंस उठा।

पवित्र वातावरण को भंग करने के अपराध में उन लोगों ने उसे किनारे के पत्थरों से फिर मार भगाया...... ।

# विचार और सम्मति

## राष्ट्र-निर्माण के लिए

कांग्रेस - अध्यक्ष श्री उच्छरंगराय नवल शंकर ढेबर ने इस प्रश्न पर गहरा चिन्तन किया है कि राष्ट्र के निर्माण के लिए भारत में आजकल कौन-सी शक्तियां काम कर रही हैं ?

वे कहते हैं, ये शक्तियां हैं—भारत का संविधान, कांग्रेस - संगठन, योजनायें, नेहरू जी का व्यक्तित्व और भारतीय जनता में कुर्बानी की परम्परागत शक्ति।

श्री ढेबर का विश्वास है कि जनता इन शक्तियों के प्रभाव को समझ गई है और आगे चल कर वह इस सचाई को और अधिक समझेगी।

## क़दम बढ़ रहे हैं

सिन्दरी के रासायनिक खाद कारखाने में १९५५ की पहली छमाही में १ लाख ५४ हजार १ सौ २१ टन (एक टन २७॥ मन) अमोनियम सलफेट—वैज्ञानिक खाद—तैयार हुआ। यह पिछले साल की पहली छमाही से २६ हजार ४ सौ ६६ टन ज्यादा था।

१९५५ की पहली तिमाही में सिलाई की मशीनें २१ हज़ार ५ सौ १६ बनी थीं। इससे पहली तिमाही में यह संख्या १८ हजार ५ सौ १२ ही थी।

भारत के कदम हर दिशा में उन्नति की ओर बढ़ रहे हैं और अब यह कहना एक सचाई है कि १९६२ तक हमारा देश चहुंमुखी निर्माण के कारण ताजगी और समृद्धि से भरपूर हो उठेगा।

## रात की दावतें

दिल्ली राज्य के स्वास्थ्य मंत्री श्री डाक्टर युद्धवीरसिंह जी ने देश के लोगों को एक अच्छी सलाह दी है—"यदि आप स्वास्थ्य कायम रखना चाहते हैं, तो रात की दावतों का बहिष्कार कीजिये। रात को खाना कुदरत का विरोध करना है। रात की दावतें बन्द होनी चाहिये और सच तो यह है कि हमारा नारा ही यह होना चाहिए कि—समय पर सोना, समय पर उठना, समय पर खाना।"

आशा है हमारे देश के पढ़े और बड़े लोग अपनी निशाचरी-वृत्ति को कम करने की दिशा में सोचेंगे।

## गांवों में बिजली

गांवों में बिजली पहुँची कि भारत में नया युग चमका। पहली पंचवर्षीय योजना के अनुसार अभी तक ५००० गांवों में बिजली पहुँच चुकी है और १९५६ के साल तक ६५०० गावों में पहुंच जायेगी।

दूसरी पंचवर्षीय योजना के पूरे होने तक लगभग १२००० गावों में बिजली पहुँच जायेगी।

यह गति धीमी मालूम होती है, पर यह हम क्यों भूलें कि यह निर्माण की गति है, खाली पुलाव का पकना नहीं और यह निर्माण शून्य से आरम्भ हुआ है।

## श्री अलीअकबर खां

श्री अलीअकबर भारत के प्रसिद्ध

सरोद वादक हैं और श्री चतुरलाल तबला वादक। ये दोनों रूस क्या गए, भारत की कला का झण्डा गाड़ आए। यह कहना सच है कि आगे चलकर प्रधानमंत्री नेहरू की इस यात्रा को जो महत्व मिला, उसकी दागबेल भारत के कलाकार ही डाल आये थे।

श्री हावर्ड टाबमैन ने न्यूयार्क टाइम्स में इन कलाकारों के कला-प्रदर्शन पर लिखा था-"भारत का वादन-कौशल हमारे लिए उसी प्रकार दूर है, जैसे एक दूसरा युग। राग-रागनियों के वाहन का यह कौशल सजीव भारतीय कला के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया और रागों की उड़ान पर तबले की संगत ऐसी जमकर हुई कि श्रोता बहुत प्रभावित हुए। खास बात यह कि भारतीय संगीत वाद्य से अपरिचितों को भी यह बोध हुआ कि ये कलाकार आचार्य हैं। राग न समझने वाले भी उसकी लयहारी उड़ान और टुकड़ों पर झूम-झूम उठते थे।"

## एशिया का सबसे बड़ा पुल

अलमोड़ा जिले में लधिया नदी पर जो बेखम्भे का पुल बनाया गया है, वह एशिया में बेखम्भे का सबसे बड़ा पुल है। इस पुल के बन जाने से नैपाल और तिब्बत को जाने वाली टनकपुर-पिथौरागढ़ रोड पर अब बारहों महीने यातायात हो सकेगा।

यह पुल नदी के जल से ६० फुट ऊँचा है और इसके प्रति वर्ग फुट में १० टन बोझ सहने की ताकत है। यह सड़क हमारे देश के फौजी जीवन में बहुत महत्व की है, इसलिए इस पुल से आम जनता की समृद्धि के मार्ग तो खुले ही हैं देश की सुरक्षा-शक्ति भी बढ़ी है।

पुल का उद्घाटन करते हुए उत्तर-प्रदेश के निर्माण मंत्रीश्री विचित्रनारायण शर्मा ने बताया कि अभी पिछले दिनों में उत्तरप्रदेश के निर्माण विभाग ने २० पुल बनाकर तैयार किये हैं और पौने दो करोड़ की लागत से १४ पुलों का निर्माण हो रहा है। दूसरी पंचवर्षीय योजना में जो पुल उत्तरप्रदेश में बनाने का संकल्प है, उनकी लागत ७ करोड़ रुपया होगी।

राष्ट्र के निर्माण का वह भवन कितना विशाल है, यह पुल जिसके नन्हें नन्हें अंश मात्र हैं?

## पहेलियां-भविष्यवाणियां

'हरिजन सेवक' के सम्पादक श्री मगन भाई देसाई ने पत्रों में प्रकाशित होने वाले शब्दव्यूहों—पहेलियों- और राशिफलों के सम्बन्ध में निम्न विचार प्रकट किये हैं। देश के शासकों और विचारकों का ध्यान उन पर जाना चाहिये।

आधुनिक व्यापार-उद्योग एक ऐसी चीज बन गया है कि न करने जैसे काम भी वह आदमी से करवाता है। दूसरी दृष्टि से अच्छे प्रामाणिक मालूम होने वाले लोग भी मुनाफा, आमदनी या व्यापार-रोजगार की बात आते ही बदल जाते हैं। वैसे भी व्यापार में झूठ के बिना काम नहीं चलता, यह एक कहावत ही बन गई है। उसमें अर्वाचीन युग ने ऐसी बात जोड़ दी है, जिसकी वजह से यह चीज और भी जटिल तथा अटपटी बन गई है।

उदाहरण के लिए, अखबार चलाना

जनता की सेवा का एक काम माना जाता है, लेकिन यह धंधा भी है और ऐसा धंधा कि उसे चलाने के लिए जिन चीजों में हमारा विश्वास नहीं होता, उनका विज्ञापन लेने में भी कोई हर्ज नहीं माना जाता। यह धंधा ऐसा होगया है कि विज्ञापन के बिना चल ही नहीं सकता और विज्ञापन आज के व्यापार-उद्योग का अनिवार्य साधन माना जाता है। विज्ञापन की विद्या का विकास किया गया है, जिसका सार यही है कि किसी भी तरह ग्राहकों को उल्टी-सीधी पट्टी पढ़ाकर अपना माल बेच खाना। अखबार उसका वाहन बनकर खुद भी खूब नफा कमाते हैं।

इसके अलावा, दूसरे दो साधन भी अखबारों ने खड़े किए हैं। एक है शब्द-व्यूह और दूसरा ज्योतिष। मेहनत किए बिना मालामाल हो जाने की लोगों की उत्कृष्ट लालसा का लाभ उठाकर ये दो युक्तियां आजमाई जाती हैं। आर्थिक तंगी और बेकारी के जमाने में इन युक्तियों की सफलता के लिए लोगों में अनुकूल भूमिका तैयार मिलती है। इसमें शिक्षित और अशिक्षित का कोई भेद नहीं रहता। शायद शिक्षित लोग इसके जाल में पहले फंसते मालूम होते हैं।

शब्दव्यूह से होने वाली हानि आज काफी स्पष्ट हो गई है। उसके विरुद्ध लोगों का प्रकोप जाग उठा है। इसमें कैसी बरबादी होती होगी, इसकी एक अन्दाज पर से भी कल्पना की जा सकती है। मान लीजिए कि एक शब्दव्यूह के लिए तीन लाख के इनाम बांटने की घोषणा की गई है। अगर यह अन्दाज लगाएं कि पांचेक लाख कूपन भरे जाने पर खर्च निकालकर तीन लाख के इनाम बांटे जा सकते हैं, तो कूपन भरने वालों की संख्या कितनी मानी जाये? इतनी बड़ी संख्या में इनाम की आशा रखना कैसी मूर्खता और व्यर्थता है, लेकिन लाखों, निराशाओं में भी अमर आशा छिपी रहती है, वाली कहावत यहां भी लागू होती है।

अब ज्योतिष का विचार करें। अखबारों में राशिवार साप्ताहिक फल का पत्रक दिया जाता है। एक राशि में लाखों लोग हो सकते हैं, सब के लिए वह पत्रक एक सा फल कहे, इसका अर्थ क्या? यह फल लिखने वाले लोग भी ऐसी भाषा का उपयोग करते हैं, जिस का अर्थ वह ही जानें, लेकिन लोभी और महत्वाकांक्षी लोगों की ज्योतिष पर जो आस्था होती है, उसका लाभ उठाकर अखबार राशिफल के भी पृष्ठ भरते हैं और उनकी अच्छी बिक्री हो जाती है। क्या इस पर भी कर नहीं लगाया जाना चाहिए? काश प्रेस कमीशन ने इस पर भी विचार किया होता!

शब्दव्यूह की बला यहां तक बढ़ गई है कि उसके साचरी काम के लिए मिलने वाले पैसों के लोभ में बड़े-बड़े पंडित और प्रोफेसर भी पड़ गए हैं। ऐसे भी दावे किए जाते हैं कि यह शब्दव्यूह बौद्धिक और साहित्यिक मनोरंजन प्रदान करते हैं। इस कारण गुजरात यूनिवर्सिटी की सिनेट में इस संबंध में यह प्रस्ताव रखा गया था—

"गुजरात यूनिवर्सिटी की सिनेट की यह सभा सारे सिनेट सदस्यों से, यूनि-

वर्सिटी के समस्त अधिकारियों से तथा यूनिवर्सिटी के साथ जुड़े हुए महाविद्यालयों और यूनिवर्सिटी द्वारा मान्य की हुई विद्या-संस्थाओं के सारे आचार्यों और अध्यापकों से आग्रहपूर्वक अपील करती है कि वे शब्दरचना-प्रतिस्पर्धाओं से किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध न रखें।"

शिक्षण, साहित्य और संस्कृति आदि का काम करने वाली संस्था ऐसा नहीं कर सकती, यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु यूनिवर्सिटी का यह विषय नहीं जिस बहाने से यह प्रस्ताव रद्द मान लिया गया। इस तरह इस प्रश्न को टाला न गया होता तो अच्छा होता। अगर शब्दव्यूह का विषय गुजरात के शिक्षण जीवन को स्पर्श करने वाला न होता, तो उस में अध्यापकों को क्यों लिया जाता? वे ऐसा दावा तो नहीं करते कि शब्दव्यूह बुद्धिकी कसरत और साहित्यिक मनोरंजन हैं। प्रस्ताव सिनेट में आया, वही उस की काफी टीका मानी जानी चाहिए।

शब्दव्यूह के बारे में मेरे पास अनेक पत्र आते हैं। एक भाई लिखते हैं—बम्बई का एक अखबार लगातार तीन साल से घाटा उठाकर भी लोगों को व्यूह का खेल खिलाता है। वे भाई पूछते हैं, क्या घाटा उठाकर ऐसा करना ट्रस्ट का धर्म हो सकता है।

दूसरे एक पत्र-लेखक ने कुछ सूचनाएं दी हैं, जो ध्यान देने लायक हैं—

"जो अखबार शब्दरचना की प्रतिस्पर्धा में पड़े हों, उनका संपूर्ण बहिष्कार करने का जनता को आदेश दिया जाए। उन्हें विज्ञापन न दिये जाएँ और ग्राहक बनकर उन्हें आश्रय न दिया जाय—"

"सरकार का कहना है कि इस सम्बन्ध में कानून बनाने में एक वर्ष लगेगा, लेकिन इतने समय में तो जनता के करोड़ों रुपए इसमें स्वाह हो जाएंगे, जिम्मेदार नेता और कार्यकर्ता एक साल तक चुपचाप बैठे नहीं रह सकते, उन्हें इसके खिलाफ एक महान आंदोलन खड़ा करना चाहिए।"

"शब्द-रचना प्रतिस्पर्धा के प्रयोजक विद्वानों का सामाजिक बहिष्कार किया जाय।"

शब्दव्यूह के लिए लोगों में कैसा उग्र विरोध है, वह भी इन सूचनाओं से मालूम होता है। जो अखबार शब्दव्यूह चलाते हैं, उनके संचालक जल्दी से जल्दी जनता को इसका उत्तर दें कि इतना उग्र विरोध होते हुए भी वे किस लोकहित के खातिर शब्दव्यूह से चिपटे हुए हैं? व्यापार के लिए भी अमुक नैतिक मर्यादा तो होनी ही चाहिए। लोक मानस को पतन की ओर ले जाने वाले साधनों द्वारा भी व्यापार चलाने की नीति अखबारों को शोभा देने वाली नहीं मानी जा सकती।"

## वे अब न रहे!

देश के प्रकाण्ड विद्वान श्री अमरनाथ झा का देहान्त हो गया और उर्दू के तेजस्वी लेखक ख्वाजा हसन निजामी भी अब नहीं रहे। झा जी देश की एक शक्ति थे और ख्वाजा जी देश की एक शोभा। 'नया जीवन' दोनों के प्रति नत-मस्तक!

# रोज़गार

–श्री ज़ोय अन्सारी

सैयद 'इन्शा' ने अब से कोई डेढ़ सौ वर्ष पहले कहा था—

*नजीबों[1] का अजब कुछ हाल है*
*इस अहद[2] में यारो,*
*जहां पूछो, यही कहते हैं,*
*हम बेकार बैठे हैं।'*

सन् ४७ के बाद से यही हाल हमारे यहां का है।

बेरोजगारी का एक दौर १६२६ ई० से १६३२ ई० के संकट में भी आया था, मगर अब की बार हालत और भी बदतर हो गई है।

जब लोग कहते हैं कि बेरोजगारी आम हो रही है, तो मैं सोचता हूँ कि यह बात बिना शर्त न कहनी चाहिए।

बेरोजगारी सिर्फ उन लोगों में आम हो रही है, जो ईमानदारी से कुछ रोजगार करना चाहते हैं। जो मेहनत से रोटी खाना चाहते हैं, वे समझते हैं कि रोजगार के माने हैं काम और उसके दाम; वरना वैसे देखो तो रोजगार की क्या कमी है, अहसान है उस मालिक का!

जब कोई मरने लगता है, तो आस-पास के लोगों के लिये मुफ्त का एक काम निकल आता है। एक आदमी मरने वाले के सिरहाने सूरते यासीन[3] पढ़ेगा। जिनके यहां 'यासीन' नहीं है, उनके यहां दूसरी यासीनें हैं फिर कुछ लोग रोने के लिए बैठेंगे; कुछ अपने ऊपर रोने का मूड तारी करेंगे; कुछ बाजार को दौड़ेंगे कि 'किरिया-करम' का सामान लायें। कुछ दौड़ेंगे कि इस चल-चलाव के आखिरी क्षण में अपने अपने भविष्य का सामान करलें। कुछ दौड़ने वालों का हाथ बटाने के लिये दौड़ेंगे कि यह—

'रस्मे दुनिया भी है, मौका भी है, दस्तूर भी है।'

कुछ लोग पिछला हिसाब जोड़ेंगे, कुछ लोग आगे का हिसाब लगायेंगे। कुछ लोग कब्र खोदेंगे, कुछ कब्र खोदने वाले को बुलाने जायेंगे या अर्थी बांधेंगे, कुछ लोग जनाजे का बोझ उठायेंगे। कुछ ऐसे होंगे, जो जनाजे का साथ देने के लिए अपने शरीर का बोझ दूसरों से उठवायेंगे, कुछ होंगे कि स्वर्गीय या स्वर्गीया की फातेहा होने और पुलाव बंटने या ब्रह्म भोज होने का इन्तजाम करेंगे और कुछ उस दिन का इन्तजार।

एक आदमी के मरने पर इतने आदमियों को कुछ-न-कुछ काम निकल ही आता है। जरा हिसाब तो लगाओ

---

१–शरीफ़; २–युग ३–इस्लाम धर्म में कुरान शरीफ़ की एक सूरत-अध्याय–, जो हर मुश्किल को आसान करवाने के लिए पढ़ी जाती है। यहाँ तात्पर्य है रोगी के बिना पीड़ा प्राण छोड़ने से।

> जो आदमी अच्छे कामों का इनाम चाहे या बुरे कामों के नतीजे से बचना चाहे, वह बे-लगाव नहीं है और जो इबादत (पूजापाठ) में लगा रहे या मार्फत (ज्ञान) की चाह रक्खे वह भी खालिस अल्लाह की तरफ लगा हुआ नहीं कहा जा सकता। हां जिस किसी की इबादत और उसके काम अपने लिए नहीं बल्कि सिर्फ अल्लाह के लिए हैं, वही ईश्वर में लौ लगाये हुए कहा जा सकता है।
>
> —इमाम राज़ी

कि अगर एक पूरा समाज मर रहा हो, तो उसकी मौत कितने आदमियों के लिये काम पैदा कर देगी और उस हिसाब को तीन से गुणा करदो। मैं सोचता हूँ कि हमारे यहां आजकल जिन्दगी की तीन व्यवस्थायें मर रही हैं।

एक व्यवस्था तो वह है जो न जी रही थी, न बिल्कुल मर रही थी। यह है गुलामी के युग और सामन्ती-युग के बीच की हालत, जिसमें किसान न महज गुलाम होता है, न लगान अदा करके अपनी जमीन पर खेती का और अपनी मेहनत का पूरा मालिक और मुख्तार। यह व्यवस्था तो बस समझो कि दम तोड़ चुकी।

दूसरी व्यवस्था है सामन्तवादी। इसे अंग्रेज ने इन्जेक्शन दे-देकर जिंदा रखा और सच यह है कि इस व्यवस्था ने बहुत लम्बी उम्र पाई। पश्चिमी यूरोप की ठण्डी हवा में भी उनका हम-उम्र कोई न हुआ; मगर हमारे यहां की गरम जलवायु में अंग्रेजी इन्जेक्शन का असर उल्टा हो गया। उनकी बदौलत यहाँ सामन्ती युग अन्दर से घुल जाने के बावजूद अब तक अपनी प्रतिष्ठा और भ्रम बनाये हुए था।

देशी पूंजीवादियों ने आते ही सामन्तों से कुछ दुराव रखा। कुछ-कुछ सुलह, कुछ-कुछ अनबन; कुछ इकरार, कुछ इन्कार; जहां देखा एकता से काम चलता है, वहां एकजूट हो गये और जहां देखा कि उनकी प्रतिष्ठा देशी पूंजीवादियों को पनपने से रोकती है, वहां दोस्ती के परदे में उनकी शान किरकिरी करदी। आखिरी उम्र का यह सदमा बेचारे सामन्तों से न सहा गया और अब वे भी उल्टी सांसें ले रहे हैं। सिरहाने 'प्रिवी पर्स' रखी है; जनाजा धूम से निकलेगा।

तीसरी व्यवस्था की मौत 'मर्गे अम्बोह जाने दारद' (पूरे समुदाय या वर्ग की सामूहिक मौत में आनन्द आता है) वाला किस्सा है। यह पूंजीवाद है, जिसे जवान होने से पहले ही फेफड़ों की दिक और मौसम की प्रतिकूलता खा गई। पूंजीवाद बेचारे ने अभी यौवन भी नहीं देखा था कि आर्थिक संकट ने उसे दबोच लिया। इस नौजवान की मौत वास्तव में दर्दनाक और भयानक है।

ये तीनों व्यवस्थायें मर रही हैं।

पहले की अर्थी कसी जा रही है। दूसरे के सिरहाने यासीन या गीता पढ़ी जा रही है। तीसरे को जाँकनी की आसानी और सँभाला देने के लिये इंजेक्शन दिये जा रहे हैं। इन तीन मौतों ने कितने बहुत से आदमियों को रोज़गार दिलवा दिया है। जब मैं सोचता हूं, तो लाखों आदमियों का एक समूह मेरी आँखों के सामने घूम जाता है, जो तीन बड़ी-बड़ी व्यवस्थाओं की मौत और अंतिम क्षणों के काम में लगा हुआ है और कुदरती कामों का पटरा हो रहा है।

यह जमीन का लंबा-चौड़ा क्षेत्रफल है। अगर स्थिति अनुकूल होती, तो यहां धान के खेत लहलहा रहे होते और बच्चे उनमें आँख-मचौली खेल रहे होते। और अब क्या है? पाँच इमारतें, तीन झोंपड़े, एक खेत लुटा-पिटा।

एक इमारत पीर साहब का मज़ार है, दूसरी इमारत सेनीटोरियम। तीसरी इमारत बज़ाहिर खाली, अन्दर गोदाम। चौथी इमारत किरायेदारों के लिए, पाँचवीं इमारत अनाथालय और विधवा-आश्रम। पीर साहब का मज़ार यहाँ इसलिये क़ायम हुआ कि आस-पास के इलाके में किसी बुजुर्ग का मज़ार नहीं था; मज़ार कायम हुआ तो मजाविर (सेवक) आये; मजाविर आये, तो ज़्यारत करने वाले आये; ज्यारत करने वाले आये तो उनके साथ सौदा-सुलफ बेचने वाले आये, उनके बाद पीर साहब और उनके हालात की तारीख़ें (इतिहास) और 'क़सीदे' सुनाने वाले; फिर कव्वाल आये; फिर हार फूल, अगरबत्ती वाले पहुँचे। फिर गले में मालाएँ डालकर रास्ते पर बैठने वाले पहुँचे, फिर किस्मत का हाल बताने वाले भी आगये; फिर पीर साहब से ज़रूरतमंदों की सिफारिश करने वाले पहुंचे; फिर इन सिफ़ारिश करने वालों के ताजा मुरीदों (भक्तों) ने डेरा डाल दिया, फिर तमन्नाओं से भरे हुए जवान दिल पहुँचे और दुखी औरतें-लड़कियां पहुंचीं; फिर दोनों का जोड़ा बिठाने वालों ने खेमे लगा दिये; फिर वे आये जो 'इशरत' या 'यक गुना बेख़ुदी' का सामान जुटाते हैं; फिर वे जो इस सामान की निगरानी करते हैं; फिर वे जो मज़ार के बाहर वाले दरवाजे से ज़ियारत करने वालों के जूते चुराते हैं; फिर वे पहुँचे जो दूसरों

( शेष पृष्ठ ४८ पर )

हज़रत अली ने ख़ुदा के नाम पर अपने मुख़ालिफ़ को पछाड़ दिया। जब उसने अली के मुंह पर थूक दिया तो उन्होंने उसे क़त्ल करने का इरादा छोड़ दिया व उसकी छाती पर से उतर पड़े। मुख़ालिफ ने सबब पूछा तो बतलाया—पहले मैं ख़ुदा के काम के लिए तुझे कत्ल करना चाहता था, अब तूने जो मुझपर थूक दिया इससे मेरा व्यक्तिगत द्वेष उभर सकता है। इससे उत्तेजित होकर तुझे मारूंगा तो वह गुनाह होगा।

—हरि भाऊ उपाध्याय

# यह हैं आग़ा हश्र काश्मीरी !

श्री गंगाप्रसाद माथुर

यह लाहौर है—सन् १६३५, अप्रैल के महीने की तपती दोपहरी—हर तरफ गहरा सन्नाटा, हर चेहरे पर मुर्दनी, हर निगाह में बेबसी। ओह! यह क्या हो रहा है? ये दबी-दबी सिसकियाँ, ये आहें, ये टीसें—ये सब क्या हो रहा है? ये बेबस इन्सान आखिर किस कश्मकश में हैं? ये इनकी आंखों से आँसुओं की झड़ी क्यों लगी हुई है? ओह! यह रह-रह कर हाथ क्यों मल रहे हैं? क्या ......क्या कहा? आज नाट्य-कला का सुहाग लुट रहा है? आज आग़ा हश्र काश्मीरी अन्तिम सांसें ले रहा है...... पर, यह आग़ा हश्र काश्मीरी नहीं मर रहा, यह ड्रामा मिट रहा है। इसे बचाओ! —इसे बचाओ! बचाओ! लेकिन होनी को कौन बदल सकता है।

"दारा रहा ना जम,
ना सिकन्दर-सा बादशाह तख्ते-जमीं पे
सैकड़ों आए चले गए॥"

और हश्र को भी मौत के जालिम पंजे ने हम से छीन ही लिया—ज्याबीतुस का रोग बहाना बन गया।

यह अमृतसर है—आग़ा ग़नी शाह का घर—यह आग़ा ग़नी काश्मीरी हैं लेकिन शाल दुशालों के व्यापार के सिल-सिले में अमृतसर में बसे हुए हैं—एक मामूली हैसियत के व्यापारी इन्हीं के आँगन में घुटनों के बल घिसट-घिसट कर, इन्हीं की अँगुली पकड़ कर घर की चाहरदीवारी में घूमने वाला यह बालक आग़ा हश्र है, जिसे बाप एक चतुर व्यापारी बनाने के सपने देख रहा है लेकिन नियति उस पर हँस रही है ठट्ठे मार कर हँस रही है।

यह बनारस है—यह वही आग़ा ग़नी हैं, जवानी ढल चुकी है, व्यापार के चक्करों ने उन्हें अमृतसर से बनारस ला पटका है लेकिन वह अब पहले की तरह मुस्कराते इंसान नहीं हैं। क्यों! उनकी आखिरी आस भी टूट चुकी है। उनका वह बच्चा जिसे वह एक व्यापारी बनाने के सपने देख रहे थे, जिसे आला तालीम देने के लिए उन्होंने जी-जान से कोशिश की थी, पर नहीं है, वह स्कूल में नहीं पढ़ सका था। कारण स्कूल की खुश्क किताबों में उस जैसी रंगीन तबियत के लड़के का दिल नहीं लगा था—वह बाप के सामने चूर-चूर करके चला गया।

यह दिल्ली है—यह सुन्दर बालक, आगा गनी की दुनिया में अन्धेरा करके चला आने वाला हश्र ही तो है। लेकिन यह क्या? यह इसकी क्या हालत है? इस नानबाई की दुकान में भूठे बर्तन मांजने और मैले फर्श को साफ करने का काम इसके सुपुर्द है—लेकिन इसके

सिवा पेट भरने का और कोई दूसरा साधन भी तो नहीं—कई दिन के फाकों के बाद उसने यह नौकरी की थी। मुफलिसी क्या कुछ नहीं कराती इन्सान से ?

यह बम्बई है—यही वह जगह है जहां वक्त के अंधेरे गार से चमकता हुआ निकला नाट्य-कला की दुनिया पर छा जाने वाला ज्योतिपुन्ज—आगा हश्र काश्मीरी—जिसने लोगों की आंखों में चकाचौंध पैदा करदी, जिसके पहले नाटक ने ही लोगों के दिलों पर उसका सिक्का जमा दिया और जिसे पाकर नाट्य कला पुकार उठी—यही है मेरा सरताज !"

आगा हश्र काश्मीरी

'आफताने मुहब्बत'—कामयाबी की पहली सीढ़ी—इस पहले प्रयास को जनता ने सराहाया, हौसले बढ़े और हश्र ने अपनी कलम और अपने दिमाग को इसी के लिये वक्फ कर दिया। फिर एक के बाद एक नया नाटक—सारी बम्बई में आगा हश्र के नाम का तहलका मच गया। हश्र से पहले बम्बई में 'एहसन', 'सुखन' और 'शायक' जैसे प्रसिद्ध नाटककारों की धूम थी लेकिन हश्र ने इन सबको पीछे छोड़ दिया। बहुत जल्द 'अल्फ्रेड थ्येट्रिकल कम्पनी' ने उन्हें मशहूर नाटककार अहसन लखनवी की जगह मुन्शी रख लिया। कुछ अरसे बाद वह 'न्यूअल्फ्रेड कम्पनी' में चले गये। यहां भी उन्होंने बहुत से ड्रामे लिखे जिनमें 'दिलफरोश', 'शहीदे-नाज़', 'सैरे हवस', 'सफेद खून', 'सूरदास', 'गंगावतरण', 'बनदेवी', 'सीता बनवास', 'मधुर मुरली', 'श्रवण-कुमार', 'धर्मी बालक', 'भीष्म प्रतिज्ञा',

( शेष पृष्ठ ५२ पर )

# लोकसभा के अधिवेशन में

श्री विश्वनाथ भटेले

●

क़लम ! जरा जल्दी दौड़; क्योंकि कार्यवाही बहुत तेज़ है। कहना चाहिये, कार्यवाही हवा-सी बह रही है। यह लोक-सभा है।

हिन्दुस्तान की लोकसभा इसी का नाम है। दिल्ली की पार्लामेएट वालों ने इसका नाम उधार लेकर खुद को लोक-सभा भले ही कह लिया हो; लेकिन असली लोक सभा तो यही है, जिसकी रिपोर्टिंग मैं कर रहा हूँ।

इसमें एक बात पेश होती है, दूसरा सदस्य उस बात पर फैसला दे देता है और तुरन्त तीसरा सदस्य कोई नया प्रस्ताव रख देता है। दो घण्टे की बैठक में इस असली लोक सभा में सौ-दो सौ प्रस्ताव पेश-पास हो जाते हैं। सदस्यों पर टाइम की कोई पाबन्दी नहीं है। फिर भी लोक के ये प्रतिनिधि ज्यादा वक्त खराब नहीं करते। कोई सत्ताधारी पार्टी यहां नहीं है। इसलिए विरोधी दल भी नहीं है। यह लोक-सभा है। इसके सदस्य शुद्ध लोक-प्रतिनिधि हैं। लोकसभा का अध्यक्ष भी सदस्यों की बहस में सदस्य के ही समान हिस्सा लेता और रिमार्क देता है। गंगा की क़सम, सच कहता हूँ—लोकसभा के अध्यक्ष का चुनाव भी नहीं होता। अधिवेशन शुरू होने पर जो सदस्य सबसे ज्यादा तेजस्वी वाणी बोलता है, वही उस बैठक का अध्यक्ष मान लिया जाता है। जिसके कलेजे में ज्यादा तेज आग है, वही तेजस्वी बोल उगल सकता है--यह प्रकृति का नियम ही यहाँ मान्य है।

सदन के नेता लाला श्यामलाल हैं; जो विवाद को गति दिए रहते हैं। सदन के नेता होने के कारण उनका काम केवल यही है कि विवाद का तार टूटने न पाए। बस, हर बोलने का प्रयत्न करने वाले सदस्य को सदन का नेता उत्साह की थपकी देता है। यह भारत की लोकसभा है, सदियों पुराने संस्कार इस सदन की दीवारों पर लिखे से हैं और हज़ारों वर्ष पुरानी सांस्कृतिक परम्पराएँ सदस्यों की मर्यादा हैं। लाला श्यामलाल के सहन में रोज शाम को ब्यालू करके अलाव सुलग उठता है। सदस्यों का आना शुरू हो जाता है।

वह झम्मन सेठ आ रहे हैं, बग़लों में मुट्ठियां दबाए हुए ! इनके पास बारह बीघे सैरिया (बिना पानी की ज़मीन) है। एक लड़का है इनका, जो किराए पर बैलगाड़ी जोतता है। झम्मन सेठ सदन के सबसे पुराने सदस्य हैं। एक ईंट उठाकर अलाव के पास रखी और वह लीजिये झम्मन सेठ बैठ गए।

सदन के शाश्वत नेता लाला श्याम-

लाल ने पूछा—"आज क्या होता रहा दिन भर?" लाला की आवाज ऐसी हुलहुल, जैसे भरी गगरी एकदम उलट दी जाए।

सेठ बोले—"आज आबपाशी की कुर्की आई थी। बेशऊरों ने चकिया-चूल्हे कुर्क करा लिए।"

लाला की आवाज—अन्धेरनगरी बेबूझ राजा; टका सेर बर्फी टका सेर खाजा।" और हा-हा करके लाला ने अट्टहास का अबीर उड़ा दिया। लाला के अट्टहास अधिवेशन शुरू होने की घण्टी समझे जाते हैं। थाली में चार कौर छोड़कर चलते-चलते पानी पीती हुई लालाइन सहन में आगई। लाला ने एक बोरे का टुकड़ा अलाव के पास बिछा दिया। बैठते-बैठते लालाइन कहती गई—"सिरकार कंजड़ है, तभी तो चूल्हा-चक्की उठाती फिरती है। आग लगै सब दुख में, ज्यों-ज्यों बोट दिये त्यों-त्यों सरकार उपद्रव करने लगी।"

लालाइन पाल्थी लगाकर बैठ गईं और गोद में लिटाकर छोटी कन्या को दूध पिलाने लगीं। धोती ऊपर से ओढ़ ली।

वह काली चरन तेली, बिन्दू महाजन और तुल्ला चमार आ गए। उन्होंने लालाइन की बात की पूँछ सुन-समझ ली है। अब कोरम पूरा होगया है और सदन के नेता ने चिलम घुमा दी है, जैसे भत्ता बाँटा जा रहा हो। कोई सदस्य दस्तखत करके भाग न जाए, लिहाजा इस सदन में किसी रजिस्टर की व्यवस्था ही नहीं है।

तुल्ला बोला—"हमने तो तय कर

लेखक

लिया कि किसी को अब वोट नहीं देंगे। भेड़ पर ऊन कोई नहीं छोड़ता।"

बिन्दू ने पूछ लिया—"तो वोट को घर रख कर क्या होगा?" काली-चरण ने भी हाजिरी-सी लिखा दी—"वोट डालने जायेंगे ही नहीं। किसी के बाप के नौकर हैं क्या?"

लालाइन ने दखल दिया—"लेकिन चुनाव तो एक वोट से हुई जायेगा!"

सचमुच लालाइन आज सदन की अध्यक्षा हो गईं, क्योंकि पूरा हाउस इस बात पर मौन हो गया है। सदन के नेता लाला श्यामलाल ने रास्ता खोज निकाला—"वोट तो खूब देते रहो। सोच समझ कर देउ। लेकिन सिर्फ वोट देउ। नोट काऊ को न देउ। चाहे कुर्की हो या नालिश, नोट न देउ।"

सदन में हर्ष की एक लहर दौड़ गई। चेहरे खिल गये। सदस्यों ने महसुस किया कि बात ठीक है। झम्मन

( शेष पृष्ठ ५० पर )

# आइन्स्टाइन के विचार

## युद्ध

जब वे सिपाहियों को परेड करते देखते थे तो कहते थे कि भगवान ने इन लोगों को दिमाग बेकार दिया, केवल रीढ़ की हड्डी ही बस काफी थी।

आइन्स्टाइन का विचार है—'किसी के इशारे पर बहादुरी दिखाना, बेतुकी मार-काट करना और वह सब खुराफात जो राष्ट्रीयता या देश-प्रेम के नाम से की जाती है—उनसे मुझे इन्तहाई नफरत है। लड़ाई मुझको एक निकम्मी, घृणा-जनक चीज लगती है। ऐसे गन्दे कारबार में हिस्सा लेने के बजाय मैं यह ज्यादा पसन्द करूंगा कि मेरे बदन के कोई टुकड़े-टुकड़े कर डाले।"

## शान्ति

दुनिया में जब तक फौजें कायम हैं तब तक लड़ाई कायम रहेगी। सरकार इंसान के लिए बनी है, न कि इंसान सरकार के लिए।

ऐसे लोगों की तादाद बहुत थोड़ी है जो अपनी आँखों से देखते हैं और अपने ही दिल से महसूस करते हैं, लेकिन उनकी शक्ति ही इस बात का फैसला करेगी कि क्या इंसान की नस्ल उस लाचार हालत का शिकार हो जाय, जिसे एक ऊंचे झुंड ने आज एक आदर्श मान रखा है।

हमें इन्सानियत से नाउम्मीद नहीं होना चाहिये, क्योंकि हम खुद इंसान हैं और सन्तोष की बात यह है कि हमारे जैसे जानदार लोग अब भी मौजूद हैं जिन्हें किसी बात से घबराहट नहीं होती।

## सम्पत्ति

'मुझे पक्का विश्वास है कि दुनिया में कोई भी सम्पत्ति मानव-समाज को आगे नहीं बढ़ा सकती, चाहे वह सम्पत्ति इस काम में लगे नेक से नेक आदमी के हाथ में क्यों न हो। अच्छे विचार और उत्तम काम पैदा करने का एक ही रास्ता है—महान् और सत्पुरुषों के जीवन पर चलना। सम्पत्ति स्वार्थ को ही अपील करती है और अपने स्वामियों को वह उसके दुरुपयोग के लिए हमेशा ललचाती है।

क्या कभी भी कोई ऐसे मूसा, ईसा या गाँधी की कल्पना कर सकता है जिसकी पीठ पर कुबेर के बोरे लदे हों?

# इम्फाल में

श्री रघुराज गुप्त

भारत और पाकिस्तान के विभिन्न स्थानों की यात्रा करते हुए मैं ६ अप्रैल को मनीपुर की राजधानी इम्फाल पहुँचा और एक परिचित मनीपुरी परिवार में अतिथि हुआ। पांच दिन मनीपुर रहने के बाद मेरा आसाम जाने का इरादा था। आते ही मैंने अपने पुराने और आत्मीय बन्धु नरेन्द्र बरुआ को एक एक्सप्रेस चिट्ठी दी कि मैं १२ तारीख को गोलाघाट पहुँच रहा हूं, वह और अन्य स्थानों के लिए कुछ परिचय-पत्र भी। नरेन्द्र का समाचार भी मिल सकेगा।

आसाम यात्रा के लिए मैं एकांततः नरेन्द्र पर ही निर्भर था। वह कई बार मुझे आने के लिए निमन्त्रित कर चुका था। सारे ही आसाम में सभी स्थानों पर उसकी अच्छी जान पहचान थी। उसके अनेक रिश्तेदार बड़े बड़े पदों पर आसीन थे। अतः वहां तनिक भी

मुझे तार द्वारा सूचित करे कि वह घर पर ही है।

इम्फाल छोड़ने का दिन हो आया, पर नरेन्द्र का प्रत्याशित तार नहीं पहुँचा। मन में पहले तो यही संदेह हुआ कि शायद वह घर पर नहीं है। यदि होता तो अवश्य ही लिखता। यह भी हो सकता है कि उसे किसी कारण चिट्ठी न मिली हो। यदि वह न भी हुआ तो घर वाले ठहरने को स्थान तो देंगे ही तकलीफ की सम्भावना नहीं थी। मैं सर्वथा निश्चिन्त था।

पत्रोत्तर न आने पर भी मेरे लिए अनिवार्य था कि मैं गोलाघाट जा कर नरेन्द्र से मिलूँ और यदि वह किसी कारण वहां न भी हो तो उसके चाचा और पिता की सहायता लूँ।

इम्फाल से सवेरे आठ बजे बस द्वारा रवाना हो कोहिमा होते हुए शाम को पांच बजे के लगभग मनीपुर रोड

और वहां से साढ़े आठ बजे ट्रेन बदल मैं रात को साढ़े ग्यारह बजे फरकटिंग जंकशन पहुँचा।

फरकटिंग जंकशन से गोलाघाट सिर्फ पांच मील रह जाता है। वहां जाने के लिये बस तैयार थी। पूरी तरह भराई करने के बाद बारह बजे ड्राइवर ने बस छोड़ी।

मेरे पास नरेन्द्र का पूरा पता नहीं था। चिट्ठी सिर्फ उसके नाम से ही पहुँच जाती थी। अतः उसके घर का ठीक ठिकाना जानना जरूरी था। बगल में बैठे सज्जन से मैंने अंग्रेजी में दर्याफ्त किया कि क्या वह मिस्टर नरेन्द्र बरुआ को जानते हैं जो कि स्थानीय कालिज में प्रोफेसर हैं और एक प्रमुख राजनैतिक कार्यकर्त्ता। उन्होंने स्वीकारात्मक उत्तर देते हुए बताया कि मैं किसी से भी मिस्टर हरिकृष्ण बरुआ का मकान पूछ सकता हूं जो कि कालिज के रिटायर्ड प्रिंसिपल हैं। कोई भी बता देगा। नरेन्द्र उन्हीं के साथ रहते हैं। वह रिक्शा वाले को समझा देंगे। मुझे कोई असुविधा न होगी। उन से यह भी पता चला कि नरेन्द्र यहीं पर हैं। मैं निश्चिन्त हुआ।

हम साढ़े बारह के लगभग गोलाघाट चौक पहुँचे। यहाँ पर बस से उतरना था। यहाँ उस समय सिर्फ एक ही रिक्शा खड़ी थी। मुझ से पहले ही एक यात्री ने उसे ठीक कर लिया। जो सज्जन मेरे साथ सफर कर रहे थे उन्हें मेरी हालत पर रहम आया। उन्होंने बस ड्राइवर से मेरी ओर इंगित करते हुए कहा, "यह भद्र लोग विदेशी हैं। प्रिंसिपल बरुआ के अतिथि हैं। इनके पास काफी सामान है। इसलिए इन्हें बस ले जाकर प्रिंसिपल के बंगले पर पहुँचा दो। इसके लिए अलग इनाम मिल जायेगा।"

ड्राइवरसे प्रिंसिपल साहबके प्रतिष्ठित विदेशी अतिथि को आराम से पहुँचाने और निश्चिन्तता का आश्वासन ले 'भद्रलोक' ने मुझ से विदा ली और मैंने उन्हें उनकी भद्रता के लिये हार्दिक धन्यवाद दे संतोष की सांस ली।

बस मुझे लेकर रवाना हुई। प्रिंसिपल साहब का बंगला दो फरलांग से अधिक दूर न होगा। क्लीनर ने सदर दरवाजा खोला। ड्राइवर ने गाड़ी अन्दर पहुँचाई। वहां मोड़ने के लिए पर्याप्त स्थान था। कई बार भोंपू बजाकर उसने प्रिंसिपल साहब और उनके परिवार के सदस्यों को एक सम्मानित विदेशी अतिथि के आने की सूचना दी। क्लीनर ने मेरा सामान—बिस्तर-ट्रंक और हैंड बैग उतारकर पोर्टिको में पहुंचा दिया। मैंने एक रुपया निकालकर उसके हाथ में थमाया। एक लम्बा सलाम दे वह मोटर की ओर रवाना हुआ।

इसी बीच ड्राइवर ने गाड़ी मोड़ ली। हेडलाइटों की प्रकाश-परिक्रमा ने एक बार प्रिंसिपल साहब के शानदार बंगले और उसके सुन्दर बगीचे को अच्छी तरह आलोकित कर दिया।

सोचा, रम्य स्थान है, शांत और स्वच्छ वातावरण है। दो-तीन दिन अच्छी कटेगी।

मोटर का भोंपू और उसका क्लीनर मेरे आगमन की पूर्ण घोषणा कर चुके थे। मैंने बड़ी मुलायम आवाज में

आहिस्ता से पुकारा, "मि० बरुआ।"

"कं" उन्होंने जरा दबंग आवाज में उत्तर दिया।

आसमिया भाषा से अपरिचित होने के कारण मुझे अंग्रेजी में ही वार्तालाप करना पड़ा और प्रत्युत्तर में मि० बरुआ को भी। मैंने पुनः आवाज में मिठास भर निर्दोष उच्चारण में कहा, "मैं देहरादून से आपके भतीजे नरेन्द्र का एक दोस्त।"

"अच्छा सवेरे आकर मुलाकात करो', अंकिल बरुआ का संक्षिप्त और रूखा उत्तर था।

अंकिल बरुआ की इस रुखाई पर अत्यन्त आश्चर्य और खेद होना स्वाभाविक ही था। मैंने समझा कि शायद वह नींद में मुझे पहचान नहीं सके। मैंने पुनः विनम्रता से निवेदन किया, "इस बे वक्त डिस्टर्ब करने का मुझे हार्दिक खेद है। आप कृपया नरेन्द्र को सूचित करदें।"

"मैंने तुमसे कह दिया कि सवेरे आकर मुलाकात करो।" उन्होंने खिज कर उत्तर दिया।

मैंने अपनी अंग्रेजी में पहले से अधिक नरमाई घोल और गले में लोच लाकर प्रस्ताव किया, "अंकिल कृपया नरेन्द्र को सूचित कर दीजिये।"

"नरेन्द्र यहां पर नहीं है।" उन्होंने गर्माकर उत्तर दिया।

"नरेन्द्र यहां पर नहीं है? यह क्या आश्चर्य. मुझे तो बस में एक वकील साहब ने बताया था कि यह गोलाघाट ही है। जो भी हो, रात तो काटनी ही पड़ेगी। इस समय तो कहीं भी लौटने का कोई भी उपाय नहीं है। कल सवेरे ही लौटना हो सकेगा।" मैं आराम से कहता चला गया।

"मैंने तुम से कह दिया सवेरे आओ, तुम अभी तक नहीं गये।" उन्होंनें भन्नाकर आदेशात्मक स्वर में उत्तर दिया।

"पर अंकिल, मैं रात कहां गुजारूंगा। मैं इस स्थान से सर्वथा अपरिचित्त हूं। इस समय लौटने का कोई साधन नहीं है। मैं रात को यहां सोकर सवेरे पहली गाड़ी से गौहाटी चला जाऊंगा। क्या किया जाय।" मैंने अपनी असहायता प्रकाश करते हुए कहा।

"मेरे यहां पर स्थान नहीं है। यह धर्मशाला नहीं है। इतने होटल हैं किसी होटल में चले जाओ।" उन्होंने भन्नाकर उत्तर दिया।

"मैं तो यहां पर किसी होटल और रास्ते का नाम भी नहीं जानता। फिर मेरे पास भारी सामान है। इसे लेकर मैं यहां से बाहर भी नहीं निकल सकता। मैं आपको कष्ट पहुँचाने के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ। मेरी आपसे सविनय प्रार्थना है कि आप मुझे अपने यहां रात बिताने दीजिये।" गिड़गिड़ाते हुए मुझे कहना पड़ा।

"मैंने कह दिया। जो चाहे इन्तजाम करो। मैं नहीं जानता मुझे डिस्टर्ब मत करो।" पूरी बदतमीजी से वह बोले।

"मुझे इस आधी रात आपको डिस्टर्ब करने का सचमुच खेद है, पर मैं असहाय और मजबूर हूँ।"

अपने भतीजे के परम् मित्र के प्रति

अंकिल बरूआ के विचित्र व्यवहार पर मैं विस्मित था। संदेह हुआ शायद इस लम्बे अरसे के बीच नरेन्द्र के पिता और चाचा के बीच कोई झगड़ा न हो गया हो। और परिणामतः यह सब साथ नहीं रहते। इसलिये शायद यह सब कुछ है। जो भी हो पता करना चाहिये।

मैंने धैर्य धर कर पूछा, "क्या नरेन्द्र के पिता अब आपके साथ नहीं रहते ?"

"नहीं।" चाचा के क्रोध का राज़ अब मुझे कुछ-कुछ समझ में आया। भाई का बैर वह अपने भतीजे के विदेशी मित्र पर निकाल विचित्र आनन्द का अनुभव कर रहे होंगे।

"अच्छा, तो क्या आप उनका पता मुझे बता सकेंगे ?" यही पूछना मेरे लिए बाकी था।

"नहीं, मुझे डिस्टर्ब मत करो। बाहर जाकर किसी से पूछ लो।" अंकिल ने तैश में आकर जवाब दिया।

मैं सोच रहा हूं : हद हो गई मेरा यार एक तो इतनी अकड़ में बात कर रहा है, दूसरे अपने बड़े भाई का पता बताने में भी जाने इसका कुछ चला जायेगा। भारी सामान साथ में है वरना एक भी मिनट इस मकान का मुंह न देखता। कहां आ फंसा ?

एक बार तो बहुत गुस्सा आया। पर गुस्से से काम नहीं चलेगा। अतः जब्त कर बोला, "मेरा सामान मेहरबानी कर अन्दर रखवा लीजिए। मैं सारी रात बाहर घूम कर गुजार दूंगा।"

"आपके सामान की जिम्मेदारी मैं नहीं ले सकता।" सीधा उत्तर आया। मैं हैरान और परेशान था एक उच्च शिक्षित, कुलीन, एक बड़ी शिक्षा-संस्था के इस भूतपूर्व प्रधान के इस असभ्य व्यवहार पर। मुझे नरेन्द्र पर भी गुस्सा आया। यही उसके चाचा हैं जिनकी उदारता, लोकप्रियता, आतिथ्य-प्रियता, स्नेहशील सामाजिक व्यवहार की तारीफ करते वह कलकत्ते में नहीं थकता था।

कुछ क्षणों के लिए मैं सर्वथा किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गया। जहां सबसे अधिक आतिथ्य, आराम और स्नेह की आशा लेकर आया था, वहां यह बेभाव की पड़ी; मिला ऐसा अनुपम, असहनीय स्मरणीय व्यवहार। तीन महीनों से भारत और पाकिस्तान के विभिन्न प्रांतों का भ्रमण कर रहा हूं, कहीं भी किसी ने ऐसा व्यवहार नहीं किया। ऐसा अपमान, उद्दंडता और जंगलीपन तो कल्पना के बाहर की बात थी।

अजीब परिस्थिति है। कुछ न सूझता क्या करूं ? अनुपम अनुभव है।

यह स्पष्ट था कि किसी भी प्रकार की अनुनय विनय मि० बरूआ के पत्थर दिल को पिंघलाने में कामयाब न होगी। वह अभी अन्दर से अपने बिस्तर से ही चिल्ला रहे थे। बाहर आने की भद्रता नहीं की थी। घर के अन्दर बिजली नहीं थी। एक लालटेन जल रही थी जिसकी धीमी रोशनी खिड़की के शीशों को चमका रही थी। मैंने उचित समझा कि एक बार झांक कर देखा जाये कि क्या माजरा

देखा एक स्त्री मि० बरूआ के हाथ पकड़े खड़ी हुई है। मैं कुछ न समझ सका और एक दम पीछे हट गया।

मैं इस अपमानजनक स्थिति में एक मिनट भी और खड़ा रहने को तैयार नहीं था। सोच रहा था कि कैसे इस सामान को लेकर बाहर निकला जाये। यदि किसी तरह दो फेरे कर दोनों बोझों को बंगले के बाहर निकाल भी दूं तो उससे समस्या तो हल नहीं होती। सड़क पर सारी रात सामान के साथ खड़े देख कोई क्या सोचेगा? इधर वर्षा की शुरुआत हो गई। कोई त्राण नजर दिखाई नहीं देता। मैं चिंता-मग्न हूं। कुछ निर्णय नहीं कर पा रहा।

इसी तरह लगभग पन्द्रह मिनिट गुजर गए और इस बीच अंकिल बरूआ से कोई बात नहीं हुई। मेरी रेडियम घड़ी सात बजा रही थी।

अनिश्चित मौन को भंग करती हुई एक तीखी आवाज अन्दर से आई, "कोई बाहर है?"

मैं तिलमिला उठा। पहली बार विनय का स्थान विद्रोह और अनुनय का स्थान अकड़ ने ले लिया। मैंने दृढ़ता और तेजी से बिना मि० बरूआ को बीच में बाधा देने का मौका देते हुए कहना शुरू किया, "मैं हूँ। क्या बात है? मुझे आपके व्यवहार पर अत्यन्त खेद है। मैं अवश्य दुर्भाग्य से आपके भतीजे का मित्र हूँ। पर आपका मुझसे कोई व्यक्तिगत झगड़ा या दुश्मनी नहीं है। मैं एक अध्यापक और लेखक हूं। मैंने भारत और पाकिस्तान के विभिन्न प्रदेशों का भ्रमण किया है। सैंकड़ों लोगों से मिला हूं। दर्जनों, अपरिचित भिन्न-भाषी भिन्न-जातीय, भिन्न सम्प्रदाय के लोगों ने मुझे अपने परिवारों में आश्रय दिया है। एक आपका व्यवहार है कि आप कुछ घंटों के लिए सोने का स्थान तो दूर, मेरे सामान के दो अदद भी रखने को तैयार नहीं हैं क्या आपकी यही शिक्षा और संस्कृति है, मुझे तो अफसोस होता है। सामान के बारे में इतनी निम्न धारणा उसके दुश्मन भी न करते। आसाम के लोगों के बारे में मैं क्या धारणा लेकर लौट रहा हूँ। शायद आप एक चोर से भी इससे अच्छा सलूक करते। लेकिन मैं आपको बता देना चाहता हूँ कि मैं रात को कहीं बरामदे में अपना बिस्तर लगा लूंगा। आपकी जो इच्छा हो कीजिये। यह मेरा अन्तिम निश्चय है। मुझे अब इजाजत लेने की जरूरत नहीं है। मैं भी जरा देखूं आप किस हद तक पहुँच सकते हैं। पूरे आवेश में मैं कहता चला गया।

मैं बिल्कुल मरने-मारने के मूड में था। देखूं तो आखिर क्या करेंगे? यह भी कोई शराफत है, कोई इन्सानियत है? चार-पांच घण्टे सोने और सामान रखने के लिए यह मिन्नत और आरजू। बस बहुत हो गया।

पूरी खामोशी छा गई।

मैंने जोश में आकर अपना बिस्तर खोल जंग के लिए तैयार हो उसे बड़ी आराम कुर्सी पर लिटा डाला और आस्तीन ऊपर चढ़ा हांफते हुए मैं उस पर जा पड़ा और होने वाले हमले की

इन्तजार करने लगा। कोई चार-पांच मिनट बाद अन्दर से पहली बार पतली, नाजुक और मीठी आवाज आई, "क्षमा कीजियेगा, क्या मैं आपका पूरा परिचय पा सकता हूं ?"

मालूम हुआ कि युद्ध का अल्टीमेटम ही काफी रहा। लड़ने-मरने की अब शायद नौबत नहीं आयेगी।

"हां, अवश्य; यों तो मैं दे चुका हूँ और अधिक ब्यौरा आप पहले भी जान सकते थे। खैर, मेरा नाम रघुराज गुप्ता है, मैं देहरादून का रहने वाला हूँ··· " अस्तु। मैंने आवाज को नरम कर उन्हें अपना विस्तृत परिचय दे डाला।

"आप यह बताने में बुरा तो नहीं मानेंगे कि आपकी नरेन्द्र से कैसे जान-पहचान हुई ?"

मुझे इस प्रकार का कूल क्रास-एग्जामिनेशन बिल्कुल अच्छा नहीं लग रहा था। फिर भी मैंने जब्त से काम ले उन्हें बताया, "१९४९ से १९५२ तक हम दोनों साथ-साथ कलकत्ता यूनिवर्सिटी में रिसर्च कर रहे थे। तभी हमारी दोस्ती हुई। बाद में वह इधर चला आया और मैं देहरादून चला गया। इस बीच हमारा पत्र-व्यवहार होता रहा। उसके मुंह से मैं आपकी उदारता और आतिथ्य प्रियता की बहुत ख्याति सुन चुका था। उसने मुझे कई बार आने के लिए आमन्त्रित भी किया था। पर आज ही आना सम्भव हुआ। मैं उसे अपने आने की सूचना भी दे चुका हूँ। पर शायद उसे मेरा पत्र नहीं मिला।·····अगर आप कुछ और जानना चाहते हैं तो बाहर आने का कष्ट कीजिए मैं आपको अपने परिचय-पत्र दिखा सकूंगा। मुझे इतना अपमानित हो आपके मकान में जबर्दस्ती रहने की कोई इच्छा नहीं है। सिर्फ सामान आपके हवाले कर मैं रात गुजारने के लिए बाहर निकलने को तैयार हूँ। गोलाघाट में मेरे लिए यह अच्छा अनुभव है।"

जवाब नदारद। शायद कोई बाहर आये। पर कोई आसार नहीं। मैं उत्कंठा से भवितव्य की प्रतीक्षा में हूँ।

लगभग पांच मिनट और गुजर गए। डेढ़ बज चुके हैं। बाहर बरामदे में खड़े लगभग एक घण्टा हो चुका है।

चटखनी की आवाज हुई। मैं अंकिल बरूआ के अभिनन्दन के लिए उद्यत हो आराम कुर्सी से उठ खड़ा हुआ।

आगन्तुक के साथ कोई रोशनी नहीं है, अतः चेहरा देखना मुश्किल है। खैर मैं तैयार हूँ। एक लम्बा प्राणी बिना कुछ कहे आहिस्ता-आहिस्ता आगे बढ़ रहा है। उसने मेरे पास आकर हठात् मुझे अपने भुजापाश में जकड़ लिया। उसके मुंह से यही दो संक्षिप्त वाक्य निकले, "गुप्ता, आइ एम अशेम्ड। प्लीज़ कम इन। (मैं शर्मिन्दा हूँ। अन्दर आओ)।"

मैं हैरत में था। आवाज सुपरिचित थी। वह नरेन्द्र था। मैं संज्ञाहीन कुछ समझ नहीं सका, बुत की तरह खड़ा रहा। नरेन्द्र के आंसू मेरे गालों पर पड़ते रहे।

मुझे छोड़ उसने बिस्तर लपेटा।

दोनों बोझ अपने हाथ में लिए और मैंने छोटा चमड़े का बैग। यन्त्रवत उसके पीछे हो लिया।

दो कमरे और बीच का एक बरामदा पार कर हम एक छोटे कमरे में पहुंचे जहां एक चारपाई लगी हुई थी। उसने मुझ से आराम करने का अनुरोध किया।

मेरे आश्चर्य की सीमा न थी। नरेन्द्र यहां कैसे? वह तो गोलाघाट से बाहर है। वह तो अब अपने चाचा के साथ नहीं रहता। इस पहेली का उत्तर मेरी बुद्धि के बाहर था।

नरेन्द्र ने स्वस्थ हो कहना शुरू किया, "गुप्ता मेरे चाचा से भयंकर अपराध हुआ है, उसके लिये मैं असीम लज्जित हूं। तुमने कभी भी ऐसे दुव्यव्हार की कल्पना नहीं की होगी। मैं यहीं था, उन्होंने मुझे नहीं बताया। बताते कैसे? यहां पर आये दिन भयंकर डकैतियां हो रही हैं। डाकू मोटर या जीप में आते हैं। वह पंजाबी हैं, अंग्रेजी बोलते हैं और खून करने में नहीं हिचकते। तुम मोटर में आये। तुमने अंग्रेजी में बात की। चाचा ने समझा डाकुओं ने हमला किया। डर के मारे वह बाहर भी नहीं आ सकते थे, मेरे पास भी नहीं आ सकते थे। मेरा कमरा दूर था, बीच में बरामदा था। भय था बरामदे में भी डाकू तैनात होंगे। चाचा ने एक-दो बार मेरे पास जाकर पूछने का निश्चय भी किया कि क्या वस्तुतः तुम मेरे मित्र हो। पर चाची ने नहीं जाने दिया। जब तुम पूरे एक घंटे बाहर डटे रहे और तुम्हारे सहयोगी कल्पित डाकुओं ने भी कुछ नहीं किया, चाचा-चाची के मन में संदेह हुआ। चाचा डरते-डरते मेरे पास आये। मुझे जगा कर, घबड़ाकर पूछा कि क्या मैं तुम्हें जानता हूं। मैंने उन्हें बताया कि वह मेरा घनिष्ट मित्र है, इस पर उन्होंने मुझे बताया कि किस प्रकार घंटा भर उन्होंने तुम्हारा अपमान किया। अन्त में मुझसे यही प्रार्थना की कि मैं तुम्हारे आतिथ्य में किसी प्रकार की त्रुटि न करूं। वह तुम्हें अपना मुंह नहीं दिखा सकते और भोर होते ही कुछ दिन के लिये बाहर चले जायेंगे। वह अपने व्यवहार पर बहुत ही दुःखित थे। आशा है तुम क्षमा करोगे!"

नाराज होने को अब रह ही क्या गया था। मुझे केवल अपनी बेशरमी और ढिटाई पर ही संतोष था। काश मैं तैश में आकर जैसे-तैसे किसी सवारी को ले फरकटिंग और वहां से सीधा गौहाटी की गाड़ी पर सवार हो आसाम के इस स्वागत का अनुभव लेकर लौट गया होता!

---

एक दिन मैंने ईश्वर से पूछा—'मैं सब अवस्थाओं में तुझ से सन्तुष्ट हूं, क्या तू भी मुझ पर सन्तुष्ट है।"

ईश्वर ने कहा—"तू झूठा है। यदि तू मुझ से पूर्णतया सन्तुष्ट होता तो मेरे सन्तोष की पूछ-ताछ न करता।"

—अबुलहुसैनअली

---

# सफलता का रहस्य

डाक्टर अमरनाथ हमारे नगर के यशस्वी चिकित्सक हैं। वे आकर बैठे कि जम गए और कुछ ही वर्षों में उन्होंने इतना धन कमाया कि ४०-५० हज़ार रुपये तो कोठी में ही लगा दिए।

उनकी सफलता का रहस्य क्या है?

उस दिन एक रोगी को दिखाने गया था। दोपहर का समय था; रोगी निमट गए थे। दवा बन रही थी, मैं उनसे बातें कर रहा था कि आकर खड़ा हो गया उनकी मेज़ के पास एक साधु। उम्र कोई ४० साल, पूर्ण स्वस्थ--हट्टा-कट्टा, चेहरे पर उद्दण्डता और वाणी में कड़क—वातावरण में कहीं कोमलता नहीं। डाक्टर अमरनाथ ने मुझसे चल रही बात बंद कर दी और जिज्ञासा से उसकी ओर देखा।

साधु बोला—"हमें एक पव्वा बराण्डी चाहिये।"

बराण्डी की मांग और मांगने वाला एक साधु; वातावरण और भी रूखा हो गया, पर डाक्टर का मीठा स्वर मीठा ही रहा—"यह तो दवाखाना है स्वामी जी, यहां बराण्डी नहीं बिकती।"

साधु खड़ा रहा। तब पूछा—'फिर कहाँ मिलेगी ?"

"अजीब अहमक आदमी है कि यह बताने की जिम्मेदारी भी इसी डाक्टर की समझता है!" मैंने सोचा, पर डाक्टर ने उसी मधुरता से कहा—स्टेशन रोड पर मैट्रो में मिलेगी आपको बराण्डी।"

साधु के लिए शहर नया था, वह कुछ समझा नहीं। तब डाक्टर ने उसे अपनी दूकान से मैट्रो तक का रास्ता इस तरह समझाया कि वह कहीं न भटके।

साधु चला गया, तो मैंने सोचा-यही है डाक्टर अमरनाथ की सफलता का रहस्य और तब मैंने इस रहस्य को यह भाषा दी—"डाक्टर अमरनाथ की हार्दिक दिलचस्पी आदमी की परेशानी में और उसे दूर करने के प्रयत्न में है। यह दिलचस्पी उसे अपने बीमारों में तल्लीन रखती है और यही तल्लीनता उनकी सफलता का रहस्य है।

# इंकार कैसे कर दूँ ?

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

"जो इंकार नहीं कर सकता, उसका भी कोई चरित्र है ?"

चरित्र किसी साहित्यिक पात्र का हो, या फिर जीवित मनुष्य का वे उसे पहचानते, परखते और उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन करते हैं। मित्रवर श्री वीरेन्द्र गोयल की बातचीत अक्सर साहित्यिक समालोचना या जीवन का विश्लेषण हो जाती है।

उस दिन वे एक जिलाधीश का जिक्र कर रहे थे, जिससे उनकी कभी नहीं बनी। मुझे अचरज हुआ कि वे उनके गहरे प्रशंसक हैं। मैंने कहा—उनके यहाँ रहते तो कभी आपसे उनकी बनी नहीं, ठनी ही रही, पर आज तो आप उनके चारण हो रहे हैं।"

बोले—"बने या बिगड़े, प्रशंसा इस बात की है कि उस आदमी में एक कैरेक्टर था।"

"क्या-कैसा ?"

"यही कि वह जब चाहे और जिसे चाहे, इंकार कर सकता था।" गोयल साहब ने कहा और बल पूर्वक बोले-"जो इंकार नहीं कर सकता, उसका भी कोई चरित्र है ?"

गोयल साहब की बात पूरी होगई, उससे मेरे दिल में ऐसा धमाका हुआ कि नसें झनझना उठीं, क्योंकि मैं जब चाहूँ और जिसे चाहूँ इंकार नहीं कर सकता!

तब क्या मेरा कोई चरित्र नहीं है ?

गोयल साहब का उत्तर है हाँ, पर मैं तो इसे ही बरसों से अपना चरित्र समझता रहा हूँ; अजब बात है।

(२)

युग बीत गए कि एक घटना घटी थी। तब मैं हूँगा कोई ६-७ बरस का बालक। पास के ही गांव का एक युवक पिता जी के पास आया कि वे उसे १०० रुपये उधार दें। उस दिन पिताजी के पास १०० रुपये नहीं थे और सचाई यह है कि उनके पास इतने रुपये होते ही कब थे।

उन्होंने इंकार कर दिया। वह रोया, गिड़गिड़ाया, हाथ जोड़े, पाँवों पड़ा, वादे किए, खुशामद की और मजबूरियाँ बखानी, पर इन सब से आदमी का दिल पसीज सकता है, कोरी अण्टी में इकन्नी तो नहीं आ सकता!

वह चला गया। पिता जी के इंकार ने उस की बुरी हालत कर दी। वे दुखी हुए, पर करते क्या; रुपये तो सचमुच उनके पास थे ही नहीं! दूसरे दिन सुना कि उस युवक ने रास्ते के कुएँ में गिरकर आत्म-हत्या कर ली।

बात यह थी कि उसने एक पठान

से १०० रुपये उधार लिए थे और कई वादे गलत हो चुके थे। वादा गलत होने पर पठान खूनी हो जाता है। कोई १० दिन हुए पठान आया था और कह गया था कि अगले मंगल को आऊँगा और तुमने पूरा रुपया न दिया, तो तुम्हारी बीबी को ले जाऊँगा। जब तुम्हारे पास रुपये हों, देकर अपनी बीबी ले आना।

कल वही मंगल था और उसी की बेचैनी में वह युवक-पिता जी के पास आया था। पिता जी उसकी आखरी उम्मीद थी; उनके इंकार का झटका खा, वह तार तार हो गई और उसके लिए सिर्फ मौत की राह खुली रह गई, पर भाग्य की विडम्बना यह कि उसकी पत्नी ने अपने भाई को गुप चुप पठान की बात लिख भेजी थी और वह दोपहर को ही १२५ रुपये लेकर आगया था। शाम को ज्यों ही खान आया कि उसने उसे रुपये दे दिये और कागज़ वापिस ले लिया, पर जिस बहन के सुख के लिए उसने यह सब किया था, उसके लिए जीवन में अब दुख ही दुख था।

इस घटना की कसक जीवन भर पिता जी के कलेजे में चुभती रही। वे अक्सर कहा करते थे—उस दिन बड़ा पाप होगया मुझ से। उसके डूब मरने की जिम्मेदारी मुझ पर ही है। न मैं इंकार करता, न उसका दिल टूटता। मेरे पास रुपये नहीं थे, पर उसके साथ गाँव जाकर पठान से मिल सकता था, उससे एक महीने की अपनी जमानत दे सकता था या किसी से लाकर ही उसे १०० रुपये दे सकता था। अपना ज़रा-सा झंझट बचाने के लिए मैंने उसकी जान लेली और उसकी पत्नी को जन्म भर के लिए दुखों में डुबा दिया। मैं १०० बहाने मिलाऊँ, भगवान के सामने मुझे सिर नीचा करना पड़ेगा।

यह घटना मेरे सामने घटी थी और पिता जी की दुखभरी बातें इतनी बार मैंने सुनीं थीं कि मेरा संस्कार होगया—इंकार न करो! इंकार में मुझे मौत दिखाई देती है—सामने वाले की ही मौत नही, अपनी मनुष्यता की भी मौत।

(३)

हमारे ही देश का, हमारी ही भाषा में लिखा एक नीति-वचन इस प्रकार है—

मांगन गए सो मर गए,
मरै सो मांगन जाय,
उन सै पहले वे मरे,
जो हुए में कर दें नाय।

मेरी मां घर में न होने पर जंगली घास भिसकबरे की सब्जी बनाना पसन्द करती थी, पड़ौस से दाल लेना नहीं। उसकी अभिव्यक्ति थी—"मेरा तो किसी से कुछ मांगते सिर कटता है।" वही बात कि मरे सौ मांगन जाय! तो जो सर कटाकर आया है, उसे मना कैसे

> बुद्धिमान को ऐसा काम नहीं करना चाहिये जो निष्फल हो, जिससे बहुत क्लेश हो, जिसमें सफलता संदिग्ध हो, या जिससे दुश्मनी पैदा हो।
>
> —अज्ञात

करदें और करदें तो अपना ही सिर सिर कहाँ रहे ?

तो क्या मांगने और देने में कोई मर्यादा नहीं है ?

प्रश्न उचित है, महत्वपूर्ण है। इसके उत्तर में नीतिकार ने मर्यादा की रचना की–'जो हुए में करदे नाय।'

यह हुई देने की मर्यादा कि देने के लिये देने की चीज अपने पास हो, पर मैं इसे अधूरी मानता हूँ; क्योंकि जो हमारे पास है उसे चाहे जो ले ले, यह भला क्या बात हुई ?

तो देने-मांगने की पूर्ण मर्यादा यह है कि मांगने वाले की मांग उचित हो और वह चीज देने के लिए हमारे पास हो।

(४)

कभी कभी जीवन में कैसा धर्म-संकट आ खड़ा होता है इस देने-मांगने की पात्रता का।

"पण्डित जी हैं क्या ?" उस दिन किसी ने बाहर से पुकारा, तो भीतर से ही मैंने पूछा—"कौन है भाई ?"

"मैं हूँ सरकार, रसूल अहमद।" उत्तर मिला।

नाम साफ था, पर समझ में न आया कि कौन है, तो बाहर आकर देखा—मेरी जन्मभूमि के निवासी भाई रसूलअहमद हैं। देखते ही लगा कि अच्छे हाल नहीं हैं। अलग बैठ कर बातें हुईं, तो बोले—"और कुछ कर सकें, तो आपकी मेहरबानी, वरना ६ रुपये दीजिये।"

आवाज में गिड़गिड़ाहट और सूरत रोनी-सी। बोले—"मां एक महीना हुआ जीने से गिर पड़ी थी। अस्पताल में कुछ हुआ नहीं, तो डाक्टर को दिखाया। पैसा हाथ में था नहीं, लिहाफ पड़ोसी के यहां रख कर ६ रुपये ले आया और दवा कराई। अब सरदी पड़ने लगी है और हम दोनों रात भर बैठे रहते हैं। मजबूरी में आपके पास आया हूं।"

सुन कर दिमाग भिन्ना गया। उसकी हालत देख कर और अपनी हालत सोच कर। जेब में ३६ रुपये पड़े हैं, पर शाम की गाड़ी से एक अतिथि जा रहे हैं और उन्हें ३५ रुपये का टिकट लेकर देना है। इन रुपयों का प्रबन्ध तीन दिन की दौड़-धूप में हुआ है, उन्हें आज ही जाना है, बिस्तर बँधा रखा है।

ठीक है, उन रुपयों में से कैसे निकालूं ६ रुपये, पर दिसम्बर की सरदी में ये मां-बेटे कैसे रात काट रहे हैं ? फिर कौन है यह ? वही जो एक दिन नवाब की तरह रहता था, जिसके घोड़े पर मक्खियां फिसलती थीं, जिसके सूट बम्बई से सिल कर आते थे और जिसके चारों ओर दोस्तों की भीड़ थी। कैसे मना करदूं इसे इस

अपने रिश्तेदारों से झगड़ना नहीं चाहिये; बली का मुकाबला नहीं करना चाहिये; स्त्री, छोटों, और बेवकूफों से बहस नहीं करनी चाहिये।

—अज्ञात

बिगड़े समय में ?

कुछ क्षण दुविधा में बीते, पर दम घुटने लगा और उसके सामने बैठना असम्भव हो गया। मैंने अपनी जेब से निकाल कर ६ रुपये उसकी जेब में डाल दिए। वह चला गया, पर टिकट? ६ रुपयों का मेरे लिये भी अब उतना ही मोल था, जितना कुछ देर पहले रसूलअहमद के लिए। खैर, नगर की रेलवे एजेंसी ने ६ रुपयों का उधार करके टिकट मुझे दे दिया और बात बनी रह गई।

( ५ )

और तब याद आ गए पण्डित श्री कृष्णदत्त पालीवाल। उस दिन उनके घर में खूब जंग मचा। पालीवाल जी महाजंगड़ कि गुस्सा आ जाय, तो राह चलतों से खम ठोकें, पर उस दिन दबे-झुके से कि विरोधी उन पर हावी और वे कन्नी-काटे से कि जान बचे, तो लाखों पायें।

बात यह हुई कि एक देहाती कार्यकर्ता उनके पास आया कि वे उसे १०० रुपये दें!

"१०० रुपये!" चौंक कर उन्होंने पूछा—"क्या करेगा रे तू १०० रुपये?"

"पालीवाल जी, मेरे घर लड़का हुआ है। उसके जसूठन में बिरादरी-गांव के चार भाइयों को न बुलाया, तो मैं जीने लायक न रहूँगा।" यह होगई उस मांग की पृष्ठभूमि, पर पालीवाल जी की अंटी कोरी, वे खुद तंगी में और उम्मीदों के गलियारे भी आजकल सांकरे, पर पालीवाल जी का द्वार और उस पर बैठा एक कार्यकर्ता।

छाती से इन्कार उठी और गला पार कर होठों तक आते-आते इकरार बन गई—"भैया, शाम को आकर ले जाना १०० रुपये।"

दोपहर तक लक्ष्मी जी न पसीजीं और कलेजे में वायदे का कांटा करकता रहा, तो सूझ जागी—पत्नी को भेजा किसी बहाने घर से बाहर और चुपचाप उनके ट्रंक का ताला खोल कर उसमें से एक जेवर निकाल लिया। सोचा इसे गिरवीं रख कर वह अपना काम चला लेगा और दो-चार दिन में कहीं से रुपया आ जाएगा, तो छुड़ाकर इसी तरह चुपचाप फिर इसे ट्रंक में रख दूंगा।

दाव ठीक बैठ गया और कार्यकर्ता के बेटे का जसूठन ठाठ से हो गया, पर अनुमान के विरुद्ध जेवर को अपने स्थान पर लौटने में देर लग गई और श्रीमती जी को पतिदेव की कला का परिचय मिल गया। वह परिचय ही उस युद्ध की पृष्ठभूमि थी, जिससे प्रचण्ड पत्रकार श्री पालीवाल जी कन्नी काट रहे थे।

एक तेज झोंका आया कि वे पछाड़ खा गिरे—"एक तरफ आप सुधारक बनते हैं और दूसरी तरफ बिरादरी-भोग कराते हैं; एक तरफ आप सत्याग्रह के नेता और दूसरी तरफ चोरी करते हैं, यह खूब है!"

बोले—"अरे, जेल, भूख और मारपीट की भट्टियों में जलते हुए कार्यकर्ता ने चार भाइयों को अपने घर बुलाकर कण भरा संतोष पा लिया, तो तेरा कलेजा क्यों जलता है? और

चोरी ? किसने की चोरी ? अरे कम्बख्त, किसी की चीज चार दिन के लिए उधार लेना भी चोरी है ?"

चोरी और उधार के इस तारतम्य ने वातावरण को खिला दिया और पाला पालीवाल जी के हाथ रहा। इस संस्मरण में देने और मांगने की मर्यादा का एक नया ही पहलू है!

देते-देते हमारी कथा के नायक राजा ज्ञानदेव यहां तक पहुँच गए कि बस उस दिन का भोजन ही उनके पास था और वे खाने बैठे, तो एक भिखारी ने आवाज लगादी—'भूखे को भोजन मिले महाराज!'

रानी ने रोका भी, पर महाराज न माने और अपने भोजन का थाल भिखारी को दे, भूखे ही उठ गए।

( ६ )

देने में शक्ति है या जोड़ने में ? लोककथा में इसका उत्तर है—देने में। सन्त और शिष्य नाव में कहीं जा रहे थे। उसी दिन प्रातः सन्त ने अपने लोभी शिष्य को अपरिग्रह का उपदेश दिया था। नाव मझधार में डूबने लगी, तो शिष्य ने धीरे से मल्लाह को अंटी की पूंजी दे, दोनों को तूम्बे पर पार करा लिया।

तट पर दोनों जा लगे, तो इतराती-सी वाणी में लोभी शिष्य ने कहा—"महाराज, आप जब-तब अपरिग्रह की, जो पास है उसे फेंक देने की, बात छौंका करते हैं, पर आज मेरे पास वह संग्रह न होता, तो दोनों की जल-समाधि हो जाती!"

सुनकर सन्त हंसे। बोले—"अरे, जब तक संग्रह को अंटी में बांधे था, तब तक तो डूब ही रहा था। पार तो तभी हुआ, जब उसे निकाल दिया; तो मूर्ख बचा है देकर और गुण गा रहा है जोड़ने के!"

इस विवाद का सर्वोत्तम समाधान अथर्ववेद के पास है—"शतहस्तं समाहर, सहस्र हस्तं संकिर'। कहा कि सैंकड़ों हाथों से इकट्ठा कर और हजारों हाथों से बखेर।

( ७ )

मेरे एक साथी हैं। आदमी बहादुर है, पर परिस्थितियों के माया-चक्कर पर चढ़ गुण्डा हो गया है। एक दिन पार्क में मिला- तो मैंने उसे सम्बोधा—"जो आदमी इंजीनियर हो सकता है, वह चाट बेचता फिरे, तो दुःख होता ही है भैया!'

मेरी निष्काम ममता से वह पसीजा-पिघला, यह मुझे लगा और उठते हुए उसने कहा—"अच्छा भाई साहब अब बदलूंगा अपने को"—तो मुझे विश्वास ही हो गया।

कोई १०-१५ दिन बाद वह आया—"भाई साहब, आप मुझे ६० रुपये देदें, तो मैं चांदी के घुंघरु बनाने का काम शुरू करदूं। उससे मुझे दो रुपये रोज मिल जाया करेंगे और मैं इस नरक से बच जाऊंगा।"

मैंने एक मित्र से उधार लेकर उसे ६० रुपये दे दिये। वह जब तब मुझे अपनी सफलता की रिपोर्ट देता रहा, पर सत्य यह था कि उसने मेरा ही घुंघरू बनाया था और वह अब भी ज्यों का त्यों था।

एक और हैं ऐसे ही साथी। एक दिन एक प्रतिष्ठित मित्र का पत्र लेकर आए। लिखा था—"इनकी पत्नी टी. बी. से ग्रस्त है। मैंने भी कुछ सहायता की है, आप भी कुछ कर दीजिये। ये देश के लिए कई बार जेल गए हैं। आजकल बहुत संकट में हैं।"

देखा, तो हजामत बढ़ी हुई, धोती-कुरता भी फिरका हुआ। दो नये कुरते और दो नई धोतियां उन्हें दीं, हजामत बनवाई, ४० रुपये दिए और अगले महीने और सेवा करने का आश्वासन दिया। वे चले गये। उनके जिले में मेरे अभिन्न मित्र थे। मैंने उन्हें यह दुख-गाथा लिख भेजी और उनसे सहायता का आग्रह किया। उत्तर मिला—"आप के ये देशभक्त जी नम्बर एक के शोहदे हैं। जेल तो जरूर गये हैं, पर कांग्रेस में नहीं, चोरी में। और इनकी पत्नी को टी. बी. होना नामुमकिन है, क्योंकि वह दो साल हुए इनकी बदमाशियों से तंग आकर कुए में कूद बैकुंठ जा चुकीं।"

(८)

तो इन दोनों की मांग पर मैंने जो हां की, वह मेरी सहृदयता नहीं, मूर्खता थी—गोयल साहब के शब्दों में वह मेरी चरित्र-हीनता थी—और इन्हें जो कुछ दिया गया, वह देना नहीं लुटना था!

तो देना ही उदारता की मूल-वृत्ति नहीं, देख-भाल कर देना ही देने की मूल-वृत्ति है।

और यह भी कि देख-भाल से, जांच-पड़ताल से लेने वाला अधिकारी न लगे, तो उसे इन्कार करना इस मूल-वृत्ति का पोषण है, शोषण नहीं।

(९)

और क्यों जी, किसी की मांग उचित हो, पर हम में उसे वह देने की शक्ति न हो, तो हम क्या करें?

बहुत पैना सवाल है और इस का उत्तर दे गया है महान कलाकार तुर्गनेव अपनी एक छोटी कहानी में—

"मैं अपना ओवर कोट पहने जा रहा था। सर्दी कड़ाके की पड़ रही थी। एक भिखारी मेरे सामने आ गया—'बाबा एक पैसा दो'। और उसने अपना हाथ फैला दिया।

मेरे पास एक भी पैसा न था। मैं बेकार था, रोजगार की तलाश में निकला था, पर सामने फैले हाथ को कैसे हटाऊँ?

मैंने अपनी जेब से दोनों हाथ निकाले और उनमें भिखारी का हाथ दबा लिया। वह हाथ बरफ की तरह ठण्डा था, मैं उसे कुछ देर तक अपने गरम हाथों में दबाए रहा और तब चल दिया। मैंने अनुभव किया कि भिखारी को कुछ मिला था और वह मुझ से असन्तुष्ट न था।

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ के पास कुछ युवक आये और उनसे अपनी संस्था के लिये धन मांगा। कवि ने कहा—मेरे पास धन नहीं है, आनन्द है, वही मैं तुम्हें दूँगा।

ठीक ही है कि हम ऐसी स्थिति में कब होते हैं कि किसी को अपने मन का सद्भाव और आनन्द न दे सकें?

और इसके लिये तो मुझे किसी को भी इन्कार करने की जरूरत नहीं!!

# अपने पढ़ने के कमरे में

## नई खोज के लिए

'धर्मयुग' में प्रकाशित श्री देशबन्धु शर्मा के लेख का यह अंश अत्यन्त प्रेरक है—

"मैं तैयार हूं," यह कहते हुए डाक्टर स्कॉट स्मिथ ने तीव्र विष क्युरेर का इन्जेक्शन लगवाने के लिए अपनी भुजा आगे बढ़ा दी।

डाक्टर स्मिथ जानता था कि वह एक बहुत ही खतरनाक कदम उठाने जा रहा है। क्युरेर से उसकी मृत्यु हो सकती है, और यदि मृत्यु न हुई तो उसे शायद एक विकराल दुर्भाग्य का सामना करना पड़ेगा—और, वह दुर्भाग्य होगा लकवा, जिसके मारे उसके सब अंग चेतना-हीन और जीवन्मृत हो जाएँगे।

यह सब जानते हुए भी खुशी-खुशी से–उसने क्युरेर का अपने शरीर में प्रवेश कराना स्वीकार किया था। उसे प्रसन्नता थी कि वह विज्ञान की कुछ सेवा कर सकेगा, चाहे इस सेवा में उसके प्राण ही क्यों न चले जायें।

## कुछ देर बाद

डाक्टर स्मिथ बेहोश पड़ा था। उसका चेहरा मुरझा गया था। उसके अंग-प्रत्यंग सख्त हो गये थे। फेफड़ों तक ने काम करना बन्द कर दिया था। केवल दिल की धीमी-धीमी धड़कन बाकी थी। और उसके आस-पास खड़े वैज्ञानिक आक्सीजन पम्प करके उसे किसी प्रकार बचाने का प्रयत्न कर रहे थे।

सौभाग्य से, आशा के विरुद्ध, धीरे-धीरे विष का प्रभाव कम होता गया, और डाक्टर स्मिथ खतरे से पार हो गये।

परन्तु आखिर डाक्टर स्मिथ को अपने जीवन के साथ इस भयंकर खिलवाड़ की क्या आवश्यकता थी?

इस परीक्षण का उद्देश्य था क्युरेर की नियन्त्रित मात्राओं का मनुष्य-शरीर पर प्रभाव देखना; और इस परीक्षण को कई बार दुहराने का ही यह परिणाम है कि आज पोलिओ तथा एपिलेप्सी के भयंकर दौरों को उतारने के लिए क्युरेर आदि दवाओं का सीमित मात्रा में उपयोग किया जा रहा है।

विज्ञान द्वारा मानव-कल्याण के लिए डाक्टर स्मिथ ने (सन् १९४४) अपने जीवन को खतरे में डाल कर न केवल एक अत्यन्त स्तुत्य काम किया अपितु सैकड़ों अन्य लोगों को भी प्रेरणा दी कि वे भी विज्ञान के लिए भयंकरतम कष्टों का स्वागत करें।

ऐसे स्वयं-समर्पकों की कुछ वीरता-पूर्ण कहानियां यहां दी जाती हैं।

## शॉनेसी और लेविन्सन

कुछ वर्ष हुए इलिनॉइस विश्व-विद्यालय तथा माइकल रीज, रिसर्च फाउंडेशन के १२ वैज्ञानिकों ने मिलकर एक वैक्सीन (टीका) बनाया था—वेक्सिलिअरी डिसेन्ट्री (पेचिश) की रोक-थाम के लिये।

परन्तु यह वैक्सीन इतना विषैला था

कि इसके प्रयोग से चूहे कुछ ही मिनटों में मर जाते थे।

वैज्ञानिक सोचने लगे—

"साधारण नियम तो यही है कि जिस वस्तु का चूहे आदि प्रयोगीय पशुओं पर हानिकारक प्रभाव होता है, उसका मनुष्यों पर भी बुरा ही प्रभाव होता है परन्तु, शायद यह नयी वैक्सीन भी इस नियम के अपवादों में से एक हो।"

इस विचार की यथार्थता जांचने के लिए मनुष्य पर इस वैक्सीन का प्रयोग करना आवश्यक था। परन्तु इस सम्भावना को देखते हुए कि चूहों की भाँति मनुष्यों की भी इस वैक्सीन से मृत्यु हो सकती है, कौन अपनी जान को खतरे में डालना चाहता?

अन्त में इन वैज्ञानिकों के ग्रुप में से दो प्रमुख सदस्यों-डाक्टर हावर्ड शॉनेसी तथा डाक्टर सिडनी लैविन्सन ने निश्चय किया कि वे स्वयं पर ही इस वैक्सीन का प्रभाव देखेंगे।

और एक दिन, इस निश्चय के अनुसार वे तथा अन्य वैज्ञानिक प्रयोग-शाला में एक रोमांचकारी परीक्षण के लिए इकट्ठे हुए। संकट-कालीन उपकरणों से सुसज्जित सहायकों का एक दल भी तैयार हो गया।

## कुछ देर बाद—

शाँनेसी तथा लैविन्सन ने एक दूसरे को वैक्सीन का इन्जेकशन दे दिया। और वे प्रतीक्षा करने लगे, अपनी दुर्दशा की—उस अवस्था की जब उनका खून जमने लगेगा, सांस बन्द होने लगेगी, और सहायकों के हर प्रयत्न के बाद भी शायद यम के दूत उन्हें उठाकर ले जायेंगे।

प्राण की बाजी लग चुकी थी। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। और, इस सन्नाटे में, एक तरफ दीवार पर लटकी हुई घड़ी टिक-टिक कर रही थी; तथा दूसरी तरफ, सब के दिल धक् धक् कर रहे थे।

टिक् टिक्! धक् धक्!!

टिक् टिक्! धक् धक्!!

टिक्-टिक् और धक्-धक् के इस क्रम में आधा घंटा बीत गया। और फिर आधा घंटा और भी बीत गया। आधा और बीत गया, और इस प्रकार अढ़ाई घंटे बीत गए।

तब, उस नीरवता को भंग किया डाक्टर शॉनेसी ने, इन शब्दों के साथ—

"मित्रो, मेरे विचार से, यदि इस वैक्सीन में हमें मारने की शक्ति होती तो अब तक हम मर चुके होते।

इस प्रकार चिकित्सा के क्षेत्र में एक नये वैक्सीन का पदार्पण हुआ।

## थॉमस कोरिट्ज़

वैज्ञानिक जगत् में स्वयं-समर्पण के लिए थॉमस कोरिट्ज़ को अद्वितीय स्थान प्राप्त है, क्योंकि उसने एक बार नहीं, अनेकों बार अपने जीवन को खतरे में डाला।

जब थॉमस कोरिट्ज़ ने सुना कि इलिनाइस मेडिकल कालेज के डाक्टर साडोव को ऐसे स्वयं-सेवक चाहिए, जो जीवन को हथेली पर रखकर उनके परीक्षणों में सहयोग दें, तो उसने अत्यन्त

उत्साह के साथ अपने को अर्पित किया।

वह तब भी विचलित नहीं हुआ जब उसे बताया गया कि उसे बार-बार ऐसी दवाओं के इन्जेकशन दिये जायेंगे जिनसे उसकी श्वास-क्रिया तक बन्द हो जायेगी; और यह भी कि जरा सी भी भूल-चूक से उसके प्राण जाने का डर है।

यह बात नहीं कि कोरिट्ज जीवन से ऊबा हुआ मनुष्य था। वह तो मैडिकल कॉलिज में पढ़ने वाला छात्र था, और उसकी बड़ी इच्छा थी कि वह एक उत्कृष्ट डाक्टर बने।

उसके उदाहरण से प्रेरणा पाकर लगभग ७५ और स्वयंसेवकों ने भी अपने आप को उस परीक्षण-माला के लिए समर्पित कर दिया।

इन परीक्षणों का उद्देश्य था यह जानना कि सांस रुक जाने पर, कृत्रिम-श्वास देने के लिए कौन-सी विधि सर्वोत्तम है। उन दिनों कृत्रिम श्वास देने के लिए ११ तरीके प्रचलित थे और उनमें से सर्वोत्तम का चुनाव करना था।

डाक्टर साडोव चुने हुए स्ययंसेवक को दवा का इन्जेकशन देते जिससे पीड़ित होकर वह बेहोश हो जाता और अन्त में उसका श्वास भी रुक जाता था। फिर उस पर वे किसी कृत्रिम श्वास-क्रिया का प्रयोग करते।

इन परीक्षणों का सबसे अधिक प्रयोग किया गया थॉमस कोरिट्ज पर,जो इस सेवा-दल का प्रमुख वीर था।

इन प्रयोगों से एक नवीन बात प्रकाश में आयी। वह यह कि उन दिनों जिस विधि (शोफर-यन्त्र) को कृत्रिम श्वास के लिए सर्वोत्तम माना जाता था, वह घटिया सिद्ध हुई और उसकी जगह ले ली एक अन्य विधि ने, जिसे होल्गर-नील्सन विधि कहते हैं।

## प्रेमचन्द का गाँव

'आज' में प्रकाशित स्वर्गीय प्रेमचन्द के गाँव का यह विवरण भाव-बोधक है—

जिस गाँवने प्रेमचन्द को प्रेरणा प्रदान की, जिस गांव में प्रेमचन्द का होरी रहता था, वह गांव बनारस के अंचल में शहर की रंगीनियों से कोई तीन-चार कोस की दूरी पर अब भी बरकरार है।

प्रेमचन्द ने इसी गाँव में जन्म लिया था इस गाँव का नाम लमही था और है। पर अब इसका नाम बदलकर उसी महान कलाकार की स्मृति में 'प्रेमचन्द पुरी' रखने का प्रस्ताव गाँव वालों ने पास किया है। शहरके 'फैशनेबुल जेण्टिलमैनों' के लिबास की तरह यह गांव भी धीरे-धीरे अपना रंग बदलता गया। मुझे याद है, प्रायः आज से १८-२० साल पहले इस गांव को जाने वाली सड़क किस कदर वीरान थी। सड़क में किस कदर दो दो तीन तीन फुट के गड्ढे और मनों गर्द थी और इन्हीं गड्ढों में फँसी हुई बैल-गाड़ियां जिनको गाड़ीवान बैलों के जोर में जोर मिला कर, कभी पहियों को अपने फौलादी हाथों से ढकेलता हुआ, कभी बैलों पर डंडों की बरसात करता हुआ, कभी बैलों की मां-बहनों से रिश्ता कायम करता हुआ उन्हें बढ़ावा देता था और अब वही सड़क कंकड़-पत्थर की बन गई है जिस पर गाड़ियां नहीं फंसतीं, जिस पर गर्द नहीं उठती। यह

सड़क उन दिनों एक वीरान इलाके से होकर गुजरती थी, जो अब सड़क के किनारे बस गये हैं, और रात ढलने के बाद उन दिनों लोग अकेले इस सड़क में गुजरने में खौफ खाते थे।

ऐसे ही सड़क के किनारे बसे हुए लमही ग्राम का जिक्र है जिसमें प्रेमचन्द के वे दोनों घर अब भी खड़े हैं—एक जिसमें उन्होंने जन्म लिया था और दूसरा जिसे उन्होंने खुद बनवाया था।

यह गांव एक छोटा-सा गरीब किसानों का गांव है जिसमें कुछ कुनबी कुछ लाला, कुछ कहार, कुम्हार, एक-आध बढ़ई और इसी तरह के चन्द और फिरके के लोग बसते हैं। प्रेमचन्द का घर गांव के एक सिरे पर बसा है, जिसके बाद बागों की शुरुआत है और उसके बाद खेतों की। इसी घर में रहते हुए प्रेमचन्द ने अपनी साधना आरम्भ की। यह घर किसी नुकते से बेमिसाल नहीं कहा जा सकता, बल्कि यह वैसा ही एक मामूली घर है, जो कहीं भी पाया जा सकता है। फर्क इतना ही है कि गांव का घर होते हुए भी यह ईंट-पत्थर का है, मिट्टी-गोबर का नहीं, पर इस घर का निर्माता मिट्टी-गोबर के ही घर में पैदा हुआ था, जो अब भी वैसा ही मौजूद है।

यह गांव पाण्डेपुर आजमगढ़ वाली सड़क पर प्रायः ढाई मील की दूरी पर बायें किनारे पर बसा है। हिन्दी-साहित्य का इतिहास इस गांव को भुला नहीं सकता, इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। यह एक तीर्थ है। इस गांव ने प्रेमचन्द को वह चीज दी, जिसने उन्हें मुल्क की आंखों का तारा बना दिया। प्रेमचन्द ने इस छोटे-से गांव को क्या समझा, गोया उन्होंने हिन्दुस्तान को समझा।

## भीम है भीम

'कल्याण' में प्रकाशित श्री कृष्णदत्त भट्ट के लेख में प्रसंगवश उद्धृत विनोबा द्वारा १०-२-१९१८ को गांधी जी के नाम लिखा यह पत्र युगसन्त की साधना का गहरा परिचय है—

जब मैं दस वर्ष का था तभी मैंने ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए देश-सेवा करने का व्रत लिया था। उपनिषदों का अध्ययन करने के लोभ से मैं इतने दिनों से आश्रम से बाहर रहा। उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र और शांकर-भाष्य, मनुस्मृति, पातञ्जल योग दर्शन—इन ग्रन्थों का मैंने अभ्यास किया। इनके अलावा न्यायसूत्र, वैशेषिक सूत्र, याज्ञवल्क्य-स्मृति–इन ग्रन्थों को पढ़ गया। अब मुझ को अधिक सीखने का मोह नहीं है।

दूसरा काम था स्वास्थ्य-सुधार। उसके लिये पहले तो मैंने १०-१२ मील घूमना शुरू किया। बाद में ६ से ८ सेर अनाज पीसना चालू किया। आज ३०० सूर्य-नमस्कार और घूमना—यह मेरा व्यायाम है। इससे मेरा स्वास्थ्य ठीक होगया।

आहार—पहले ६ महीने तक नमक खाया, बाद में उसे छोड़ दिया। मसाले वगैरह बिल्कुल नहीं खाये और आजन्म नमक और मसाले न खाने का व्रत लिया। दूध शुरू किया। उसे भी छोड़ा जा सकता हो तो छोड़ देने की मेरी इच्छा है। एक महीना केवल दूध और

नीबू पर बिताया। इस से ताकत कम हुई। आज मेरी खुराक है—दूध डेढ़ सेर, भाखरी दो, केले ४-५, नीबू १ (मिल जाय तो)। स्वाद के लिये अन्य कोई पदार्थ खाने की इच्छा ही नहीं होती। फिर भी मेरा यह आहार बहुत अमीरी है, ऐसा महसूस करता हूं।

लकड़ी की थाली, कटोरी, आश्रम का एक लोटा, धोती, कम्बल और पुस्तकें—इतना ही परिग्रह रक्खा है। बंडी, कोट, टोपी वगैरह न पहनने का व्रत लिया है इस कारण शरीर पर भी धोती ही ओढ़ लेता हूँ। करघे पर बुना कपड़ा ही इस्तेमाल करता हूं।

स्वदेशी-परदेशी का सम्बन्ध मेरे पास है ही नहीं।

सत्य-अहिंसा-ब्रह्मचर्य—इन व्रतों का परिपालन अपनी जानकारी में मैंने ठीक-ठीक किया है, ऐसा मेरा विश्वास है।

× × ×

इस पत्र को पढ़कर बापू के मुँह से यकायक निकल पड़ा—गोरख ने मछन्दर को हराया। भीम है भीम !"

## इब्राहीम मियां

'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित यह स्कैच अतीत की एक झांकी है—

'ठंडा पानी !' और दो बड़े कांसी के कटोरों की टन-टन ध्वनि कान में पड़ते ही एडवर्ड पार्क या परेड के मैदान की घास पर पड़े हुए रात की हवाखोरी के शौकीन यह समझ लेते हैं कि इब्राहीम मियां आ रहे हैं। कमर पर पड़ी हुई चमड़े की मशक, एक हाथ में औरंजेबी हुक्का और दूसरे में बाबा आदम काल के कटोरे देखते ही लोग ऐसा महसूस करते हैं मानो कुआं स्वयं प्यासों के पास आ गया है। इब्राहीम मियां कोई अजनबी नहीं है उनके लिए, पूरी ६५ ईद मना चुके हैं दिल्ली में; लेकिन इस काम को करते हुए २५ साल ही हुए हैं।

लोगों का कहना है कि इब्राहीम मियां की मशक का पानी और हुक्के के दो कश तड़फती हुई आत्मा को भी शान्त कर सकते हैं। "इस हुक्के में क्या जादू किया हुआ था कि एक पहर में भी 'अनलोड' नहीं होता," बड़े मियां से मैंने दरियाफ्त करना चाहा। वह रुका और ऊपर से नीचे तक बहुत गौर से देखने के बाद बोला, "बाबू साहब ! जादू-वादू कुछ नहीं। हां बहुतों का ख्याल है कि मेरे तम्बाकू में किसी नौशीली चीज की पुट रहती है। मगर, हकीकत यह है कि उसकी कुटाई में मैं जरूरत से ज्यादा मेहनत करता हूँ। एक थान को तीन दिन तक बराबर कूटता रहता हूँ। बस, यही एक जादू मेरे पास है।" यह कहते ही उसने आगे बढ़ने की कोशिश की, मगर मेरी बढ़ती हुई जिज्ञासा को ताड़ते ही उसने मशक उतार कर सीधी की और हुक्का दूसरी तरफ रख कर घास पर बैठ गया। उसकी बातों से यह मालूम हुआ कि देश के बटवारे ने उसके दिल में कितने गहरे घाव किए हैं। साम्प्रदायिक दंगों में उसका सारा कुटुम्ब उससे जुदा होकर पाकिस्तान चला गया। "तुम भी क्यों नहीं उनके साथ हो चले गए" मैंने पूछा। उसने एक नजर जामा मस्जिद पर और दूसरी लाल किले की दीवारों पर डाली और बोला—"मैं इन दोनों का साथ छोड़कर नहीं जाऊँगा।"

# गाँधीजी का पृष्ठ

## कठोर भी, कोमल भी

गांधी जी के पुत्र श्री मणिलाल गाँधी ने लिखा है—

"मैं अत्यधिक लज्जा के साथ यह स्वीकार करता हूँ कि मेरे कारण बापू को १९१२ में सात दिन का उपवास करना पड़ा था। मैंने बापू को अन्धकार में रखने का प्रयत्न किया था। बापू तब जोहांसबर्ग में थे और मैं फोनिक्स में था। मेरे सम्बन्ध में उन्हें जो सूचनाएँ मिली थीं, उससे वे बहुत खिन्न थे। वे चाहते थे कि मैं अपने कृत्य को स्वीकार कर लूँ; परन्तु मैं अपनी बात पर डटा रहा और उससे इनकार करता रहा। अन्त में बापू का एक पत्र मुझे मिला, हस्ताक्षर करते हुए उन्होंने लिखा था "संतप्त बापू के आशीर्वाद।"

इसे पढ़कर मुझ से नहीं रहा गया। मैं सब कुछ स्वीकार कर लेना चाहता था, परन्तु मुझ में इतना साहस नहीं था। तब मैंने श्री कालेनबक को पत्र लिखते हुए उसके साथ वह पत्र रख दिया, वे हमारे परिवार के एक सदस्य-से थे। मैंने बापू से प्रार्थना की थी कि मुझे क्षमा कर दें।

मुझे बापू का तार मिला—"मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ, भगवान से क्षमा-याचना करो। वह तत्काल फोनिक्स आए और उन्होंने और मैंने एक साथ सात दिन का उपवास किया और श्री कालेनबक भी इस उपवास में हमारे साथ सम्मिलित होगये।

उस समय बापू फोनिक्समें एक विद्यालय का संचालन कर रहे थे, वहाँ अनेक बच्चे रहते थे और पढ़ते थे। इस घटना के परिणामस्वरूप उन्होंने सब बच्चों के माता पिताओं को इस घटना से सूचित किया और लिखा यदि वे चाहें तो अपने बच्चों को यहां से ले जा सकते हैं, परन्तु किसी ने अपने बच्चे को वहां से नहीं हटाया।

(२)

एक और घटना १९१६ के आरम्भ में भारत में घटी, जब कि मेरे मुँह से एक झूठ निकल गया। हमारे पार्श्ववर्तियों को यह एक तुच्छ-सी घटना प्रतीत हुई, परन्तु बापू के लिए यह हिमालय सदृश भूल थी। उन्होंने आश्रमवासियों के सम्मुख सारी सचाई प्रकट कर दी और मुझे अगले ही दिन आश्रम से निष्कासित कर दिया।

यद्यपि मैं कहीं भी जाने के लिए स्वतन्त्र था, परन्तु बापू ने कुछ सुझाव दिए। उन्होंने कहा मैं मद्रास की ओर जा सकता हूं जहां हाथ की कताई और बुनाई का कार्य होता है और वहां जाकर कार्य सीखूँ, परन्तु मुझे बापू के नाम का उल्लेख नहीं करना था। साथ ही बापू उपवास करने की सोच रहे थे इसलिए मैं रात भर बैठा उपवास न करने की प्रार्थना करता रहा और अन्त में उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। मैंने अपनी प्यारी बा और भाई देवदास से विदाई ली, दोनों सिसक रहे थे।

बापू ने एकदम खाली हाथ मुझे नहीं भेज दिया। उन्होंने मुझे गाड़ी का किराया और कुछ अतिरिक्त पैसे दे दिए।

# रतनलाल बंसल—एक जलती-जागती मशाल !

—श्री विश्वनाथ भटेले

सन् ५० से आगरे के साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन के दायरे में मैं आया। तब से रतनलाल बंसल और फ़िरोजाबाद के बारे में बीसियों दृष्टिकोणों की चर्चाएं सुनीं। 'सैनिक' सम्पादकीय विभाग में पालीवाल जी की महिमा के कारण सदैव ही राजनैतिक नेताओं और कार्यकर्त्ताओं का जमाव रहा है।

जब मैं वहां रहता था तब भी वहाँ जिले भर के जीव आया करते थे। एक दिन एक महाशय आए और फिरोजाबाद से एक स्थानीय साप्ताहिक निकालने का 'डिक्लेरेशन' दे गये। तय हुआ कि पत्र सैनिक प्रेस में छपा करेगा और फिरोज़ाबाद जाकर प्रकाशित होगा। वहीं से डाक द्वारा मैटर आवेगा और 'सैनिक' के सम्पादकगण ही पत्र को ठीक से सम्पाद दिया करेंगे। प्रकाशक महोदय को नेतागीरी की निष्काम-व्यस्तता से फ़ुर्सत नहीं थी। फिर भी सम्पादक की जगह उन्हीं का नाम छापा जाता था। हम लोगों ने पीछे-पीछे फुस-फुस की कि हम लोग वृथा उसका सम्पादन क्यों करें ? होते-करते स्थिति यहां तक पहुंची कि बेगार बन्द कर दी जावे। बस एक सप्ताह की हड़ताल रही और वह अख़बार नहीं निकला।

तीसरे ही दिन फ़िरोजाबाद के नेताओं का एक शिष्टमण्डल सीधा पालीवाल जी से मिला, सुना गया। पालीवाल जी प्रधान सम्पादक पाठक जी को फोन पर मिले और उसी दिन शाम को प्रधान सम्पादक जी ने बताया कि "तुम लोग इस क़दर 'पक्के श्रमजीवी' हो गए हो कि जरा-सा काम नहीं कर सके ! पालीवाल जी सख्त प्रसन्न हैं।"

हम सब उप-सम्पादकों में बलिया के निहायत, ज़हीन (सचमुच) साथी अमरकांत वर्मा ने मामले की नज़ाकत समझते हुए पाठक जी से शंका-समाधान स्तम्भ में पूछा—"नेताओं से इतनी प्रीति पालीवाल जी को है कि अपने (ही) सम्पादकों पर सख्त प्रसन्न हो गए। क्यों भला पाठक जी ?"

"नेताओं तक ही बात कहाँ रही ? फ़िरोज़ाबाद से आने वाले शिकायत-शिष्टमण्डल का नेतृत्व भाई रतनलाल जी

यंसल कर रहे थे।''–पाठक जी ने समझाया और चादर कन्धों पर कसकर लगे मुस्कराने। पं० शान्तिप्रसाद जी पाठक हमारे प्रधान सम्पादक तो थे ही, विभाग की सांस भी थे और दिलरुबा तो इतने कि सृष्टि के सारे रहस्य हँस-हँस के खोल दें।

बंसल जी का नाम सुनते ही हास्पीटल रोड वाली विनोद पुस्तक मन्दिर की आलमारियों में सजी दसियों पुस्तकों के कवर पृष्ठ घूम गए, जिनपर बंसल जी का नाम छपा था। सभी पुस्तकें क्रान्तिकारियों में लुप्त इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली थीं। जिस तारीख के साथ क्रान्ति की जरा-सी मारपीट जुड़ी होती थी, उस तारीख से दैनिकों में रतनलाल जी का लेख जरूर रहता था।

खैर, उस वक्त हम लोगों ने बंसल जी को लेखक व पत्रकार होने के नाते 'फिफ्त कालमिस्ट' स्वीकार किया और दूसरे दिन से पालीवाल जी के समक्ष जब उस अठपृष्ठा साप्ताहिक के नियमित रूप से फोकटी सम्पादन का भुजा उठा कर भरोसा दिलाना पड़ा, तो हम सब बहुत खिन्न थे। मुझे याद है शाम की चाय वर्मा ने सबको पिलाई थी और एक मौखिक प्रस्ताव पास हुआ था कि रतनलाल बंसल झूठे मार्क्सवादी और वर्गद्रोही हैं।'' शान्ति आन्दोलन के सिलसिले में भी कई दफा बँसल जी का नाम सुना गया। प्रगतिशील लेखक संघ की मीटिंगों में भी कई बार एक प्रगतिवादी कलमबाज़ के रूप में बंसल जी का तज़किरा हुआ। परन्तु हमारे मन पर बंसल जी का वही संस्मरण घूम रहा था। हालांकि बेचारे बंसल जी हमारे सामने उस घटनाक्रम में कहीं नहीं आए थे।

'सैनिक' की वह मण्डली भी कालप्रवाह के अनुसार फूट गई। कोई प्रिय गए मालवा, कोई गिरे गुजरात मगर पत्रिकाएँ और अखबार हम सबको जोड़े रहते हैं। सरिता में गोपूजा के नारे पर पैनी चोट करते हुए बँसल जी के कुछ लेख छपे तो हज़ार मील दूर से वर्मा ने मुझे लिखा—

"बँसल जी विषयक आगरा-प्रस्ताव पर पुनर्विचार होना चाहिए। लगता है कि साथी रतनलाल की नीति पुनः मुलरूप में बदल रही है। प्रत्येक परम्परा का वैज्ञानिक और युगानुरूप विश्लेषण बँसल जी की यथार्थवादी आस्थाओं को प्रगट करता है। तुम अपनी राय देना।"

मैंने कोई राय नहीं दी या शायद इस विषय को ही बहुत खास नहीं समझा। सरिता में लेख पढ़े तो जरूर तबियत-'गार्डेन गार्डेन' हो गई।

बात आई-गई हुई। सहारनपुर-प्रवास में रतनलाल जी की शाहखर्ची की बाबत बहुत किंवदन्तियां सुनी गईं। यह भी कि दिल्ली से कलकत्ता जाना हो तो रेल मार्ग से न जाकर बँसल जी हवाई जहाज़ से जाना ही पसन्द करते हैं। भले ही कलकत्ता से वापस दिल्ली आने का किराया जेब में न बचे। जेबमें है तो जश्न लूट। गाँठ में मत बाँध, क्योंकि जब फिर जारूरत होगी तब फिर जेब गरम हो जाएगी। आजकल के राई-रत्ती अर्थतुला पर रखे ज़माने में भाई रतनलाल शानदार पूँजीद्रोही और अपरिग्रही

समझ में आए। साथ ही निश्चिन्त आशा वादी। आएगा, आएगा, आएगा आने वाला!

रतनलाल जी से साक्षात्कार करने की बहुत तड़पदार तमन्ना उत्पन्न हो गई। अनजाने-जाने-पहचाने, सुनाम-अनाम क्रान्तिशिखी धलिपन्थियों पर साधना जैसी निष्ठा से काम करते जाने वाला, शाहंशाह वैरागी और जीवन्त वैज्ञानिक दृष्टि वाला रतनलाल वँसल कौन है, कैसा है? फ़ीरोज़ाबाद हमारे इटावे से बहुत ज्यादा दूर भी नहीं है। इतने पर भी मैं उसे न जानूँ—यह आत्मग्लानि थी मेरे लिए। एक दिन दिल्ली के रेलवे बुकस्टाल पर मशाल नाम की पुस्तिका देखी, जिसमें वँसल जी के चार लम्बे लेख संगृहीत थे। ख़रीद ली और सहारनपुर ले गया। भारतीय जनजीवन का 'हिन्दू' नामी जिरगा जिन मूढ़-रूढ़ प्रथाओं को बंदरिया के मरे बच्चे की तरह सीने पर लगाए बावला बन कर कूद-फाँद रहा है; मशाल के लेख उन्हीं के लिए थे। मशाल आइना थी अन्धों के लिए। 'मशाल' चकाचौंध थी चमगादड़ों के लिए। 'मशाल' रहबर थी अन्धेरे में बढ़ने वालों के लिए। रतनलाल जी राम के आदमी जँचे। एक दिन मैं मच्छर का रूप धर कर पूज्य प्रभाकर जी के साधना-कक्ष में घुस गया। एक से एक बेनज़ीर पुस्तकें उस कमरे में चुनी हुई हैं। मेरे हाथ पं० बनारसीदास जी की एक संस्मरण पुस्तक लग गई। प्रारम्भ में श्री रतनलाल वँसल ने चौबे जी का स्कैच लिखा था। फिर आगे चतुर्वेदी जी की कलम से निकले देश की बीसियों विभूतियों के रेखाचित्र दिए गये थे। रतनलाल जी ने बड़ी खूबी के साथ 'देखने वाले की नज़र देखी थी। बँसल जी को उस दिन मैंने अच्छा रेखा-चित्रकार स्वीकार कर लिया।

बहुत दिन बाद जब मैं अपने नगर की नगरपालिका का चेयरमैन चुना गया तो मुझे रतनलाल बँसल का एक नीला लिफ़ाफ़ा मिला। हमारे दरम्यान यह प्रथम पत्र था। बँसल जी ने मुझे बधाई भेजकर द्वार खोल दिए थे। वह पत्र रतनलाल जी की धड़कन को समझने का एक मात्र स्टैथिस्कोप है —

"पूर्व परिचय या घनिष्टता की चिन्ता किए बिना मैं आपको यह पत्र केवल इसलिए लिख रहा हूं कि आपके निर्वाचन से मुझे जो असीम प्रसन्नता और सन्तोष प्राप्त हुआ, उसको प्रगट किए बिना मैं रह नहीं सकता।

इस स्पष्टता के लिए आप क्षमा करेंगे कि मेरी प्रसन्नता का आधार एक साहित्यिक का निर्वाचन मात्र नहीं है। श्री मैथिलीशरण जी गुप्त, दिनकर, नवीन अज्ञेय यदि निर्वाचित हो जाते तो मुझे सन्तोष होना दूर, उल्टे कुछ असन्तोष ही होता किन्तु आप के निर्वाचन को मैंने जनविरोधी-प्रतिक्रियावादी शक्तियों पर एक स्वतन्त्र निर्भीक और सबसे बड़ी बात यह है कि जनवादी व्यक्ति की विजय के रूप में ग्रहण किया है।

दिन रात भूख की आग में जलते रहने वाला मैं एक कलम का मजदूर इस तथ्य पर पहुँच सका हूं कि समाज-व्यवस्था बदलने के लिए वर्तमान को गहरी पटक देना आवश्यक हो गया है

और बिना समाज-व्यवस्था बदले मेरी अपनी समस्याएँ भी हल नहीं होंगी। अतः आप की विजय यह संकेत देने वाली एक शुभ घटना है कि मैं और मेरे बच्चे आज जिस अभावाग्नि में जल रहे हैं, उसको बुझाने के लिए जनता का प्रयाण आरम्भ हो गया है। मेरे अपने जनपद में भी उस प्रयाण की पहली मंजिल की बाधाओं पर जनता विजय प्राप्त कर रही है। अतः व्यक्तिगत, ठेठ व्यक्तिगत कारणों से निर्वाचन में आप की विजय मेरे लिए एक बहुत ही महत्व-पूर्ण एवं आनन्ददायक सूचना है।··· ··
आशा है एक अपरिचित से व्यक्ति के उपरोक्त शब्द आप उसी भावना से ग्रहण करेंगे जिस भावना से यह लिखे गए हैं और साथ ही यह भी अनुभव करेंगे कि आज अभावग्रस्त बुद्धिजीवी वर्ग वर्तमान समाज व्यवस्था को बदलने के लिये कितना व्याकुल है !"

यह खत पाने के बाद फीरोजाबाद न जावे-ऐसा निपट हरामी कौन होगा। स्टेशन से "जनवादी लायब्रेरी" पहुँचा। एक क्लीनशेव तरुण मिला। यही रतनलाल बंसल थे। बंसल जी ने एक बगुले के पंख की सफेद धोती लाकर दी कि उसे पहनकर नहा डालो। मैं मजा देख रहा था कि जितनी साफ धोती को नहा कर भिगो दूंगा, उतनी साफ तो मेरी धोती नहीं है जिसे नहाकर पहना जाएगा। मगर नहाया और बंसल जी के साथ उनके घर खाना खाने गया। देखा कि बच्चे-बच्चियों की संख्या आधे दर्जन से कम नहीं है। यह तरुण कैसा ? तरुण दिखाई देने वाले बंसल जी दर-असल प्रौढ़ हैं। शायद उनकी पैसा-फूँक 'लग्ज़री' ही उन्हें तरुणाई और ताजगी दिए हुए है।

अभी कल ही उनकी चिट्ठी आई। बताया गया कि अब दिल्ली हमेशा-हमेशा के लिए छोड़ दी और आगे से फिरोजाबाद ही रहना है। खत पढ़कर विचार बना कि पं० बनारसी दास जी भी यदि ऐसी घोषणा कर दें तो फिरोजाबाद की बहुतेरी समस्याएं खुद ब खुद हल हो जाएँ। क्योंकि चतुर्वेदी जी और बंसल जी दोनों मिलकर फ़िरोज़ाबाद हैं और सच मानिए इन दोनों पुण्यात्माओं में ही फ़िरोज़ाबाद की पूरी-पूरी झांकी है।

यों भीतरी रतनलाल को मैं एक मशाल मान पाया हूँ जो अर्से से खुद-बखुद होकर जल रही है। अन्धों को दिखाई न देने वाली, चमगादड़ों के लिए परेशानी पैदा करने वाली और अन्धेरे में भी बढ़ते जाने वालों के लिए रहबर का काम करने वाली इस मशाल का अभिनन्दन !

---

ईश्वर को जान कर भी उससे प्रेम न करना असम्भव है। जो परिचय प्रेम-शून्य है वह परिचय ही नहीं।

—वायजीद

# के स्वयं दुश्मन न बनिये !

—श्री देव शर्मा

बैठो, खड़े हो जाओ। ऐसे ही उसे आज्ञा देते रहे और वह बच्चा उनकी आज्ञा का पालन करता रहा। फिर मुझ से कहने लगे कि क्या आप इसके कान छुड़ा सकते हैं? या उससे कुछ भी करा सकते हैं?

उस बच्चे का पिता भी हमारे साथ ही खड़ा था, परन्तु बच्चा इतना डरा हुआ था कि अपने बाप की उपस्थिति में भी डर के मारे काँप रहा था।

धिक्कार है इस प्रकार के प्रभाव-प्रदर्शन को। यह तो डरा कर अविकसित बच्चों की आत्मा का हनन करना है—उनकी इच्छा शक्ति का अन्त करना है, जिससे उनमें स्वयं कार्य करने का आत्म-बल समाप्त हो जाता है।

## नकारात्मक नहीं, सकारात्मक

आधुनिक विद्वानों का मत है कि बालक को सकारात्मक आदेश देना चाहिए कि ऐसा करो, यह ले जाओ, यह करो आदि। इसके विपरीत ऐसा न करो, वहाँ न जाओ, यह न खाओ आदि नकारात्मक आदेश नहीं देना चाहिए।

साधारणतया जिस कार्य को करने के लिए मना किया जाता है, उसे करने की उत्सुकता बच्चों में बढ़ जाती है। वे उन कार्यों को न करने के कारण जानने के लिए व्यग्र हो उठते हैं। यदि नियंत्रण बहुत अधिक कर दिया जाता है और उनकी इच्छाओं का दमन किया जाता है, तो ये मानसिक ग्रंथियां बन जाती हैं और ये दबी इच्छाएँ किसी न किसी रूप में पूर्ण होने का प्रयत्न करती रहती हैं।

## अपने को ठीक कीजिए

बच्चों में दूसरों की देखा-देखी कार्य करने की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती है। इसलिए बच्चों को आप जैसा बनाना चाहते हैं, उसके अनुसार आपको बनना ही पड़ेगा। एक बार गर्मियों की छुट्टी में मैं अपने एक मित्र के यहां गया। मेरे मित्र का परिवार आर्य समाजी है। नित्य प्रति प्रातः और सायंकाल संध्या होती है। रविवार को नियमानुसार हवन होता है।

इस परिवार में एक छोटी-सी लड़की है। इसका नाम संतोष है और यह लगभग दो वर्ष की ही है। संतोष अभी ठीक से नहीं बोलती, परन्तु समझती खूब है। वैसे ही अपने माता-पिता के साथ एक आसन पर बैठ कर अपने माता-पिता के समान ही मन ही मन कुछ बुदबुदाती रहती है, जिसे मैं नहीं समझ सकता था, परन्तु उठते समय तुतलाते हुए उसने ॐ शान्ति, ॐ शान्ति कहा। साफ है कि बच्चों पर उनके परिवार के आचरण का गहरा प्रभाव पड़ता है। मेरे हृदय में इस

आदर्श परिवार के लिए एक विशेष स्थान बन गया है।

इसके विपरीत आप थोड़े समय के लिए उस परिवार की भी कल्पना कीजिये, जिसमें पति-पत्नी, सास-बहू और बाप-बेटे में भी प्रति दिन कलह होता रहता है। परिवार के सदस्य किसी नियम से नहीं रहते और छोटी-छोटी बातों में भी झगड़ा कर बैठते हैं। परिणामतः मन-मुटाव इतना बढ़ जाता है कि परिवार के सदस्य एक-दूसरे से ईर्ष्या और द्वेष करने लगते हैं। अब आप सोच सकते हैं कि इस प्रकार के परिवार में जिस बच्चे का जन्म होगा, उसका विकास किस प्रकार का होगा ?

वास्तव में प्रारम्भिक स्कूल का महत्व कालेज और यूनिवर्सिटी से कहीं अधिक है। बच्चों के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि हमारे प्राइमरी स्कूलों की व्यवस्था ठीक हो। उनमें खेल-कूद तथा पठन-पाठन के साधनों का अभाव न हो। प्राइमरी स्कूलों में अच्छे पुस्तकालयों का होना अत्यन्त आवश्यक है। बच्चे स्वभावतः प्रति दिन नई-नई पुस्तकें चाहते हैं। उनकी इस इच्छा की पूर्ति एक अच्छे पुस्तकालय की व्यवस्था से ही सम्भव है।

इससे बच्चों में पुस्तकालयों में जाने की अभिरुचि भी बढ़ेगी, जिसका होना एक भावी विद्वान के लिए परमावश्यक है। यह खेद की बात है कि विश्व-विद्यालयों में भी विद्यार्थियों में पुस्तकालय जाने की रुचि का अभाव है। यह कहना अनुचित न होगा कि शिक्षा का स्तर इसी कारण गिर रहा है कि यहां अच्छे पुस्तकालयों का अभाव है।

## उन्हें अपना सम्पर्क और प्यार दीजिए !

हमारे सामाजिक व पारिवारिक जीवन में विशेष कर सामूहिक-परिवार प्रणाली में बाप अपने पुत्र से बहुत कम बोल-चाल रखते हैं। वे अपने बच्चों से दूर-दूर ही रहते हैं और यदि बोलते हैं, तो बहुत कम। इस प्रकार के व्यवहार से बच्चों के अन्दर बहुत-सी कमियां रह जाती हैं।

एक बार हमारी मनोविज्ञान-शाला में एक सज्जन आये। उनका लड़का हकला-हकला कर बोलता था। कई दिन उपचार के बाद लड़के ने बतलाया कि मेरे मां-बाप मुझे अपने साथ बाजार नहीं ले जाते, वे मुझे प्यार नहीं करते और मुझे त्यौहारों पर भेंट नहीं देते। लड़का ऐसा कह कर रोने लगा।

बाद में जब उसके मां-बाप उसे टहलने-घूमने ले जाने लगे और उस पर अधिक स्नेह प्रदर्शन करने लगे, तो उसकी यह बीमारी धीरे-धीरे कम होने लगी।

मां-बाप के दूर-दूर रहने से बच्चों में एक झिझक-सी पैदा हो जाती है। वे अपने विचारों को ठीक-ठीक व्यक्त नहीं कर पाते। वे जो कार्य करना चाहते हैं, उसे छिपा कर करने का प्रयत्न करने लगते हैं। परिणामतः उनमें सदा मानसिक अशान्ति रहती है। मानसिक अशान्ति बढ़ने के कारण बाद में उन्हें अपना जीवन भार स्वरूप लगने लगता है।

# नये लेखकों के सम्बन्ध में

## हमेशा संक्षेप में लिखिये !

नए लेखक के लिए सबसे घातक चीज है, रचनाओं को व्यर्थ विस्तार दे देना। यह नए लेखक की भूल नहीं है, मजबूरी है, पर मजबूरियों को अपने रास्ते से हटने के लिए मजबूर करना ही तो सफलता की कुंजी है।

नए लेखक के मन की दशा कुछ ऐसी होती है कि जैसे साइकिल पर चढ़ना सीखने वाले की। उसे यह पता नहीं होता कि हाथ कैसे जमाए, पैर कैसे चलाए और निगाह कहां रक्खे। इस लिए वह न तो हाथ-पैरों का सन्तुलन ही ठीक रख पाता है, न आंखों का ही। नतीजा यह होता है कि वह लड़खड़ा जाता है।

इस लड़खड़ाहट से बचने का उपाय है, ढीला न होना, अपने को साधे रहना। नए लेखक के लिए भी यही बात है कि अपने को साधे रहे और व्यर्थके विस्तार में पड़कर, अपनी रचना को पोपली या शिथिल न होने दे।

सबसे पहला सूत्र है—भूमिका न बान्धो। लेख आरम्भ करते समय इधर उधर न बहको और सीधे जो बात कहनी है उस पर आ जाओ। बस आधा खतरा तो समझो दूर हुआ।

दूसरा सूत्र है—बार बार पढ़ो। लिखने के बाद अपनी रचना को बार-बार पढ़ो और जो कुछ फालतू लगे उसे काटते जाओ। यह बार बार पढ़ना एक ही जगह बैठकर न हो। एक बार किसी बाग में बैठकर पढ़ो, तो दूसरी बार किसी नदी-नहर पर और तीसरी बार किसी खेत पर।

हाँ बाँचो मत, पढ़ो। धीरे धीरे और समझकर। हर पैराग्राफ से पूछो—"तुझे काट दूँ, तो क्या हर्ज है भाई ?" मोह कहता है—"कैसे काट दें, यह तो बड़े काम का है।" ज्ञान कहता है—"काट कर तो देखो, चमक आ जाएगी।"

ज्ञान की वाणी सुनो और उसे काट दो और यों ही बार बार काटो। कार्य का विस्तार छँट जाएगा और रचना में चमक आ जाएगी।

एक बात और—बार-बार पढ़ने के बीच में थोड़ा समय अवश्य दीजिए—कम से कम एक दिन का। एक सप्ताह और भी अच्छा और एक मास तो बस अमृत ही है।

पोप ने कहा था—"शब्द पत्तों के

समान हैं। जहाँ वे बहुतायतसे रहते हैं, वहां फलरूपी ज्ञानयुक्त बातें कठिनाई से दिखाई पड़ती हैं।"

जान नील की राय है—"जो कुछ तुम्हें कहना या लिखना हो, उसे थोड़े में ही कहो या लिखो।"

चार्ल्स बक्सटन का मन्त्र है—"एकाग्रता से ही विजय प्राप्त होती है !'

महान लेखक स्वेडमार्डन का अनुभव है—"संक्षेप में अपनी बात कह डालो। साँस के वेग से भी दूर हट जाने वाली वायु को एक जगह खूब दबाकर रखने से उसमें इतनी ताकत आ जाती है कि अपने सामने की चट्टान के भी टुकड़े-टुकड़े कर देती है। यदि तुम कोई महत्वपूर्ण काम करना चाहते हो, तो एकाग्रता पर ध्यान दो। यदि तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारी बातों से लाभ उठायें तो उसके सार को एकत्र करके रक्खो।

'न्यूयार्क ट्रिब्यून' में होरेस ग्रील जिस विषय पर एक लेख लिखता था, उसी विषय पर थरलीवीड एक अन्य पत्र में कुछ शब्द ही लिख देता था और उसके ये शब्द चिनगारियों का काम करते थे।

साइरस फ़ील्ड्स अपने मुलाक़ातियों से कहा करता था—"जो कुछ आप को कहना हो, संक्षेप में कहिए। समय अमूल्य है। ठीक समय पर काम निकालना, ये तीनों ही जीवन की कुंजियां हैं।

लम्बी चिट्ठी मत लिखा कीजिए। एक काम काजी आदमी के पास उसे पढ़ने के लिए समय नहीं है। ऐसी कोई भी बात नहीं है, जो एक कागज़ पर न लिखी जा सकती हो।

बरसों पूर्व जब मैं अटलान्टिक महासागर में समुद्री तार डालने में लगा हुआ था, तब मुझे एक महत्वपूर्ण पत्र इंग्लैण्ड को लिखने का मौका आया।

मुझे मालूम था कि रानी और प्रधान-मन्त्री उसे पढ़ेंगे। अपने विचारों को मैंने लिखा कई कागज़ भर गये।

मैंने उसको बीस बार पढ़ा। हर बार कुछ न कुछ अनावश्यक शब्दों को दूर कर देता था। होते होते सारी बात एक कागज़ के टुकड़े में आगई। फिर मैंने उसे ठीक करके समय पर भेज दिया। उसका उत्तर संतोषजनक आया। क्या आप सोचते हैं कि लम्बा पत्र भेजता, तो उसका भी यही फल होता ? उस पत्र को पढ़ने के लिए उनके पास समय कहां से आता ? लेखक के लिए संक्षेप एक मूल्यवान वस्तु है।"

> अगर हम सच्चा जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो मानसिक आलस्य छोड़ कर हमें मौलिक विचार करना होगा। परिणाम यह होगा कि हमारा जीवन बहुत सरल हो जायेगा।
>
> —गांधी

# जीवन के झरोखे से

## आपरेशन के समय

श्री जयदयाल डालमिया देशके एक उद्योगपति हैं। बातचीत में सात्विक हैं, विद्वत्ता का सम्मान करने वाले हैं, एक मित्र ने एक बार उन्हें 'लछमण जैसा भाई' कहा था, पर अभी उस दिन बातों-बातों में उनके एक आत्मीय ने सुनाया कि उनके पुत्र श्री विष्णु जी के पेट में बड़ा आपरेशन हुआ, तो परिवार के सब लोग चिन्तित रहे और वे अपने मूवी कैमरे से आपरेशन के फोटो लेते रहे। सुनकर सोचा-ठीक है ऐसे स्थिरप्रज्ञ मनुष्य की ही लछमणसे उपमा दी जा सकती है!

## खेद क्यों भला ?

'आज' में बर्मा की यात्रा पर बाबा राघवदास का एक लेख छपा। बर्मा तब भारत का एक प्रान्त था और दोनों का शासन अंग्रेजों के हाथ में था।

सरकार को उस लेख में राजद्रोह की गन्ध आई और सम्पादक के नाते उसने श्री पराड़कर जी के विरुद्ध मुकदमा चला दिया।

अदालत में मैजिस्ट्रेट ने उनसे पूछा—"क्या आप उस लेख को वापिस लेने और उसके प्रकाशन पर खेद प्रकाश करने के लिए तैयार हैं ?"

पराड़कर जी का उत्तर था—"श्रीमन, एक स्वाभिमानी, उत्तरदायी और विवेकशील पत्रकार को जो करना चाहिए, वही मैंने किया है। ऐसी दशा में खेद का प्रकाशन नहीं, मर्दानगी के साथ उसका नतीजा भोगना चाहिए और उसी के लिए मैं यहां उपस्थित हूं।"

## जान पर खेले !

नदी में पूरी तरह बाढ़ आई हुई थी और बंगाल के चौबीस परगना जिले में पलिस के कुछ सिपाही कहीं जाने के लिए नाव से अगन बोट पर चढ़ रहे थे। पाँव चूका कि एक सिपाही नदी में जा गिरा—देह पर पूरी वर्दी और कन्धे पर बन्दूक, तैरने का ज्ञान नहीं, सिपाही बह चला।

दूर खड़े सिपाही श्री लछमीनाथ पाण्डे ने देखा और धारा में कूद कर उस डूबते सिपाही को थाम लिया, पर वेग इतना कि दोनों बह चले। सबने समझा कि दोनों गए और कुछ ने चिल्लाकर कहा कि पाण्डे इसे छोड़ दो, पर पाण्डे उसे थामे रहा, तैरता रहा और बचा लाया, पाण्डे किनारे पर थोड़ी देर ठहरा और फिर पानी में कूदा। तैरना ही यमराज से लड़ना था, फिर डुबकी लगाना और बन्दूक की तलाश करना तो तारों का तोड़ना था, पर वह जुटा रहा और जब किनारे पर आया, तो बन्दूक भी उसके साथ थी।

इस साहस के लिए उसे वीरता का पुलिस-पदक दिया गया है और विशेष भत्ता भी।

**रोज़गार** (पृष्ठ ११ का शेष)
के जूतों की हिफाजत के लिये कमची लिए बैठे रहते हैं; फिर वे जो इन सबकी खोज लगाते हैं; फिर पुलिस वाले कि—किसी को उनके बारे में गुमान भी नहीं होता कि वे क्या करने वाले हैं; फिर यहां चोर बाजार का माल बेचने वाले और उनके फौरन बाद चोर बाजार के लिए 'माल' खरीदने और पहचानने वाले आये। आबादी बढ़ती गई; रोजगार पैदा होते गये।

इस तरह एक मज़ार से न जाने कितने सौ आदमियों ने अपना रोज़गार पैदा कर लिया। इसी तरह ये दूसरी इमारतें हैं; हरेक से बेशुमार रोज़गारों का सिलसिला दूर तक चला गया है।

यह सैनीटोरियम—इसके अन्दर घिनौनी बीमारियों के रोगी अपना उपहार दूसरों को बांटने आये हैं। शहर के कोलाहल पूर्ण कारोबार से फुर्सत हासिल करके वे यहाँ हर दूसरे-तीसरे महीने मेहमान रह जाते हैं।

यह अनाथालय—यहाँ कुछ अनाथ पाले जाते हैं। शिष्टता और सदाचार के अनाथ बुद्धि के अनाथों के हवाले कर देने तक; इससे भी शहर के कई दलालों ने अपना रोज़गार कायम कर लिया है।

यह बड़ा-सा अहाता, जो अक्सर लोगों के बेघर होने पर भी आज खाली पड़ा है, कभी-कभी चोरी के माल और चोर बाज़ार के अनाज या कपड़े से भरा हुआ भी होता है और कई आदमियों ने इससे अपना रोज़गार कर रक्खा है।

किरायेदार? हाँ, इन नौजवानों में से कुछ ऐसे हैं जिन्हें शराब की भट्टी चढ़ाने का पूरा नुस्खा याद है और पुलिस को चकमा देने की तदबीरें भी। ऐसा न होता, मगर और होता भी क्या? इन किरायेदारों को सैनीटोरियम अनाथालय, मालगोदाम और खास तौर से पीर साहब के मजार ने पैदा किया है और पाला है। ज़रूरत ईजाद की माँ होती है और हर ईजाद कई रोजेदारों की दाया।

तीन झोंपड़ों में एक झोंपड़ा जिसके आगे चमन जैसी कोई चीज़ है, एक क्लर्क का है, जो दफ्तर से छटनी पर निकाला गया है। बेरोज़गार होगा आजकल। दूसरे दो झोंपड़ों में चपरासी का खानदान है, दूसरा रेलवे मज़दूर का। दोनों घरों मे बदहाली है। देखिये इनमें से कौन-कौन निकल कर चौथी इमारत के किरायेदारों में पहुँचता है।

एक जो खेत है, वह यहाँ ऐसे वक्त से चला आता है कि किसी को याद नहीं कब से। न जाने ज़मीन का यह टुकड़ा अब तक कितने रोज़गारों को जन्म दे चुका है और इनमें से कितनों ने नया रोजगार पैदा कर लिया है। जब इन चार-पांच इमारतों ने बहुत से रोजगारों का रास्ता पैदा किया, तो अन्दाजा किया जा सकता है कि और जो इमारतें पटी पड़ी हैं—स्टाक एक्सचेन्ज से लेकर जेलखाने तक—उनमें नये-नये रोजगार पैदा कर लेने की कितनी गुंजायशें होंगी।

दूर दराज के देहात से लेकर बड़े शहर के व्यापार केन्द्रों तक ऐसे-ऐसे रोजगार फैले हुए हैं, जिनका नाम रखने की रस्म अदा नहीं हुई। मैं कितने आदमियों को जानता हूँ, जिनका रोजगार है नक़ली दवाएं तैयार करना

और उन पर असली लेबिल लगा कर सप्लाई करना। और फिर इसी एक रोजगार की शाखायें हैं, जिनका एक सिरा दूकानदारों से, दूसरा सरकारी आदमियों से मिलता हो।

मैं कितने ही आदमियों को जानता हूं, जिनका रोजगार है सट्टा लगाना और सट्टे की बोली लेना; और फिर यह रोजगार भी शाख-दर-शाख चला गया है। कितने ही लोग हैं, जिनका रोजगार है पूंजीपतियों से आत्मिक चिकित्सा के प्रमाण-पत्र लेना और गरीबों को वे सर्टिफिकेट दिखा कर अपना रोगी बनाना।

मैं कितने ही आदमियों को जानता हूँ, जिनका रोजगार है बेरोजगारों को रोजगार दिलवाना, उनसे फीसें वसूल करना और खुद को अदालत से बचाये रखना—यह भी एक रोजगार है।

कितने ही आदमी जो जागीरदारों और जमींदारों के सिरहाने यासीन पढ़ते थे, रोजगार में लगे हुए हैं, कितने ही जो कल तक उनके सेवक और उन पर जिन्दगी न्यौछावर करनेवाले थे (इनमें किसानों पर हमला करने वाले भी शामिल हैं।) आज उन्हें आखिरी बार ठग लेने के रोजगार को अपनाकर बैठ गये हैं। कितने ही लोग क्लबों में 'रमी' और 'फ्लैश' के रोजगार से ऐसे सन्तुष्ट हैं कि जिसे कहिए!

कितने ही हैं, जिन्होंने आम बेरोजगारी के मातम करने, चन्दे वसूल करने और कर्ज लेने का रोजगार खोज निकाला है।

कितने ही लोग हैं कि जब वे कोई नया रोजगार पैदा न कर सके, तो उन्होंने रोजगार वाले दोस्तों के सामने अपनी बे रोजगारी को इस तरह पेश किया कि वह खुद एक रोजगार बन गई। कितने ही लोग हैं जिनका रोजगार इससे सम्बन्धित है कि चलते हुए रोजगार बन्द हो जायें; मगर ऐसा रोजगार ढूंढ़ निकालने के लिए नजर रखने और खतरा सहने की जरूरत है। बम्बई और मद्रास में शराब बन्दी हो जाने से कुछ लोग जरूर बेरोजगार हुए, मगर उनसे ज्यादा लोगों ने इसी रोजगार के खात्मे से नये रोजगार पैदा कर लिए। जिन लोगों को ये रोजगार भी पसन्द न आए, उन्होंने गिरोह बना लिए और पैदल हजार-हजार मील का सफर करके दस-दस कदम पर नमाजें और दरूद पढ़ना शुरू कर दिया। इस तरह एक ऐसा रोजगार पैदा हो गया, जिसका किसी को वहमोगुमान भी न था।

और गरज यह कि ऐसे ही हजारों रोजगार निकल पड़े हैं। दो समाज और दो व्यवस्थायें मृत्यु शैया पर पड़ी हैं। तीसरी व्यवस्था के अन्तिम दिन हैं। तीन-तीन मौतों ने कितने लोगों को काम से लगा दिया है—हिसाब मुश्किल है।

जब लोग कहते हैं—बेरोजगारी आम हो रही है, तो मैं सोचता हूं यह बात बिना शर्त न कहनी चाहिए। बेरोजगारी सिर्फ उन लोगों में आम हो रही है, जो ईमानदारी से कुछ रोजगार करना चाहते हैं; जो मेहनत से रोटी खाना चाहते हैं, वरना वैसे देखो तो रोजगार की क्या कमी है—उस मालिक का एहसान है भाई!

## लोकसभा के अधिवेशन में

( पृष्ठ १५ का शेष )

और तुल्ला एक साथ बोलने लगे हैं। झम्मन कह रहे हैं कि—"नोट देंगे कहां से ? घर में तो नोट का नाती अधन्ना भी नहीं है।"

तुल्ला कह रहा है—"वोट पड़ते बखत कैसा मजा आता है।"

अध्यक्षा ने तुल्ला की बात उठा ली—"वोटन के दिनन में ऐसा लगता है, जैसे व्याह हो रहे हों। भीड़-सभा-रेडियो सब बजते हैं। और तो और, घर के लड़के खाने-नहाने की सुध भूल जाते हैं।"

सदन को जनरल-एलैक्शन याद आ गया है। उस समय के संस्मरण सभी सदस्यों के पास हैं, लेकिन सदन के नेता ने दूसरा प्रस्ताव पेश कर दिया है—"आज कोआपरेटिव के भट्टे से अव्वल ईंटें मंगाई थीं, सो हरामजादों ने चौथाई खंजड़ दे दिया।"

स्पीकर के पद पर लालाइन ही बैठी हैं। वे ऐसी ही लग रही हैं जैसे सदन की बेमाता या सृष्टि में अन्नपूर्णा। उन्होंने सदन के नेता की बात बहुत पसन्द की है शायद ! वह मुंह-आंखें फाड़ कर बोलीं—"हाय तभी ठठरी उठा सुपरवाइजर कह रहा था कि इस साल भट्टे में दस हजार रुपया बचेगा। सोई तो हम कहें, अकि भट्टा में बड़ी रकम बियाती (बच्चे देती) है। हमीं—तुम पर ठग-मूंस लेते हैं यह लोग ?"

दिन भर आलू खोदने के बाद आलू-रोटी खाकर बीधे काछी डकारते हुए आ गये। लालाइन की बात का छोर उन्होंने भी पकड़ लिया। बीधे खत को देख के मजमून भांप लेते हैं। बोलते चले आए—

"हमने सैकिण्ड किलास ईंट भराई थी, सो सुपरवाइजर ने सेउरा (अधपकी) ईंट दे दी—"

सदन के नेता को बोलना पड़ा—"उन्होंने बीस हजार की बिल्डिंग खड़ी करदी है। हजार आदमी उसमें बैठ सकते हैं। चाहो तो बारातें ठहराओ।" झम्मन तड़पे—"अरे न कहूँ। अभी उस दिन बादल-ओले बरसे-गरजे थे। ठण्ड कित्ती थी उस दिन ? सो कल्लू की बारात इमली के नीचे ठिठुरती रही; लेकिन सुपरवाइजर ने बिल्डिंग में घुसने न दिया।"

सदन को जैसे कोई बुरा सपना याद आ गया। एक ठण्डा गुस्सा बेचारगी के बकस में तड़पने लगा है। स्पीकर ने रूलिंग दे दी—"सुपरवाइज़र को ईसुर छिमा नहीं करेगा। तुमाई सौगन्ध ! हाँ, भगवान के न्याय पर भी सदस्यों का क्या चारा ? दूसरी बेचारगी सदन में विलाप कर उठी।

जोरावर भुर्जी भी बीड़ी पीते हुए आ गए। बिना किसी की सुने अपनी ही कहते चले आ रहे हैं। उनकी आँखें लाल हैं। शायद वे वामपक्षी हो रहे हैं। वे कह रहे हैं "हमारा लड़का बारह साल का हो गया लाला फिर भी जबरिया तालीम (अनिवार्य शिक्षा) वाले नोटिस निकालते हैं। लड़के को लाला हमने भाड़ पर बिठलाना शुरू कर दिया है। फसल के दिन हैं। दो चार मन अनाज भुनाई करके इकट्ठा कर लेगा, तो

बरसात कट जाएगी। अकेले तो गिरस्ती धकेली नहीं जाती दद्दू !"

सदन के नेता ने जोरावर पर शह-जोर व्यंग मारा—"इसमें जबरिया वालों का क्या कसूर है ? पढ़ लिखकर तुम्हारा लड़का बाबू होगा, तो सारी तनखा जबरिया वालों को दे देगा ? इसीलिए तुम्हें पढ़ाने की जरूरत नहीं। क्यों जोरावर ?"

जोरावर चोट खा गए। झम्मन ने नेता के व्यंग में सहमति की हवा फूंकी—"जे, तो तुम्हारे भले के लिए करते हैं जबरिया वाले। तुम लड़के को पढ़ाते नहीं और गिरस्ती के नौ मन सूल में फांस दे रहे हो। तुम बाप हो कि दुश्मन ?"

तुल्ला लाला श्यामलाल की जमीन जोतता है। वह उनकी बात पर अपनी पट्टी चढ़ा रहा है—"भला करने पर भी बुरा समझा जाता है आजकल। जमाने में जस नहीं रहा। कुत्ते को गुड़ की बट्टी फेंको, वह समझता है ईंट मारी।"

लालाइन आठ बच्चों की अम्मा है। लाला शामलाल की पत्नी है, लेकिन आज तो सदन की अध्यक्षा हैं। शायद इसीलिए उन्होंने पिटते हुए जोरावर का जबरदस्त समर्थन किया—"अरे, सब झूठ। जब लो लड़का पढ़-लिख के तैयार हो, तब लों बाप—मतारी भूख न मर जाएं। आज खाय कल का डौल नहीं. तुम कहते हो कि वेद पढ़ायेंगे। एक कमाने वाला, आठ खाने वाले और आजकल की तेजी। बोलो कैसे काम चले ? ऊपर से आजकल काम नहीं। हाथ पै हाथ धरे बैठे रहो। पेट के लाले हैं घर-घर।

सदन हार गया। बेकारी-बेहाली और काले भविष्य की हकीकत सबको दिखाई दे गई। सभी सदस्यों को अपना-अपना चूल्हा याद आ गया। पौष्टिक-डाइट के बिना सूखते बाल-गोपाल सबकी नजरों में घूम गए। लगा कि सब सहम गए हैं।

सदन के नेता का कर्त्तव्य है कि मायूसी को ज्यादा देर सदन में न रहने दे। इसीलिए लाला श्यामलाल ने अट्टहास करने के लायक चेहरा बनाकर ऊंची आवाज में कहा—"लालाइन तुम कहती तो ठीक हो कि पेट कि लाले पड़े हैं, पर लाले पड़ते हैं तो वह नाजायज पेट होता है भई पंचो !"

हा-हा-हा करके लाला का गला बज उठा। सभी खुल कर हंस पड़े हैं। लाला के हमउमिर झम्मन सेठ लालाइन की ओर देख कर खी-खी-खी कर उठे हैं। बिन्दू लाला इतने एकाग्र होकर ठी-ठी-ठी कर रहे हैं कि गालों की सिकड़नों में उनकी चिनियां आंखें अन्तर्ध्यान हो गईं। सिर्फ तुल्ला और कालीचरण घुटनों में सिर दिये बैठे हैं। उन्हें अदब है कि वे लाला के खेत जोतते हैं और लाला-लालाइन उनके मात-पिता की उमिर के हैं। सदन के समानाधिकारी सदस्य होते हुए भी दोनों नौजवान लाज शील का चश्मा पहनते हैं। यह सदन की मर्यादा में शामिल है।

लालाइन का मुख पहले लाल हुआ, फिर मुस्की आई और अब धोती का पल्लू भौंहों के नीचे तक खींचकर वे

## यह हैं—आग़ा हश्र काश्मीरी

( पृष्ठ १३ का शेष )

'आंख का नशा' और 'सिलवरकिंग' आदि उनके प्रसिद्ध नाटकों में से हैं। इनमें से कुछ नाटक पाश्चात्य नाटकों के अनुवाद भी हैं।

लेकिन यह सब कुछ एक दम नहीं हुआ। बम्बई आकर जब हश्र ने नाटक की दुनिया में प्रवेश किया तब उनकी हैसियत न नाटककार की थी न अभिनेता की। उनका काम था तरह-तरह के स्वांग भर कर हर रोज बाजारों में नाटक के इश्तिहार बांटना। उस वक्त कौन जानता था कि आगे चलकर यही फटेहाल और फाकामस्त लड़का अपने युग का सर्वश्रेष्ठ कलाकार और नाटककार होगा।

यह अहमदाबाद है—आज रात 'शैक्सपियर थ्येट्रिकल कम्पनी' का नया खेल 'यहूदी की लड़की' स्टेज होने वाला है। हाल तमाशाइयों से खचाखच भरा हुआ है, शहर के बड़े-बड़े रईस और प्रसिद्ध व्यक्ति बैठे हैं, परदा उठने का बेचैनी से इन्तजार है, कुल आध-घण्टा है परदा उठने में। लेकिन परदे के पीछे यह क्या बेचैनी-सी फैली है? यह मैनेजर साहब क्यों बौखलाए हुए हैं? ये लोग आपस में क्या खुसर-पुसर कर रहे हैं? यह मैनेजर बार-बार उस टैंट की तरफ जाते-जाते क्यों पलट आता है? —ओह! इस बार तो उसने हिम्मत करके टैंट के दरवाजे पर पड़ी चिक उठा ही दी। सामने मसनद पर बंगाली वज़ा का रेशमी कुर्ता पहने जिसे कलकत्ता में पंजाबी कुर्ता कहते हैं और बनारसी तहमद बांधे कम्पनी का मालिक बैठा है—चुपचाप किसी फिक्र में खोया हुआ। मैनेजर ने डरते-डरते जबान खोली—"मालिक, क्यों न आज खेल मुल्तवी करने का ऐलान कर दिया जाये?" और मैनेजर कांप कर पीछे हट गया जब मालिक शेर की तरह गरजा—"नहीं, नहीं, हर्गिज नहीं—खेल मुल्तवी नहीं होगा।"

खेल मुल्तवी नहीं होगा तो क्या होगा? आखिर खेल कैसे हो सकता है? क्या कोई ड्रामा हीरोइन के बगैर स्टेज किया जा सकता है? मुखालिफ पार्टी ने लालच देकर हीरोइन से हड़ताल करादी है। नाटक शुरू होने

---

गोद की कन्या से बातें करने लगीं। लालाइन ने अब तक शर्म और पेट में उमड़ती हँसी पर काबू पा लिया और नकली गुस्से की आवाज में सदन के नेता उर्फ अपने पति की ओर कनखियों से देखती बुदबुदाई—

"बूढ़े मुँह पै मुँहा से
देखें लोग तमाशे!"

सुनते ही सदन का ज़ायक़ा बदल गया। लाला ने अलाव फिर-से कुरेद दिया। झम्मन ने कहा—"होली के पन्द्रह दिन रह गए हैं सिरफ।"

जोरावर मौज में बोले—

"घर में नित-नित होली;
जो घी गेहूँ होय।"

झम्मन घुटनों पर हाथ जमाकर उठ खड़े हुए। बात चल नहीं रही थी। सदस्यों को जम्हाई आने लगी थी। सदन कल इसी समय तक के लिए उठ गया। अध्यक्षा ने सदस्यों की मंगल-कामना-सी करते हुए कड़ुए तेल का चिराग गुल किया—"जा रे दिये! कल अच्छी-अच्छी तरह फिर मिलिये।"

में कुल पन्द्रह मिनट हैं, हीरोइन किसी तरह काम करने को तैयार नहीं है और उसने डरते-डरते दबी जबान से इस बात को कह ही दिया—"हीरोइन का काम कौन करेगी ?"

"मैं"

मैनेजर का मुँह हैरत से खुला का खुला रह गया "आप ?" "हाँ, मैं—आग़ा हश्र काश्मीरी—मालिक शैक्सपियर थ्येट्रिकल कम्पनी—मैं खुद हीरोइन का पार्ट करूंगा।" और पर्दा ठीक समय पर उठा, दुश्मन अपना-सा मुँह लेकर रह गए। वह लोग जो आग़ा साहब को आज तक एक अच्छा नाटककार ही समझते थे, उनका अभिनय देखकर दंग रह गए। यह 'शैक्सपियर नाटक कम्पनी' आगा साहब की अपनी निजी कम्पनी थी। 'न्यूअल्फ्रेड' छोड़ने के बाद आगा साहब ने इसे शुरू किया था। कुछ ही दिनों में यह कम्पनी उन्नति के शिखर पर पहुँच गई थी मगर आपस की नाचातियों की बदौलत इसे बन्द होना पड़ा।

यह कलकत्ता है—एक आलीशान मकान का दीवानखाना—दो मुंशी कागज-कलम लिए तैयार बैठे हैं। आग़ा साहब आँखें बन्द किए, पेशानी को एक हाथ से थामे, इधर से उधर और उधर से इधर टहल रहे हैं। इस वक्त तबियत मौजूँ है। शायद कोई नया ड्रामा लिखा जा रहा है—है न लिखने का नया ढंग ? लो, उन्होंने ड्रामा बोलना शुरू कर दिया। मुंशी तेज़ी से लिखने लगे। लिखते वक्त इन्हें बीच में बोलने की सख्त मनाही है। अगर पूछना होगा तो उस जगह सिर्फ निशान बना देंगे। आग़ा साहब सीधा ड्रामा नहीं लिखा रहे। ज़रा गौर से देखिये—ड्रामा लिखवाते वक्त उनका लबोलहजा भी पात्रों के अनुसार वैसा ही हो रहा है। ऐसा मालूम होता है—जो कुछ वह कह रहे हैं, उन्हीं पर गुज़र रही है—आवाज़ का उतार-चढ़ाव हाव-भाव, चेहरे की हालत बराबर बदल रही है। आराम और सुख का समाँ बांधते हैं तो फूल की तरह खिल जाते हैं—दुःख-दर्द की बात आई तो ऐसी शक्ल बना ली कि देखने से तरस आता है, गुस्से और जोश की बात आती है तो डर मालूम होता है। अरे, यह क्या ? अचानक लिखना बन्द क्यों कर दिया ? "क्यों, आगा साहब ! यह अधूरा सीन क्यों छोड़ दिया ? इस वक्त तो आप बड़े 'मूड' में थे !—जी क्या कहा ?"

"मैं अपनी तबियत पर जब्र डालकर काम करने का आदी नहीं। चुनाचे जब ज़रा जोश कम हुआ, लिखवाना फौरन बन्द कर देता हूं।"

"माफ कीजिए, आग़ा साहब मैं भी उर्दू का एक मामूली-सा लेखक हूं मेरा नाम ? जी, मुझे लोग तपिश कहते हैं। जी हाँ, जी हाँ, प्रोफेसर तपिश ! वैसे तो आपकी हर बात निराली है, आगा साहब ! लेकिन यह ड्रामा लिखने का ढंग तो बड़ा ही अनोखा है—"

"साहब, अगर मैं आपको अपने ड्रामा लिखने का ढंग बताऊँगा तो आप हँसेंगे। मैं अपने ड्रामों को कई हिस्सों में बाँट लेता हूँ जैसे प्रेम, वियोग, दगाबाजी, बदकारी, दरबार, ऐश्वर्य, मजाक, गाने आदि-आदि। अब मैं यह टुकड़े अलग-अलग वक्त में जैसा 'मूड' हो लिखवा

कर डाल लेता हूँ और जब ड्रामा तैयार करना होता है तो इन सीनों को इकट्ठा करके फरमाइश के मुताबिक ड्रामा तैयार करके दे देता हूं। इसका मतलब यह न समझ लीजिएगा कि मैंने कभी कोई ड्रामा पूरा नहीं लिखा—यह तो मैं एक आम असूल बता रहा था।"

यह वह समय है जब 'शैक्सपियर' नाटक कम्पनी बन्द हो चुकी है। आज कल आगा साहब 'मेडनस् थ्येट्रिकल कम्पनी' में काम कर रहे हैं। यहाँ यह केवल नाटककार ही नहीं, अभिनेता भी हैं।

यह लाहौर है—एक बड़ा-सा दीवानखाना—लुँगी बांधे, नंगे बदन, आगा साहब आराम कुर्सी पर बैठे हैं। गोरा रंग, सुडौल शरीर, चेहरे की मस्ती, बदन की गठन और अंगों की धड़कन देखकर मालूम होता है कि कोई मस्त हाथी झूम रहा हो। सामने एक कुर्सी पर दिल्ली के मशहूर लेखक जनाब फ़ज़लेहक कुरैशी बैठे हैं। बात कुछ खाने-पीने की चल रही है। सुनिए आगा साहब क्या कह रहे हैं?

"साहब अपना असूल तो है-'खाओ पियो और मजे उड़ाओ!' मेरा महावार-खर्च ढाई हज़ार रुपए से कम नहीं। आठ सौ की रकम तो सिर्फ बावर्चीखाने के लिये ही वक्फ है। सच कहता हूँ, कुरैशी साहब। अगर कहीं मेरी मौत दिल्ली पहुँच कर हो जाए तो वहाँ की कमेटी को मेरे कफन-दफन का इन्तजाम करना पड़े। खैर, छोड़िए इन बातों को! आप चाय पीजिए।"

मेज पर खाने-पीने की चीजों के साथ चाय लग चुकी है। आगा साहब ने चाय बनाने के लिए केतली का ढकना उठाया। अरे, यह क्या? यह आगा साहब की त्योरियों में बल क्यों पड़ गये? चाय बनाकर एक घूंट पी और प्याली मेज पर पटक दी। लीजिए अब नौकर की खैर नहीं, गालियों की बौछार शुरू हो गई। ओह, चाय में पत्ती ज्यादा पड़ गई, इसी से स्वाद कड़वा हो गया। आगा साहब के चेहरे का रंग सुर्ख हो रहा है, हर एक नौकर को गन्दी से गंदी गाली दे रहे हैं। सब खामोश हैं लेकिन उनका गुस्सा बढ़ता ही जा रहा है। ओह, आप कौन हैं? अच्छा आप हैं प्रसिद्ध फिल्म-स्टार मुख्तार बेगम। यह ...यहाँ कहां? सब कांप रहे हैं लेकिन यह मुस्करा रही हैं। अच्छा, तो यह आजकल आगा साहब की मंजूरे-नजर हैं। सुनिए, वह दिल को भरमाने वाली एक मुस्कराहट के साथ क्या कह रही हैं?

"आगा साहब, इन बेकस, निहत्थों को डांटने से क्या हासिल? कभी हम पर गुस्से का इजहार कीजिये तो हम तुरकी-ब-तुरकी जवाब दें।"

अरे, यह क्या? देखा आपने? आगा साहब मुस्कराने लगे, गुस्सा काफूर हो गया।

"हश्र में अगर कोई कमजोरी है तो सिर्फ यही कि वह औरत के दिलफरेब तबस्सुम से बहुत जल्द मात खा जाता है।" और आगा साहब ने सच ही कहा। अपनी जिन्दगी में यूं तो उन्होंने हर किस्म के गुनाह किये लेकिन औरत के मामले में प्रायः वह भूल कर ही बैठते। वह सौन्दर्य के पुजारी थे। वह कहा करते थे—"मैं अपनी बिसाते-

इश्क पर हमेशा नये मौहरे देखने का दिलदादा हूँ।"

यह बम्बई है—थ्येटर दम तोड़ रहा है, फिल्म जन्म ले रही है। लोगों के दिलों में अब थ्येटर के लिए कोई जगह बाकी नहीं। थ्येटर की दुनियांपर छा जाने वाला नाटककार, थ्येटर की स्टेज पर गरजने वाला शेर अब अपना रुख मोड़ रहा है। नाटक को छोड़ वह भी फ़िल्मों से सम्बन्ध जोड़ने की तैयारी में है। उसे अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए कमाना है। यह सच है कि उसके बावर्चीखाने का खर्च आठ सौ रुपए माहवार है। यह भी सच है कि वह खाओ-पियो और मज़े उड़ाओ के असूल को मानता है। वह जो कमाता है सो खर्च कर डालता है। वह कभी एक कौड़ी भी बचाने की कोशिश नहीं करता, लेकिन इन सब ऐबों के बाद भी कुदरतने उसे दर्द भरा एक दिल दियाहै वह अनगिनत अनाथ और मजबूर बच्चों की मदद करता है, हर महीने कितनी ही बेवाओं को खासी रक़म गुज़ारे के लिए देता है, बहुत-से पुराने नौकर घर में सिर्फ इसलिए पड़े हुए हैं कि उन्होंने कभी हश्र की ख़िदमत की थी, अब वह किसी कार्य के काबिल नहीं हैं तो क्या हुआ? खाने-पीने के अलावा कुछ-न-कुछ पेंशन भी उन्हें देनी ही होती है। और यही सब विचारकर आग़ा हश्र ने फिल्म कम्पनी बना ही ली।

यह लाहौर है—यह वही आग़ा हश्र हैं जो कहा करते थे—"ज़िन्दगी ज़िन्दादिली का नाम है।" जो किसी भी जगह बैठे हों, अपने चुस्त फ़िकरों से लोगों को हैरत में डाल देते थे, लेकिन आज यह इनकी क्या हालत है? सेहत इतनी बिगड़ चुकी है कि पहचाने नहीं जाते, चेहरे पर न वह पहला-सा नूर, न बातों में वह तेजी, बुझी-बुझी-सी तबियत. अब भी वह फबतियाँ कसते हैं, शेर कहते हैं, मगर हर चीज़ में बुढ़ापे के आसार दिखाई दे रहे हैं। डाक्टरों का कहना है कि ये सब शराब छोड़ने के कारण है। पिछले दो-तीन साल से इन्होंने अचानक ही शराब छोड़ दी है। कोई नहीं जानता कि कारण क्या है? सब कहते हैं कि इस तरह एकदम शराब छोड़ना नुकसान दे रहा है परन्तु वह यह बात मानने के लिए तैयार नहीं। उनका कहना है—"शराब तर्क करने से मेरी तबियत पर कोई बुरा असर नहीं पड़ा। मियाँ! मैं अब भी ज्यादा अच्छे शेर कहता हूँ, रोज़ नई नई बातें सूझती हैं।"

यह सब आग़ा साहब अपने दिल को तसल्ली देने के लिए कहते हैं, वरना वह अब पहली-सी बात कहाँ?

यह कौन हैं? ओह, उर्दू के प्रसिद्ध पत्रकार चिराग़ हसन हसरत! आप आग़ा साहब से कुछ कह रहे हैं—"आग़ा साहब! आप अपने ड्रामे एडिट करके छाप क्यों नहीं देते?"

"क्या फ़ायदा?"

"आप का नाम ज़िन्दा रहेगा।"

"लेकिन इससे मुझे तो कोई फ़ायदा न होगा। 'हमें क्या लहद पर जो मेले रहे' अरे मियां! दुनिया बदल रही है—मेरे ड्रामों को कौन पूछेगा? मैं तो अपने जमाने के लोगों के मजाक को सामने रख कर ड्रामे लिखता हूं। हिन्दुओं को खुश करने की तरकीब यह है कि ड्रामा चाहे किसी किस्म का हो, कृष्ण जी का जिक्र ले आओ। फिर देखो क्या होता

है ? और मुसलमानों को खुश करना हो तो 'अल्ला-हो-अकबर' के दो नारे लगवादो…… अरे मियां हटाओ भी इन किस्सों को ! हमारे यहां आर्ट की परवाह किस को है ? मैं जो कुछ लिखना चाहता हूँ अगर वही लिखता तो फाके करता।"

आगा साहब वक्त के साथ चलना खूब जानते थे। वह लाहौर इसलिए आए हैं कि इतमिनान से फिल्में बनायें।

यह दिल्ली है—सन् १९५४ की दिल्ली—स्वतन्त्र भारत की राजधानी —हश्र को हमसे बिछड़े उन्नीस साल हो गये। उन्होंने मरने के बाद रुपया-पैसा नहीं छोड़ा लेकिन उन्होंने जो कुछ लिखा वह भी तो कहीं नहीं दीखता। आज तक उन पर, उनके आर्ट पर, किसी ने कलम नहीं उठाई। अगर हश्र जैसा नाटककार यूरोप के किसी हिस्से में पैदा होता तो अब तक उसके साहित्य, उसके जीवन और उसकी कला पर इतना कुछ लिखा जा चुका होता कि शैक्सपियर की तरह हमारे देश का बच्चा-बच्चा आज उससे परिचित होता।

आज जब कला, साहित्य एवं संस्कृति का राष्ट्रीयकरण किया जा रहा है, आर्ट को बढ़ावा मिल रहा है, संगीत-नाटक एकादमियां बनाई जा रही हैं, दबे हुए खजाने खोजने के लिए शहर के शहर खोदे जा रहे हैं, हश्र के खजाने की तरफ कोई नहीं देख रहा। उनकी दौलत पाने के लिए कोई जमीन नहीं खोदनी पड़ेगी—किसी महल में नहीं दबी है उनकी दौलत, वह तो इन कलाकारों के सीने में दफन है—ये जो आज गुमनामी की जिन्दगी बिता रहे हैं—ये जो दो वक्त की रोटी भी नहीं जुटा सकते; इन्हें गरीब मत समझो, ये बहुत बड़ी दौलत के मालिक हैं, ये कभी मंच के चमकते हुए सितारे थे, इनमें से हरएक को आगा साहब के कितने ही ड्रामे रटे पड़े हैं। ये जो बाजार में हश्र का कुछ गलत-सलत साहित्य मिलता है—ये भी इन्हीं की देन है। कुछ लोगों ने इनसे सुन-सुनाकर ये ड्रामे छाप लिए हैं। यह सच है कि ये लोग अनपढ़ हैं। इसलिए इनके बताए ड्रामों में गलतियां रह सकती हैं लेकिन उन्हें सुधारने के लिये आज के कुछ प्रसिद्ध लेखकों की एक कमेटी होनी चाहिए जो इन नाटकों को अलग-अलग करके उन्हें छपने योग्य बना सकते हैं। इन कलाकारों में से कुछ के पास उन नाटकों की पांडुलिपियां भी मिल जायेंगी जो नाटक-कम्पनियों के छूटने के बाद इन लोगों के हाथ लगीं।

ये कौन हैं ? ओह, ये हैं पाकिस्तान के प्रसिद्ध नाटककार ताज साहब ! यह इन पुराने कलाकारों से क्यों मिल रहे हैं ? यह क्यों इन टूटे-फूटे मकानों के चक्कर काट रहे हैं ? यह इन कलाकारों से क्या सौदा कर रहे हैं ? ओह, यह हश्र की दौलत की तलाश में हैं—यह उस खजाने की तलाश में हैं जो हमारा है। तो क्या यह हमारे देश की दौलत चन्द टकों के बदले लूट कर ले जायेंगे ? क्या हम यूंही आंखें बन्द किए ये सब कुछ देखते रहेंगे ? नहीं, नहीं, यह ड्रामे की मौत होगी ·· इसे बचाओ……इसे बचाओ !

**मुद्रकों की पसन्द** का अर्थ ही है रोहतास बोर्ड तथा कागज

**डुप्लेक्स, बाक्स और ट्रिप्लेक्स बोर्ड, आर्ट और क्रोमो बोर्ड तथा प्लेयिंग कार्ड बोर्ड.**

इन सभी प्रकार के बोर्डों पर होने वाली छपाई में सुन्दर प्रतिफल निश्चित है, चाहे वह लीथो, आफसेट अथवा लेटर प्रेस, इत्यादि किसी भी पद्धति से की जाय।

रोहतास के कुछ और कागज :

पोस्टर पेपर, नीला मैच पेपर, टी येलो पेपर, एम. जी. प्रेसिंग, तथा एम. जी. एवम् एम. एफ. कागज की विभिन्न उत्तम किस्में.

| उत्पादक : | मैनेजिंग एजेंट्स : |
|---|---|
| **रोहतास इंडस्ट्रीज़, लि०,** डालमियानगर, बिहार. | **साहू जैन लिमिटेड,** ११, क्लाइव रो, कलकत्ता-१ |

SJ. 134 H

*विशेष जानकारी के लिये*

## अशोक मार्केटिंग लिमिटेड

**११, क्लाइव रो, कलकत्ता १**

**एवं**

## मैसर्स कुमार ब्रादर्स एण्ड कम्पनी

**शहीदगंज, सहारनपुर : उत्तरप्रदेश**

उसने अपना कमरा साफ़ करके
जो कूड़ा कचरा गली में फेंका
उसमें टूटे गिलास का कांच भी था !

स्कूल से पढ़कर जब उसका लड़का लौटा,
तो वह कांच उस के पैरों में चुभ गया।
बहुत खून बहा और पैर पक गया,
आपरेशन के बाद पैर अच्छा हुआ।

कूड़ा कचरा और कांच वगैरह
कभी सड़क-गली में न डालिये
और अपने नगरों को
साफ रखने में हिस्सा लीजिये।

## मौलवी उस्मान अहमद

### चेयरमैन म्युनिसिपल बोर्ड,

देवबन्द, उत्तरप्रदेश

# नैतिक उत्थान के आदर्श वाक्य

तीन फीट लम्बे दो फीट चौड़े बढ़िया कागज पर विभिन्न रंगों में छपे हुए, भारतीय एवं विदेशी नेताओं, विद्वानों और सन्तों के अनेक आदर्श वाक्य—ढाई रुपये प्रति चार्ट-कपड़े पर लगाकर वारनिश सहित। वाक्य के कुछ नमूने इस प्रकार हैं—
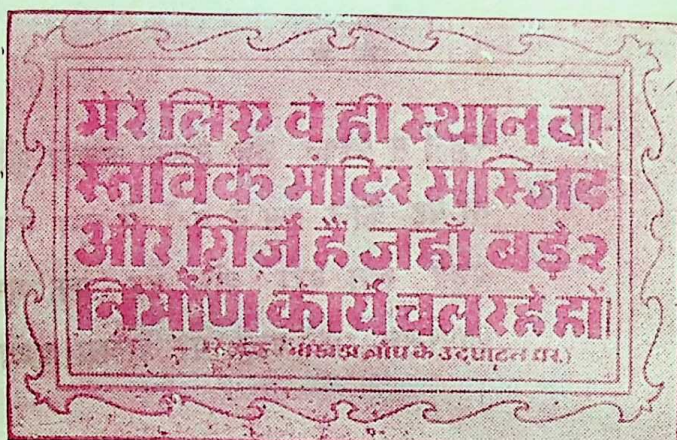
सबसे प्रेम करो और बहुत कम पर भरोसा,
परन्तु किसी के साथ बुराई न करो !

—शेक्सपीयर

सांच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप
जाके हृदय सांच है, ताके हिरदय आप ।

—तुलसी

जो आदमी दूसरी जाति से घृणा करता है
समझ लीजिये कि वह ईश्वर से घृणा करता है ।

—प्रेमचन्द

**इसके अतिरिक्त पंचशील का चार्ट भी लीजिये, जिसमें पंचशील के पूरे सिद्धान्तों को सुन्दरता के साथ प्रस्तुत किया गया है। मूल्य—ढाई रुपये प्रति चार्ट**

प्रकाशक, मुद्रक एवं निर्माता—

## मल्हीपुर ब्रांच प्रेस, सहारनपुर उ.प्र.

रामू और श्यामू दो सगे भाई,
रामू स्वभाव का कड़वा,
श्यामू शान्त सज्जन,
दोनों का परिवार समृद्ध !

एक दिन रामू ने क्या कुछ कहा,
कि श्यामू भी बेकाबू होगया,
दोनों में मुकदमेबाज़ी छिड़ी,
और दोनों बरबाद हो गए !

स्वभाव का मिठास जीवन का वरदान है।

सदा मीठे रहिए !

श्रेष्ठ चीनी के निर्माता

गंगा शूगर कारपोरेशन लिमिटेड

देवबन्द, उत्तरप्रदेश

भोजन
भवन
भेषभूषा
सभ्यता के तीन बड़े स्तम्भ हैं।

भोजन सात्विक
भवन स्वच्छ
भेष स्वदेशी
नागरिकता के तीन बड़े चिन्ह हैं।

*दोनों को सदा ध्यान में रखिए !*
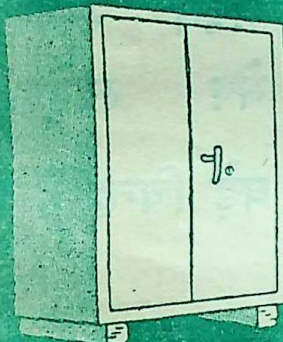
श्रेष्ठ, सुन्दर, स्वदेशी, वस्त्रों के निर्माता

# लार्ड कृष्णा टैक्सटाइल मिल्स
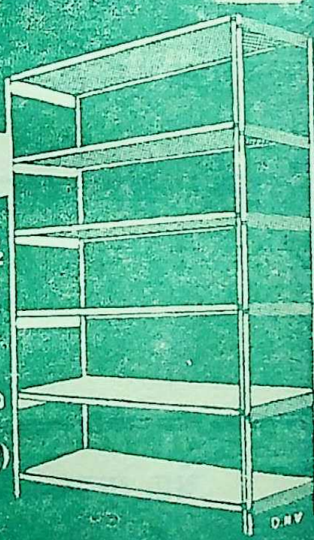
सहारनपुर : उत्तरप्रदेश

हम आपके धन की
रक्षा का ध्यान करते हैं,
आप अपने स्वास्थ्य की
रक्षा का ध्यान रखिए !

एक्मे मैन्यूफैक्चरिंग कम्पनी

८/१ एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता

# पूरा वर्ष

स्वस्थ और पुरुषार्थी बने रहने के लिए समझदार मनुष्य जाड़े के इन्हीं दिनों में पुष्टिकारक रस, रसायन और पाक आदि खाकर शक्ति का अतिरिक्त संचय करते हैं।

आप भी अपनी परिस्थितियों से हमें सूचित कीजिए !

## उत्तम, शुद्ध, विश्वासयोग्य और शास्त्रोक्त विधि से तैयार की हुई औषधियाँ

अष्टवर्गयुक्त च्यवनप्राश, ब्राह्मरसायन, सब प्रकार के आसव, अरिष्ट, वटी, चूर्ण, तेल, पाक, घृत, भस्में आदि सदा उचित मूल्य पर प्रस्तुत हैं।

# लक्ष्मी आयुर्वेदिक फार्मेसी

रावतपाड़ा, आगरा

## जरूरी जानकारी

प्रकाशन का समय—महीने की पहली तारीख है, पर ७ तारीख तक भी न पहुंचे, तो समझिए कि आपका अङ्क कोई दूसरे सज्जन पढ़ रहे हैं और कार्यालय को कार्ड लिखिए।

वर्ष भर का मूल्य (विशेषांक सहित) पांच रुपये और साधारण कापी का छः आने है।

रेलवे बुकस्टालों पर और शायद आपके नगर की एजेंसी पर भी 'नया-जीवन' मिलता है।

लेखकों से उत्तर या रचना की वापसी के लिए टिकट न भेजने की प्रार्थना है।

ग्राहक चाहे जिस अङ्क से बन सकते हैं। जनवरी से बनने में फ़ाईल ठीक रहती है पत्र-व्यवहार में ग्राहक संख्या देने से दोनो को सुविधा होती है।

'नयाजीवन' में उन चीजों के ही विज्ञापन छपते हैं, जिनसे देश की समृद्धि स्वास्थ्य और पूर्णता बढ़े।

आलोचना के लिए प्रकाशक बन्धुओं से पुस्तकों की एक-एक प्रति ही भेजने की प्रार्थना है। यदि आलोचना कार्यालय से बाहर के किसी विद्वान द्वारा करानी आवश्यक हुई, तो लिखकर दूसरी प्रति मंगा ली जाएगी।

'नयाजीवन' में वे ही रचना स्थान पाती हैं, जो जीवन को ऊंचा उठाएं, पर लेलर की तरह नहीं, मित्र की तरह—मनोरंजक, मार्ग-दर्शक और प्रेरणापूर्ण !

हर तरह के पत्र व्यवहार का पता—विकास लिमिटेड,' सहारनपुर यू० पी० है।

आरम्भ- -१९४०

विचारों का विश्वविद्यालय

*भारत की अनेक राज्य-सरकारों द्वारा स्वीकृत मासिक*

जनवरी-१९५६

सम्पादक

**कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'**

सहकारी

**अखिलेश ● एस० कविता**

*हमारा काम यह नहीं है*

कि इस विशाल देश में बसे चन्द दिमाग़ी ऐय्याशों का फालतू समय चैन से काटने के लिए मनोरंजक साहित्य नाम का मैखाना हर समय खुला रक्खें !

*हमारा काम तो यह है*

कि इस विशाल देश के कोने-कोने में फैले जन-साधारण के मन में विशृङ्खलित वर्तमान के प्रति विद्रोह और भव्य-भविष्यत् के निर्माण की भूख जगाएं !

मुद्रक

विकास प्रिंटिंग वर्क्स, सहारनपुर

प्रकाशक

**विकास लिमिटेड**
**सहारनपुर • उत्तर प्रदेश**

# अता • पता


| | | |
|---|---|---|
| नये वर्ष पर | श्री राजेन्द्र सक्सेना, रेलवे कालोनी, महू, मध्यभारत | ३ |
| कलाकार के पड़ौस में | श्री मैथिलीशरण गुप्त, (आकाश वाणी के सौजन्य से) | ४ |
| ईश्वर की चित्रशाला में | श्री रावी, कैलाश, आगरा | ५ |
| एक था पेड़, | कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' | ६ |
| जीवन के कुछ सूत्र | अखिलेश | ८ |
| चिर गाँव के आंगन में | श्री प्रकाशचन्द सक्सेना, डी० पी० ओ० लखनऊ | १० |
| शीला और सुरभि | श्री लालचन्द विद्यार्थी, मवाना (मेरठ) | १६ |
| मेरा देश है ये | श्री वीरेन्द्र मिश्र, आंग्रे का बाज़ार, ग्वालियर | २१ |
| गान्धी जी का पृष्ठ | ❀ ❀ | २४ |
| हृदय देकर देखो | श्री नीरज, मेरठ कालिज, मेरठ | २५ |
| वे यों जिये, यों मरे | श्री रमेश मोहन काला, विश्वविद्यालय, रुड़की, | २७ |
| लड़ूंगा मैं | श्री शेरजंग गर्ग, १७६, लूनिया मुहाल, देहरादून | २८ |
| बातों-बातों में | ❀ ❀ | ३१ |
| पत्थर को पानी काटता है | श्री शंकर विजय वर्गीय, महू, मध्यभारत | ३२ |
| दर्द, | श्री पुरुषोत्तम खरे, १५६, फूटाताल, जब्बलपुर | ३४ |
| सुख क्यों नहीं | श्री व्यं० वी० द्रविड़, श्रम मंत्री, ग्वालियर | ३६ |
| हरा भरा जीवन | श्री गोविन्द बल्लभ पन्त, गृहमन्त्री, नई दिल्ली | ३७ |
| अनुभव और निवेदन | श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, ६६, नार्थ एवेन्यू, नई दिल्ली | ३८ |
| छुट्टियां कैसे बितायें ? | श्री कन्हैयालाल मा० मुन्शी, गवर्नर, लखनऊ | ४२ |
| अपने पढ़ने के कमरे में. | ❀ ❀ | ४४ |
| जीवन के झरोखे से | ❀ ❀ | ४८ |
| नेहरू जी का पृष्ठ | ❀ ❀ | ४६ |
| आपबीती सुनिए | श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की आत्म-कथा | ५० |
| जब पिताजी न रहे | श्री राजेन्द्रनाथ मिश्र, ३२, नेपियर टाऊन, जबलपुर | ५४ |
| विचार और सम्मति | सम्पादकीय टिप्पणियां | ५५ |
| पुस्तक-परिचय | ❀ ❀ | ५६ |

# नए वर्ष पर

श्री राजेन्द्र सक्सेना

नए वर्ष पर–
प्रिय ! यह तुमने आज कोट के मेरे–
इस 'बटन होल' में,
खिला फूल यह एक लगाकर
कहा स्नेह से–
"तुम सदा सरसते रहो मधुर जीवन में,
सदा विहँसते रहो अनागत हास लिए;
जैसे मुस्काया करता है
यह लघु-घुघु कोमल फूल
सदा काटों में
वैसे जीवन के संघर्षों में
तुम भी मुस्काओ
और सुरभि से अपनी भरदो–
जीवन का वातायन।
सचमुच ही प्रिय मैं कृतज्ञ हूँ आज, तुम्हारी
इन मंगलमय सुखद कामनाओं को पाकर।
अनायास ही किन्तु सोचने जब मैं लगता
जीवन के उस यथार्थ को,
लगता है सब-कुछ यह कोमल-कोमल
केवल एक कल्पना है जीवन की,
कुछ क्षण मेरे और तुम्हारे
केवल सपने-से लगते हैं,
यह मेरी भावुक छायावादी कविता,
अनुभूति, संवेदन, प्राणों की यह पीड़ा,
बस छलना है, भ्रम है केवल सच होने का,
कुछ पाने का, कुछ खोने का।
मेरा और तुम्हारा यह खोना-पाना,
लगता है मुझको साधारण,
(सचमुच ही कितना साधारण)
देख रहा हूँ जब मैं–
इस लम्बी फैली दुनिया में
मानव को ही मानव का
प्यार नहीं मिल पाता,
आज विश्व का जटिल प्रश्न यह–
इंसानों को इंसानों से प्यार नही है;
वही प्यार जो बाल्मीकि, तुलसी, होमर की
कालिदास, शेक्सपीयर की कविता–
पुस्तक के पत्रों में बन्द पड़ा है।
वही प्यार जो दफन पड़ा है,
ताज-महल की उन कब्रों में
या कि मिस्र के पिरामिडों में,
पाषाणों में, प्राचीरों में,
पुरातत्व में, इतिहासों में हुआ सुरक्षित।
इस एटम-उदजन बम के युग में,
विश्व-शान्ति के आज नामपर
शीत युद्ध के संयोजन में,
क्या मानव भी मानव का
प्यार कभी पाएगा ?
फिर बिना प्यार के जीना कितना मुश्किल–
बिना शान्ति के, नई संस्कृति का
फलना और फूलना भी !

तो मैं बस केवल इतना कहता हूं
मेरे युग के कवि से कलाकार से–
नव सम्बत्सर की इस मंगलमय शुभ वेला में
नव समाज में, तुम मानव को नया मान दो

नए स्वप्न के चित्रों में भर नया रंग
प्रीत भरो मानव के प्राणों में तुम,
गीत भरो नूतन जीवन के
नए स्नेह का नव-विहान दो !

○ ○ ○

# कलाकार के पड़ौस में

### श्री मैथिलीशरण गुप्त

आहा, यह उच्छ्वास उदार ।
ठहर वेणुवादी, मेरी भी सुन तू क्षणिक पुकार !

साँप क्यों न आ गिरे गोद में,
तू निमग्न-सा मुग्ध मोद में,
अपनी खिड़की पर विनोद में, बैठा विश्व विसार !

कलाकार अपमान न माने,
देश-काल भी जो तू जाने,
पीर पराई भी पहिचाने, तो टुक इधर निहार !

मैं दुःखिनी पड़ोसिन तेरी,
काल कोठरी कुटिया मेरी,
अन्ध कूप-सी आज अंधेरी, बहती नह बयार !

शरद् शीत की सन्ध्या बेला,
कहाँ आज तारों का मेला,
बाहर विष-बुंदियों का रेला, भीतर हाहाकार !

आग नहीं कुटिया में जलती,
केवल गाढ़ा धुवाँ उगलती,
आज कहीं आँधी भी चलती, तो भी था निस्तार !

फूँक इधर भी एक लगा दे,
इस चूल्हे की आग जला दे,
भूख और हड़कम्प भगा दे, गा फिर गौरमलार !
आहा, यह उच्छ्वास उदार !

# ईश्वर की चित्रशाला में

श्री रावी

मेरी किसी कृति से प्रसन्न होकर ईश्वर ने एक वार मुझे अपने स्वर्ग-लोक के महल में निमन्त्रित किया।

अपने महल के जिस बड़े हाल में उसने मेरा स्वागत-सत्कार किया, उसकी दीवारों पर सभी प्रसिद्ध मानव महापुरुषों और कुछ बड़े देवताओं के भी चित्र टंगे हुए थे। उन में कृष्ण, बुद्ध, शंकर, प्लेटो, पाइथा गोरस, कनफ्युशस, ईसा, सीज़र, अशोक, शेक्सपियर, रवीन्द्र, गाँधी आदि अनेक महापुरुषों के चित्र मैं आसानी से पहचान सकता था।

चित्रों की इस गैलरी की ओर संकेत करके ईश्वर ने मुझ से कहा—"तुम इनमें से किसे अपना आदर्श बनाना चाहते हो? तुम किसी को अपना आदर्श चुनो, तो वैसा बनने में मैं तुम्हारी सहायता करना चाहता हूँ।"

मैंने पूरी सावधानी के साथ उन चित्रों को एक-एक करके देखा और जब सब को देख चुका, तो मुझे कहना पड़ा—

"इनमें से किसी को भी अपना आदर्श बनाने का चाव मैं अपने भीतर नहीं देखता!"

ईश्वर ने उसी समय अपने चित्रकार को बुलाकर मेरा एक छोटा-सा चित्र बनवाया और उसे भी उस गैलरी में एक जगह टंगवा दिया।

# एक था पेड़, और एक था ठूँठ !

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

जिस मकान में मैं ठहरा, उसकी खिड़की के सामने ही खड़ा था एक पूरा पनपा बांझ का पहाड़ी पेड़। पलंग पर लेटे-लेटे वह यों दीखता कि जैसे कुशल-समाचार पूछने को आया कोई मेरा ही मित्र हो।

एक दिन उसे देखते-देखते इस बात पर मेरा ध्यान गया कि यह इतना बड़ा पेड़ हवा का तेज़ झोंका आते ही पूरा का पूरा इस तरह हिल जाता है, जैसे बीन की तान पर कोई सांप झूम रहा हो और इसका ऊपर का हिस्सा हवा जब और भी तेज़ हो जाती है, तो काफी झुक जाता है, पर हवा के हल्का पड़ते ही वह फिर सीधा हो जाता है।

हवा मौज में थी, अपने झोंकों में झूम रही थी, इसलिए बराबर यही क्रिया होती रही और मैं उसे देखता रहा। देखता क्या रहा, उसकी झुक-झूम में रस लेता रहा। पड़े-पड़े वह पेड़ पूरा न दीखता था, इसलिए मैं पलंग से खिड़की पर आ बैठा। अब मुझे वह पेड़ जड़ से फुंगल तक दिखाई देने लगा और मेरा ध्यान इस बात की ओर गया कि हवा कितनी भी तेज हो, पेड़ की जड़ स्थिर रहती है—हिलती नहीं है।

यहीं बैठे, मेरा ध्यान एक दूसरे पेड़ पर गया, जो इस पेड़ से काफी निचाई में था। पेड़ क्या था, पेड़ का ठूंठ था-ठूँठ; सूखा वृक्ष और सूखा वृक्ष माने निर्जीव-मुर्दा वृक्ष। सोचा—यह वृक्ष का कंकाल है; जैसा एक दिन सभी को होना है! अब मैं कभी इस हरे-भरे पेड़ की ओर देखता, कभी उस सूखे ठूँठ की तरफ। यों ही देखते-भालते मेरा ध्यान इस बात की ओर गया कि हवा धीमे चले या वेग से, यह ठूँठ न हिलता है, न झुकता है।

न हिलना, न झुकना; मन में यह दो शब्द आए और मैंने आप ही आप इन्हें अपने में दोहराया—न हिलना, न झुकना।

दूर अन्तर में कुछ स्पर्श हुआ, पर वह

स्पर्श सूक्ष्म था; यों ही संकेत-सा। शब्द चक्कर काटते रहे—न हिलना, न झुकना और तब आया यह वाक्य—न हिलना, न झुकना जीवन की स्थिरता का, दृढ़ता का चिह्न है और वह वीर पुरुष है, जो न हिलता है, न झुकता है।

तभी मैंने फिर देखा उस ठूँठ की ओर। वह न हिल रहा था, न झुक रहा था! मन में अचानक प्रश्न आया—न हिलना, न झुकना जीवन की स्थिरता का चिह्न है, पर इस ठूँठ में जीवन कहां है? यह तो मुर्दा पेड़ है!

अब मेरे सामने एक विचित्र दृश्य था कि जो जीवित था, वह हिल रहा था और जो मृतक था वह न हिल रहा था, न झुक रहा था। तो न हिलना-न झुकना जीवन की स्थिरता का चिह्न हुआ या मृत्यु की जड़ता का?

अजीब उलझन थी, पर समाधान क्या था? मैं दोनों को देख रहा था, देखता रहा और तब मेरे मन में आया कि जो परिस्थितियों के अनुसार हिलता-झुकता नहीं, वह वीर नहीं, जड़ है; क्योंकि हिलना और झुकना ही जीवन का चिह्न है।

हिलना और झुकना; अर्थात् परिस्थितियों से समझौता। जिस जीवन में समझौता नहीं, समन्वय नहीं, सामंजस्य नहीं, वह जीवन कहां है? वह तो जीवन की जड़ता है; जैसे यह ठूँठ और जैसे यह पहाड़ का शिखर।

मुझे ध्यान आया कि जीते-जागते जीवन में भी एक ऐसी मनो-दशा आती है, जब मनुष्य हिलने और झुकने से इंकार कर देता है। अतीत में रावण और हिरण्यकश्यप इस दशा के प्रतीक थे, तो इस युग में हिटलर, जो केवल

शीतकाल आते ही पेड़ों की छाल फटने लगती है, बच्चों के गाल भी फटने लगते हैं। तभी जाकर बच्चे बड़े होते हैं और पेड़ मोटे होते हैं।

बोया हुआ बीज पानी और मिट्टी के असर से फटता है, सड़ता है, तभी जाकर उसमें से अंकुर निकल कर उसका वृक्ष बनता है।

मुर्गी के अन्डे फूटने पर ही उसके बच्चे दुनिया में प्रवेश करते हैं।

क्रान्ति के बिना नव-समाज पैदा नहीं होता। संस्थायें टूटती हैं, समाज-रचना बदलती है, राज्य-शासन में क्रान्ति होती है, तब नये युग का उदय होता है।

यही है सनातन क्रम।

—काका कालेलकर

एक ही मत को सही मानते रहे और वह स्वयं उनका ही मत था। आज की भाषा में इसी का नाम डिक्टेटरी-अधिनायकता।

विश्व की भाषा है—दे, ले।

विश्व की जीवन-प्रणाली है—कह, सुन।

विश्व की यात्रा का पथ है—मान, मना।

इन तीनों का समन्वय है—हिलना-झुकना और समझौता-समन्वय। जिसमें यह नहीं है; वह जड़ है; भले ही वह इस ठूँठ की तरह निर्जीव हो या रावण की तरह ज़िद्दी!

मेरी खिड़की के सामने खड़ा हिल रहा था वांझ का विशाल पेड़ और दूर दीख रहा था वह ठूँठ। समय की बात;

तभी पास के घर से निकला एक मनुष्य और वह अपनी छोटी कुल्हाड़ी से उस ठूँठ का एक छोटा टहना काटने लगा। सामने ही दीख रही थी सड़क, जिस पर अपनी कुदाल से काम कर रहे थे कुछ मजदूर।

कुल्हाड़ी और कुदाल; कुदाल और कुल्हाड़ी—मैंने बार-बार इन शब्दों को दोहराया और तब आया मेरे मन में यह वाक्य, विश्व की भाषा है—दे, ले; विश्व की जीवन प्रणाली है कह, सुन; विश्व की यात्रा का पथ है—मान, मना; अर्थात् हिल भी और झुक भी, पर जो इन्हें भूल कर जड़ हो जाता है, वह ठूंठ हो, पर्वत का शिखर हो, अहंकारी मानव हो, विश्व उससे जिस भाषा में बात करता है उसी के प्रतिनिधि हैं ये कुल्हाड़ी-कुदाल।

साफ-साफ यों कि जीवन में दो भी, लो भी, कहो भी, सुनो भी, मानो भी, मनाओ भी; और यह सब नहीं, तो तैयार रहो कि तुम काट डाले जाओ, खोद डाले जाओ, पीस डाले जाओ!

मैं खिड़की से उठकर अपने पलंग पर आ पड़ा। बांझ का पेड़ अब भी हिल रहा था, झुक रहा था, झूम रहा था, पर तभी मेरे मन में उठा एक प्रश्न—तो क्या जीवन की चरितार्थता बस यही है कि जीवन में हवा का झोंका आया और हम हिल गए? जीवन में संघर्ष का झटका आया और हम झुक गए? साफ-साफ यों कि क्या यहां-वहां हिलते झुकते रहना ही महत्वपूर्ण है और जीवन की स्थिरता-दृढ़ता जीवन के नकली सत्य ही हैं?

प्रश्न क्या है, कम्बख्त बिजली का तेज शॉक है यह, जो यों धकियाता है कि एक बार तो जड़ से ऊपर तक सब पाया-संजोया अस्तव्यस्त हो उठे। सोचा—नहीं जी, यह हिलना और झुकना जीवन की कृतार्थता नहीं, अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि विवशता है। जीवन की वास्तविक कृतार्थता तो न हिलना, न झुकना ही है, यानी दृढ़ रहना ही है—'मरियम सो मरियम, पै टरियम नहीं।'

मैं अपने पलंग पर पड़ा देखता रहा कि बांझ का पेड़ झुक रहा है, झूम रहा है, हिल रहा है, और दूर पर खड़ा ठूँठ न हिलता है, न झुकता है। जीवन है वृक्ष में, जो जीवन की कृतार्थता-दृढ़ता से हीन है और वह दृढ़ता है ठूंठ में, जो जीवन से हीन है; अजीब उलझन है यह!

तभी हवा का एक तेज झोंका आया और बांझ हिल उठा। मेरी दृष्टि उसकी झूमती देह-यष्टि के साथ रपटी-रपटती उसकी जड़ तक चली गई और तब

## जीवन के कुछ सूत्र

१–बात को सोच कर कहना जितना ज़रूरी है, सुनकर सोचना और सोचकर समझना भी उतना ही ज़रूरी है।

२–मनुष्य की प्रतिभा न मान से बढ़ती है, न अपमान से घटती है।

३–व्यवस्था की कसौटी यह है कि व्यवस्थापक की अनुपस्थिति में भी व्यवस्था उसी प्रकार चलती रहे।

४–मित्रता की कसौटी यह है कि परस्पर विरोध उत्पन्न हो जाने पर

मैंने फिर देखा कि हवाका झोंका आता है, तो टहनियां हिलती हैं, तना भी झूमता है, पर अपनी जगह जमी रहती है उसकी जड़। हवा का झोंका हल्का हो या तेज़, वह न झुकती है, न झूमती है।

अब स्थिति यह कि कभी मैं देख रहा हूँ स्थिर जड़ को और कभी हिलते-झूमते ऊपरी भाग को। लग रहा है कि कोई बात मन में उठ रही है और वह उलझन को सुलझाने वाली है, पर वह

दो मित्र किस प्रकार अलग हुए और अलग होने पर उनके सम्बन्ध कैसे रहे।

५–किसी व्यक्ति के जब बुरे दिन आते हैं, उसे कोई मूर्ख प्यार करने लगता है।

६–संतोष वस्तु से नहीं, भावना से हुआ करता है।

७–क्षणों, मिनटों, घण्टों, पहरों, दिनों, मासों एवं वर्षों के रूप में समय की सरिता निरंतर बहे चली जाती है; कोई उसका उपयोग करे या न करे। –अखिलेश

बात क्या है?

बात मन की तह से ऊपर आरही है—ऊपर आगई है।

बात यह है—हमारा जीवन भी इस वृक्ष की तरह होना चाहिए कि उसका कुछ भाग हिलने-झुकने वाला हो और कुछ भाग स्थिर रहने वाला, यही जीवन की पूर्ण कृतार्थता है।

बात अपने में पूर्ण है, परजरा स्पष्टता चाहती है और वह स्पष्टता यह है कि हम जीवन के विस्तृत व्यवहार में हिलते झुकते रहें, समन्वयवादी रहें, पर सत्य के, सिद्धान्त के प्रश्न पर हम स्थिर रहें, दृढ़ रहें और टूट भले ही जाएँ, पर हिलें नहीं, समझौता करें नहीं।

जीवन में देह है, जीवन में आत्मा है। देह है नाशशील और आत्मा शाश्वत, तो आत्मा को हिलना-झुकना नहीं है और देह को निरंतर हिलना झुकना ही है; नहीं तो हम हो जाएंगे रामलीलाके रावण की तरह, जो बांस की खपच्चियों पर खड़ा रहता है—न हिलता है, न झुकता है। हमारे विचार लचीले हों, परिस्थितियों के साथ वे समन्वय साधते चलें, पर हमारे आदर्श स्थिर हों। हमारे पैरों में जीवन के मोर्चे पर डटे रहने की भी शक्ति हो और स्वयं मुड़कर हमें उठने-बैठने-लेटने में मदद देने की भी।

○संक्षेप में–जीवन की कृतार्थता यह है कि वह दृढ़ हो, पर अड़ियल न हो।

○दृढ़, जो औचित्य के लिए, सत्य के लिए टूट जाता है, पर हिलता और झुकता नहीं।

○अड़ियल, जो औचित्य और अनौचित्य, समय-असमय का विचार किये बिना ही अड़ जाता है और टूट तो जाता है, पर हिलता-झुकता नहीं।

○ दो टूक बात यों कि जीवन वह है, जो समय पर अड़ भी सकता है और समय पर झुक भी, पर ठूँठ वह है, जो अड़ ही सकता है, झुक नहीं सकता।

○ एक है जीवन्त दृढ़ता और दूसरा निर्जीव जड़ता।

○ हम दृढ़ हों, जड़ नहीं।

मैंने देखा—वांझ का पेड़ अब भी हिल रहा था, झुक रहा था और ठूँठ अनझुका, अनहिला, ज्यों का त्यों खड़ा था।

# जहाँ महाकाव्य लिखे गए, जहाँ जाने कितनों ने प्रेरणा पाई, जहाँ जमकर चौपड़ खेली जाती है, जहाँ आत्मीयता का समुद्र लहराता है,

# चिर गांव के उस

चिरगाँव—झांसी कानपुर की प्रधान सड़क पर स्थित, रेलवे स्टेशन की सुविधा-प्राप्त, ज़िले का सब से अधिक साधन-सम्पन्न टाउन एरिया, गल्ले की एक विस्तृत मण्डी से संयुक्त प्रमुख व्यापारिक केन्द्र तथा कृषि विद्यालयों से सम्बद्ध फिर इसे गांव और वह भी चिरगांव भला किस आधार पर कहा जाय? सच यह है कि चाहे कल यहां पर हवाई जहाज भी उतरने लगें और विद्यु तचालित ट्रामें भी चलने लगें, परन्तु फिर भी चिरगांव देहात ही रहेगा। कारण? भारत का हृदय उसके गांव में स्थित है और गुप्त बन्धुओं में भारतीय गांव की आत्मा चिरगांव में निवास करती है।

प्रधान सड़क से बांई ओर को एक चौड़ी गली मुड़ती है, जो मीनार की भांति ऊपर चढ़ती हुई संकरी होती जाती है और जिसके पुराने पत्थर के फर्श में जगह-जगह दरारें पड़ गई हैं; मानों अवस्था बढ़ने पर गली के दांतों ने खीसे काढ़ दी हों।

अब आप एक बहुत बड़े फाटक पर पहुँचे हैं, जिसके आकार और विशेष कर ऊँचाई को देख कर संदेह होता है कि उससे कोई ऐतिहासिकता न लिपटी हो। सेठ जी ने इतना ऊँचा और चौड़ा फाटक शायद हवेली

*चौपड़ बिछ गई तो गुप्त जी मोर्चे पर!*

की विशालता और उसके आंगन की विस्तीर्णता के अनुपात में ही बनवाया होगा, जिससे बैल गाड़ियां रथ, आदि अन्दर तक जा सकें। आजकल मोटरकारें

भी इसी फाटक से चली जाती हैं और सीधी चौक में रुकती हैं।

चौक में पहुंचने से पहले पूर्व की ओर रहने की तिमंजिला (तिखंडा) हवेली है, जिसके ऊपर का भाग रामरजी और नीचे का भाग सफेद पुता हुआ है। देखकर मन में विचार उठता है कि यदि इन तीन मंजिलों में से एक खण्ड को हरा पुतवा दिया जाए तो राष्ट्र-पताका

बनती हैं। सामने ही दक्षिण की ओर दो बड़े कमरे हैं, जिनमें अधिकांश समय आप गुप्त बन्धुओं के दर्शन कर सकेंगे। इन कमरों के सामने पपीते, अमरूद आदि के कुछ छोटे-बड़े अन्य पेड़ भी हैं, जिनकी अधिक सावधानी नहीं हो पाती। इन दोनों कमरों के अनेक दरवाजे आंगन की ओर खुलते हैं।

एक कमरे में नीचे फर्श पर सफेद

# पवित्र आंगन में!

श्री प्रकाशचन्द सक्सेना

के रङ्ग हवेली की दीवारों पर उपस्थित हो जाएँ। लम्बे चौड़े आंगन में उत्तर-पश्चिम की ओर एक घनी छायादार

*यह आ-जमे श्री सियारामशरण गुप्त!*

नीम का पेड़ है, जिसके चारों ओर ऊँचा चबूतरा बना हुआ है, जहाँ प्रेस के लिये आई मशीनों की पेटियां या जलाने के लिए आई लकड़ी बहुधा देखने को मिल

चांदनी बिछी रहती है, जिस पर बैठने के लिए दो गद्दियां और दीवाल के सहारे दो मसनदें रखी रहती हैं। यहीं अग्रज (श्री मैथिली शरण गुप्त) और अनुज (श्री सियाराम शरण गुप्त) के बैठने के आसन हैं। अग्रज की मसनद और तकिये कुछ बड़े हैं और अनुज के छोटे; जैसे राम-लीला के मैदान में राम और लक्ष्मण की पीठिकाओं में आकार का अन्तर दिया जाता है। इन दोनों आसनों के बीच में फर्श पर ही पुस्तकों की एक लम्बी कतार लगी रहती है, जिसमें कोष, काव्य, आलोचना, उपन्यास, कहानी आदि विभिन्न विषयों पर चुनी हुई होती हैं और जिनका उपयोग यदा-कदा होता रहता है। चारों ओर देश के सभी कोनों से आए हुए पत्र-पत्रिकाओं के ढेर बिखरी विभूति-से पड़े रहते हैं।

सियारामशरण जी के आसन के दाईं ओर अनेक दवाओं की छोटी-बड़ी शीशियां और डिब्बे-डिब्बियों का ढेर

लगा रहता है, जो अब उनके दमा-ग्रस्त जीवन का अभिन्न अङ्ग बन गई हैं। बहुधा आप बातचीत के मध्य उनको जब सांस उखड़ने लगती है, एक दवा को टीन के डिब्बे में जलाकर सूंघते हुए देख सकेंगे।

आश्चर्य होता ह कि निरन्तर रोग से संघर्ष करने पर भी उनके साहित्य में कहीं दुखवाद या नैराश्य की छाया क्यों नहीं मिलती। सर्वत्र एक उदार मानवतावाद, पीड़ितों एवं दलितों के प्रति हार्दिक सहानुभूति और जीवन के प्रति एक सजग एवं स्वस्थ दृष्टिकोण ही मिलता है। हिन्दी में दुःखवाद की उन्नायक श्रीमती महादेवी वर्मा ने 'रश्मि' की भूमिका में अपने दुःखवाद के विषय में लिखा है—"जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।" स्पष्ट है कि इस प्रकार का बौद्धिक वेदना-विलास सियारामशरण जी के लिये सम्भव नहीं है।

उन्होंने तो जीवन में इतनी पीड़ा झेली है, दुख के दर्शन से वह इतने परिचित हैं कि अपने वचन या साहित्य द्वारा किसी को व्यथा पहुँचाने की वह स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते। शंकर की भांति आकंठ पीड़ा का कालकूट पान कर लेने पर भी उनके मुख पर सदैव मुस्कराहट बिखरी रहती है। विवाद में भी वह किसी पर चोट नहीं कर सकते। उलझे हुए रूखे खिचड़ी बालों के नीचे उनका मस्तिष्क सदैव सचेत और निर्मल रहता है। बापू और विनोबा के जीवन दर्शन को उन्होंने इस तरह आत्मसात कर लिया है कि सारा गुप्त परिवार ही उनको बापू कहने लगा है।

सादगी, विनम्रता, श्रद्धा और वाह्य एवं आन्तरिक स्वच्छता यहां जीवन के मूल मन्त्र हैं। गुप्त बंधुओं को आप सदैव आधी आस्तीन की कमर तक खद्दर की बंडी और खादी की धोती पहने हुए ही पाएँगे। कहीं चलना हुआ, तो उसी के ऊपर एक कुर्ता और डाल लेना होता है। (भाई चारुशीलाशरण जी को तो आप सदा बंडी और घुटनों तक जांघिया में ही पाएंगे)।

नम्र वे दोनों इतने हैं कि हजार कुरेदने पर भी अपनी रचनाओं के विषय में वे मुश्किल से ही कभी कुछ कहेंगे। इस फर्श को हिन्दीके लगभग सभी गण्य-मान्य लेखकों एवं अनेक राष्ट्रीय नेताओं को बैठाने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है और इस कमरे की दीवारों ने साहित्य, संस्कृति, धम, राजनीति आदि अनेक विषयों पर दुर्लभ संभाषण सुने हैं। किसी विशिष्ट व्यक्ति के आने पर यदि उससे संकोच की मात्रा इस सीमा तक न उठ गई हो कि वह 'घरू' श्रेणी में आ सके, उनको बगल के कमरे में बिठाया जाता है, जिसमें एक ऊंचे तख्त के अति-

> 'जो पीछे आ रहे उन्हीं का; मैं आगे का जय-जय-कार!'
>
> —मैथिलीशरण गुप्त

रिक्त कुछ कुर्सियां भी पड़ी रहती हैं। इस कमरे की अलमारियों में भी संस्कृत, हिन्दी, बंगला आदि के ग्रन्थ भरे हुए हैं और बीच के एक आले में एक बैटरी-वाला रेडियो भी विराजता है।



दोपहर को आप यदि आएं, तो मैथिलीशरण जी को बैठने के कमरे की चांदनी पर बैठे, चौपड़ खेलते हुए देख सकेंगे। सियारामशरण जी अपने आसन पर बैठे या तो किसी पत्रिका के पन्ने उलट रहे होंगे या अपने अग्रज का खेल देखते होंगे। चौपड़ खेलने में गुप्त जी इतने तल्लीन हो जाते हैं कि अपने आसपास की सारी बातें भूल जाते हैं। उस समय तो बस विरोधी की गोट पीटने और बाजी जीतने का लक्ष्य ही उनके सामने होता है। जय भारत के काव्य कवि के लिए चौपड़ खेलना स्वाभाविक ही कहा जाएगा। सियारामशरण जी अपने एक उपन्यास की भूमिका में अपने अग्रज के चौपड़-प्रेम का उल्लेख कर चुके हैं। चिरगांव के कुछ दूकानदार या मुहल्ले के लोग नियम से चौपड़ खेलने आते हैं और राष्ट्र कवि के साथ चौपड़ में जीतने और हराने के दुर्लभ संयोगों का अनुभव करते हैं।

आप चाहे दोपहर में पहुँचें या शाम को बिना जलपान किए हुए यहां से लौटना असंभव है। यदि आप चाय पीते हैं, तो चाय और यदि काफी का शौक करते हैं, तो काफी के साथ बेसन के लड्डू और पपड़ी और मठरी अचार के साथ आपको अवश्य खाने होंगे।

चाय के प्यालों और काफी का प्रचलन इस परिवार में कैसे हुआ इसकी भी कथा है। सन् १६३७ में श्रीप्रकाश जी चिरगांव आने वाले थे। उनके विषय में

गुप्त जी चाल की चिन्ता में !

पता चला कि वे चाय के बहुत शौकीन हैं। उनके निमित्त इस परिवार में सर्वप्रथम चाय के प्यालों का पदार्पण हुआ। श्रीप्रकाश जी तो सन् १६३७ में न आकर सन् १६४४ के लगभग आ सके, परन्तु चाय के प्याले उनकी प्रतीक्षा एक साल करने के उपरान्त प्रयुक्त होने लगे।

इसी प्रकार काफी का आरम्भ कराने का श्रेय केन्द्रीय सरकार के वर्तमान सूचना मंत्री डा० केसकर को है। सन् १६४२ में अपने अज्ञातवास (अंडर ग्राउंड) के समय केसकर जी बहुधा इस गुप्त-गृह में कई-कई दिन तक गुप्तवास करते थे। वे काफी के बिना भला कैसे रहते! तब से यहां काफी प्राप्त होने की सुविधा हो गई है। गुप्त बन्धु तीसरे पहर एक-एक प्याला चाय ही पीते हैं। सभी उपस्थित व्यक्तियों को उस समय चाय भेंट होती है।

प्रेमचन्द जी का कड़ियां हिलाने वाला हास्य हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध है। हास्य मैथिलीशरण जी का भी मुक्त होता है, यद्यपि आवश्यकता से अधिक
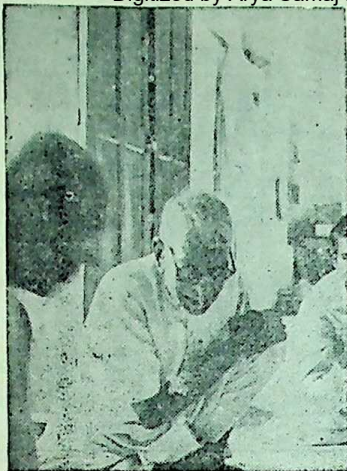
*लो, फेंक दिया दाव !*

तीव्र उसे नहीं कहा जा सकता। सियारामशरण जी तो सदा मुस्कराते ही रहते हैं, जब तक कि वे श्वास की पीड़ से अधिक क्लाँत न हो जाएं। यहां व्यवहार की जो निश्छलता मिलती है, उससे हृदय अभिभूत हुए बिना नहीं रहता।

इन नीचे के कमरों के ऊपर दो और सेट हैं—अति स्वच्छ, जो अधिकतर अतिथिशाला के रूप में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु जहां कभी-कभी कवि बन्धु एकान्त में काव्य साधना भी करते हैं। इस आंगन के पश्चिमी बरांडों के पीछे साहित्य प्रेस है, जिसे गुप्त बन्धुओं के सारे ग्रन्थों के प्रकाशन का गौरव प्राप्त है। अपना काम ही यहां इतना अधिक है कि बाहर का कोई कार्य यह प्रेस नहीं करता। पुस्तकों का आवागमन यहां प्रत्येक डाक से लगा रहता है, मानों यह कोई पुस्तकों का जंकशन हो।

एक अन्य चीज, जिससे दर्शनार्थी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता, वह है कि गुप्त परिवार की सम्मिलित परिवार-व्यवस्था। आजकल के मशीन युग की अर्थ व्यवस्था में कहा जाता है कि सम्मिलित परिवार रहना सम्भव नहीं है और हमारा प्राचीन कौटुम्बिक ढांचा टूटता भी जा रहा है। यद्यपि मेरे विचार में इसका कारण हमारी बढ़ती हुई अनुदारता, व्यक्तिगत स्वार्थ की वृद्धि और नैतिक मानों का लोप ही है, परन्तु फिर भी सत्य यही है कि कौटुम्बिक प्रणाली लड़खड़ा कर टूट रही है।

ऐसी पृष्ठभूमि में गुप्त जी के सम्मिलित परिवार को देखकर बड़ा आनन्द होता है। कानूनी दृष्टि से विभाजन हो जाने पर भी अनेक भाइयों तथा भतीजे-भतीजियों का यह परिवार एक ही हवेली में बड़े प्रेम से रहता है।

पारस्परिक प्रेम और त्याग के अनेक जगमग उदाहरण आपको इस आंगन में आए दिन-मिल सकते हैं—

आज इंदौर से तार मिला है कि मैथिलीशरण जी को बम्बई से लौटते हुए इंदौर में हृदय रोग का दौरा पड़ गया है। अब सारा परिवार व्यग्र है और पंजों के बल बदहवाश-सा फिर रहा है। स्वयं बीमार होते हुए भी सियारामशरण जी आंगन में लड़खड़ाते हुए इधर से उधर फिर रहे हैं। हज़ार परेशानियां दिमाग में घूम रही हैं—कैसे उनको चिरगांव लाया जाए; किस प्रकार जल्दी से जल्दी पहुंचाया जाए; कौन उन्हें लेने जाए आदि। पांच मिनट में सुमित्रा और वैदेही जाने को तैयार हो गये हैं। हां, आज तो इतवार है जनता एक्सप्रेस मिल जाएगी। जल्दी इन्दौर पहुंच सकेंगे। एक ही साथ अनेक बातें सियारामशरण जी सोच रहे मालूम देते हैं। "नन्ना" (मैथिलीशरण जी से भी

बड़े भाई) से यह समाचार कैसे कहा जाए, जिससे इसवृद्धावस्था में उन्हें कम से कम धक्का लगे। और लीजिए, सुमित्रा और वैदेही चल भी पड़े। "हालत की सूचना तुरन्त तार से देना"—सियारामशरण जी बार-बार कहे ही चले जा रहे हैं। काश, वे स्वयं उड़कर जा सकते !

एक अन्य दिन—दिल्ली से लौटते समय आगरे के निकट कार बिगड़ जाने के कारण मैथिलीशरण जी रेल से चले आए थे और चारुशीलाशरण जी को मोटर के साथ छोड़ आए थे।

अब तक उनको आ जाना चाहिये था, परन्तु वे अभी तक नहीं आए हैं। क्या हुआ ? क्या बाधा खड़ी हो गई ? भाग-दौड़ हो रही है कि कोई झांसी जाकर आगरा टेलीफोन करके पता लगाए। इन कार्यों के लिए सदा प्रस्तुत सुमित्रा कुर्ता पहने तैयार है। तब तक तार वाला आ जाता है। तार चारुशीलाशरण जी का ही है कि वह अमुक समय पहुँच रहे हैं, चिन्ता की कोई बात नहीं। प्रत्येक चेहरा प्रसन्नता से दमकने लगता है।

जिस परिवार में सौहार्द और प्रेम का इतना मोटा सीमेंट लगा हो, वह टूटेगा क्योंकर ? वहां से ममता का नित-नूतन स्रोत ही तो फूटता रहेगा।

इस आंगन में उत्तर और दक्षिण से एक जैन और एक वैष्णव मन्दिर के कलश झांकते हैं। हिन्दी साहित्य के एक पूरे युग का विकास इस सांस्कृतिक आंगन ने देखा है। इसके चारों ओर बैठकर 'भारत भारती' से 'साकेत' और 'पृथ्वीपुत्र' तथा 'आर्द्रा' और 'पाथेय' से 'नारी', 'गोद' और 'गीतासंवाद' तक

अरे, जीतूंगा मैं ही !

अनेक काव्यों एवं ग्रन्थों की रचना हुई है। आजकल सन्त विनोबा की वाणी सियारामशरण जी को उद्वेलित किए हुए हैं।

मैथिलीशरण जी आजकल कम लिखते पढ़ते हैं—आंखों के कारण। उनकी हाल की प्रकाशित कविताओं में निराशा का स्वर मुझे कुछ खटका-सा है ; क्योंकि उनसे सदा हमें आशा का सन्देश ही मिला है।

"अब वे बासर बीत गये।
मन तो मेरा रसमय अब भी
पर तन के रस रीत गये।"

परन्तु कौन जानता है कि उनकी अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते वही मेरे मन का भी रस न रीत जाए। गुप्त बन्धुओं की सतत क्रियाशीलता हिन्दी साहित्य की बहुत बड़ी शक्ति रही है और मैंने देखा है कि इस आंगन की चिड़ियां अब भी सांझ-सवेरे अपने मुक्त कण्ठ से उसी स्वर में गाती है, जो हमारी आशा का केन्द्र है।

●

# शीला और सुरभि

श्री लालचन्द विद्यार्थी

शीला को पति ने कभी प्यार ही नहीं किया ऐसी बात नहीं थी। जब वह शादीके बाद ससुराल पहुंची थी, तो देखने वाली स्त्रियों की भीड़ लग गई थी। जो भी आती, प्रशंसा के पुल बांध देती और उसके पति नरेन्द्र के भाग्य की सराहना करती।

रात के समय जब वह सिमटी-सिकुड़ी पलंग के पायताने बैठी थी और नरेन्द्र सवाल पर सवाल कर के भी उसकी ज़बान खुलवाने में असमर्थ रहा था, तो झल्ला कर बोल उठा था, "काश, भगवान ने सौंदर्य को मुखर भी किया होता !"

कौन जानता है कि नरेन्द्र की यह साध कब से उसके मन में दबी थी और कब तक दबी रही। कुछ लोगों का विचार है कि लाज नारी का आभूषण होता है, किन्तु नरेन्द्र का विचार था कि यह नारी की सबसे बड़ी कमज़ोरी है। वह किसी ऐसी सहचरी के सपने देखता था, जो उसके साथ मीठी-मीठी बातें करे, गंभीर विषयों पर विवाद करे और संकट के समय उसके साथ मिलकर सोचे।

कुछ दिनों तक तो वह एक नवीन नारीके नवीन रूप के संपर्कमें आकर इस प्रकार उसके प्रेम का बंदी बन गया, जैसे संध्या के झुटपुटे धुंधलके में लोभ को संवरण न कर पा, भौंरा रात्रि भर के लिए कमल का बंदी बन जाता है।

शीला को ससुराल में इधर उधर आने-जाने, उठने-बैठने और बोलने-चालने की पूरी स्वतंत्रता थी। पीहर में उसे हर कोई टोकता था और यहां हर तरफ से आज़ादी थी, परन्तु वह इस आज़ादी का उपभोग न कर पाती। प्रायः उसके पति के मित्र आते। उनमें बहुत से संकोची स्वभाव के होते, तो बहुत से निःसंकोच होकर कोई हंसी की बात छेड़ देते। शीला सदा ऐसे अवसरों पर गंभीर हो जाती या मुंह बिचका देती। नरेन्द्र यह सब देख कर मन ही मन टीस का अनुभव करता।

यही नहीं, शीला को बड़ों के सामने घूंघट न निकालने में लाज आती थी। अकसर तो नरेन्द्र के सामने ऐसा अवसर ही नहीं आता था। एक दिन जब उसने देख लिया तो कुढ़ गया। संध्या समय जब शीला कमरे में आई, तो नरेन्द्र ने कहा, "बिना घूंघट के ही तुम बहुत सुन्दर लगती हो, शीला पर्दा न किया करो, हमारे यहां इसका रिवाज़ नहीं है।"

शीला चुप रह गई। चाहती भी थी कि पति का कहना माने, मगर जब अवसर आता, घूंघट पर आप ही आप

**शीला अनपढ़ और प्राचीनपन्थी और नरेन्द्र सुशिक्षित, अति आधुनिक! पति के मित्रों से मिलना - जुलना, क्लब-गोष्ठी में जाना, शीला के लिए अधर्म और नरेन्द्र के लिए प्रतिष्ठा का प्रश्न! तभी बीच में आ गई पढ़ी - लिखी, सामाजिक और वाक्पटु सुरभि!...**

हाथ पहुंच जाता। वह सोचती कि अभी तक तो उसकी मां ही सबसे घूंघट निकालती है। उसकी मां का घूंघट तभी खुलता है, जब कमरे में कोई न हो।

नरेन्द्र इस चुप्पी से कट कर रह गया। अपने रोष पर संयम रख कर प्रकट में शांतिपूर्ण स्वर में बोला, "बात यह है शीला, कि इस घूंघट के रहते न तो तुम किसी से मिलजुल सकती हो और न किसी पार्टी आदि में ही शामिल हो सकती हो।" फिर कुछ रुक कर उसने कहा, "देखो, आज एक मित्र के जन्मदिन पर निमन्त्रण आया है। हम दोनों को ही साथ चलना है। जल्दी से साड़ी बदल कर तैयार हो जाओ।"

"अभी तैयार हो जाती हूं।" आज्ञा-पालक पत्नी के रूप में साहस करके वह बोली, यद्यपि उसे यह सब अजीब-सा अनुभव हो रहा था।

नरेन्द्र ने फिर कहा, "एक बात याद रखना। तुम्हें वहां घूंघट नहीं निकालना है। यदि तुमने वैसा किया, तो मेरी बड़ी किरकिरी होगी। सभी मित्र वहां आ रहे हैं।"

सुनते ही शीला पर जैसे तुषारपात हो गया। आज्ञापालन की जिस अनुभूति से उसने पति की हां में हां मिलाई थी, वह तिरोहित हो गई। बोली, "मैं आपके सिवा किसी भी अन्य पुरुष का मुंह देखना नहीं चाहती।"

सुनते ही नरेन्द्र की त्योरियां चढ़ गईं। पत्नी के विचार क्या हैं, यह वह जानता था, मगर उसे यह भी आशा थी कि उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जाएगा और जहां एक दो बार वह घूंघट से बाहर निकली, वहां फिर सदा के लिए इस प्रथा से उसका पिंड छूट जाएगा। चिढ़ कर उसने कहा, "किसी अन्य पुरुष का मुंह देखने से ही यदि तुम्हारा धर्म रसातल को जाता है, तो सीता जी किस तरह इतने दिनों रावण के यहां रह कर भी जगत्जननी बनी रहीं? दूसरों से मिलना-जुलना, हंसना-बोलना ही मनुष्य के जीवन का आनन्द है। अकेला तो वह कुछ भी नहीं है। पति पत्नी के सम्बन्ध तो सदा एक से रहते हैं। यदि उनमें नया रस न पड़ता रहे, तो एक दिन वे निर्बल हो कर टूट जाते हैं। तुम्हें अपने पुराने विचारों को बदलना होगा शीला; नहीं तो मेरे साथ तुम्हारा निभाव नहीं हो सकेगा, यह समझ लो।"

शीला इन बातों को कुछ समझी, कुछ नहीं। नरेन्द्र उत्सुकता से उत्तर की प्रतीक्षा करता रहा, किन्तु शीला से कुछ उत्तर बन ही नहीं रहा था। वह केवल गरदन नीची करके विचारों के द्वंद्व में उलझी खड़ी रही।

"मैं पूछता हूँ चलना है कि नहीं?"

झल्ला कर उसके कंधे पर हाथ रखता हुआ नरेन्द्र बोला।

भयभीत स्वर में साहस का संचय करके शीला ने कहा, "नहीं, मैं नहीं चलूंगी। मुझसे सबके सामने बेशरम बन कर नहीं बैठा जाएगा।"

नरेन्द्र विवश और असहाय-सा खड़ा उसका मुंह ताकता रह गया। वह सोचता था कि धीरे-धीरे वह शीला के संस्कारों को बदल डालेगा, परन्तु अब उसके सामने स्पष्ट हो गया कि संस्कारों का बदलना कोई हंसी खेल नहीं है। अपनी इन्द्रधनुषी आशा अब उसे धुंधली प्रतीत हो रही थी। तमक कर वह बोला, "तो फिर मैं निमन्त्रण में जा कर करूंगा ही क्या? मैंने अपने सभी मित्रों से तुम्हारे आने के लिए कह रखा था। मुझे उन लोगों के बीच में जाकर अपनी मज़ाक नहीं बनवानी है।"

और वह बिना पत्नी के उत्तर की प्रतीक्षा किये ही बाहर निकल गया। भीतर कमरे में एक पल भी ठहरना उसके लिए कठिन हो गया। बेकली से देर तक वह सामने वाले गांधी पार्क में घूमता रहा। फिर अपने मन पर काबू न पाकर वह आखिर निमन्त्रण में पहुंच ही गया। किसी मूर्ख स्त्री की ज़िद के ऊपर वह अपना आनन्द क्यों छोड़े?

नरेन्द्र जब दावत से लौटा, तो बेहद खुश था। उसके मन पर एक सांवली-सी लड़की सुरभि की छाप पड़ चुकी थी रभि में वह सब कुछ था, जिसे वह किसी लड़की में देखना पसंद करता था। चंचलता, वाक्चातुर्य, हंसी-खुशी और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार।

लौटकर कमरे में प्रवेश करते ही नरेन्द्र ने देखा टाइमपीस की सुइयां दस बजा रही थी और विक्षिप्त-सी शीला दरवाजे पर टकटकी बांधे कुरसी पर बैठी थी—बिल्कुल पाषाण-प्रतिमा की तरह।

नरेन्द्र को देखते ही उस प्रतिमा में जैसे प्राणों का स्पन्दन हुआ और बड़ी बड़ी आंखों को ऊपर उठाकर शिकायत भरे स्वर में वह बोली, "आज आपने बहुत देर कर दी।"

वक्र दृष्टि से पलंग पर बैठता हुआ वह बोला, "क्यों, ऐसी क्या मुसीबत आगई थी तुम पर?"

शीला ने नजरें नीची करते हुए उत्तर दिया, "खाना रखा-रखा ठंडा हो रहा है।"

"तुमने खा क्यों नहीं लिया?"

"मैं आपसे पहले कैसे खा लेती? सारा पाप इसी जन्म में चढ़ा लूंगी, तो अगले जन्म में आपके पैर छूने को कहां मिलेंगे।"

सहसा नरेन्द्र ठहाका मार कर हंस पड़ा। उस हंसी में शीला की भावनाओं के प्रति एक तीव्र तिरस्कार था, भारी उपेक्षा थी। फिर उसने लिहाफ से मुंह ढांक लिया। वह सुरभि की बातों का कल्पनाजन्य आनन्द लेने के लिये एकांत चाहता था।

देर तक शीला कुरसी से चिपकी बैठी रही। वह कैसे जान सकती थी कि नरेन्द्र, जो यह कह कर गया था कि वही निमन्त्रण में जाकर क्या करेगा, बाद में वहां हो आया है। बिना उसके खाए वह किस प्रकार अन्न का दाना मुंह में डाले? उसने थाली सजा कर मेज पर रखी और इस आशा में कुछ देर बैठी रही कि नरेन्द्र उठे और भोजन करे।

जब नरेन्द्र की नींद के खर्राटे हवा में गूंजने लगे, तो रही सही आशा भी छोड़कर उसने थाली उठाकर आलमारी में रख दी और भूखी आंतों को हाथ से दबाए चारपाई पर लेट गई। उसका कसूर यद्यपि स्पष्ट था, किन्तु उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि अपनी लाज की रक्षा करके उसने ऐसा कौनसा अपराध किया है। सवेरे तक साड़ी का आँचल वह आंसुओं से भिगोती रही, लेकिन वहां उन आंसुओं को देखने वाला कौन था?

× × ×

उस दिन के बाद शीला पति को प्रसन्न करने की लाख चेष्टा करती, मगर उन दोनों के बीच में जो खाई उत्पन्न हो गई थी, वह चौड़ी ही होती चली गई। उसे लग रहा था कि उसका पति उस से दूर होता जा रहा है, सुरभि का आना-जाना बराबर बढ़ रहा था और सौतिया डाह ने शीला के मन को कुरेदना आरम्भ कर दिया था। उसका बस चलता, तो वह सुरभि को घर की दहलीज़ पर पांव भी न रखने देती।

कितनी ही बार उसने सुरभि को और अपने को काल्पनिक तराजू के पलड़े में रख कर देखा। वह उससे सुन्दर नहीं थी, उसके जैसी स्वस्थ नहीं थी, केवल बनावसिंगार ही ज्यादा रहता था। सुरभि मुंह पर बहुत सारा क्रीम-पाउडर मले रहती थी और मुख के लाल भागों को कृत्रिम लाली से और भी लाल कर लेती थी।

यह तुलना कुछ दिनों चली, फिर तीव्र घृणा के रूप में बदल गई। सुरभि उसके अधिकार और हित पर सीधी चोट कर रही थी। एक दिन बैठक में बैठे नरेन्द्र ने सुरभि को लक्ष्य कर कहा, "इनसान इनसान इसीलिये है कि वह अपनी भावनाओं को दूसरों पर प्रकट कर सकता है। जो आदमी ज़बान रहते हुए भी मूक रहता हो, उसमें और पशु में क्या भेद है? मनुष्य समाज इसलिए है कि हम एक दूसरे से मिलें-जुलें, न कि बनावटी व्यवधान खड़े कर लें।"

सुनकर सुरभि ने शीला की ओर देखा, जो उस समय कुछ काम करती-करती रुक गई थी। शीला ने होंठ भींचे। ये शब्द उसी को लक्ष्य करके कहे गए थे, यह समझते उसे देर न लगी, किन्तु सुरभि का उत्तर वह सुनना चाहती थी। सुरभि ने उत्तर दिया, "कामकाज के बीच में जिस तरह के भी लोग मिलें उन से मिलने-जुलने में हरज नहीं है। अकारण ही मिलने-जुलने से बुरे परिणाम भी निकल सकते हैं। आपके मित्रों से शीला भाभी का कोई काम अटका नहीं रहता। जिस दिन काम अटकेगा उस दिन वे खुले सिर आकर उनकी चोटी उखाड़ लाएंगी, बताए देती हूँ।"

शीला हतप्रभ-सी रह गई। उसे भाभी बनाने वाली यह लड़की क्या उतने ही निष्पाप हृदय की स्वामिनी है;जैसी कि उसने बात कही है? यही बात वह भी अपने पति से कह सकती थी, किन्तु मन के भीतर संस्कारों के दबे हुए बवंडर ने हमेशा उसे निराशा का ही पथ दिखाया है। उसे लगा कि सुरभि ने शायद उसके हृदय को पहचाना है, किन्तु सुरभि जैसी वाक्पटु लड़की इन शब्दों के द्वारा धूर्तता का भी ढोंग रच सकती है।

नरेन्द्र ही-ही करके हंस पड़ा, शीला यह बात कहती तो शायद न हंसता। इस हंसी ने ही शीला के मन में आग लगा

दी। उसे स्पष्ट रूप से मालूम हुआ कि सुरभि ने यह बात केवल व्यंग के ही रूप में कही थी। उसका सिर चकराने लगा। घायल हिरनी की तरह उसने मुंह फेरकर अत्यन्त करुणापूर्ण स्वर में कहा, "हां, दुनिया के लोगों से मिलने-जुलने में बुरे परिणाम निकल सकते हैं, इसी लिए मैं उनसे मिलने नहीं जाती और अगर किसी दिन तुम मुझे भूल से ले गए, तो उस दिन सचमुच मैं उनकी नाक, चोटी उखाड़ लाऊंगी । तब तुम यह न कहना कि भरे बाज़ार में मेरी इज्जत उतर गई।"

"शीला !" नरेन्द्र चिल्लाया, लेकिन शीला बफरी हुई शेरनी की तरह सुरभि की ओर घूरती हुई वहां से चली गई। दरवाजे की ओट में जाते-जाते उसने सुना, "तुम बुरा न मानना, सुरभि ! आखिर गांव गंवई की औरत है। या तो ज़बान खुलती नहीं है और अगर खुलती है, तो लगाम नहीं रहती।"

सुरभि ने क्या कहा, यह सुनने की हिम्मत शीला में नहीं रही। वह भीतर अपनी चारपाई पर जाकर दोनों हाथों से मुंह ढांप कर पड़ गई। वह गांव गंवई की औरत है। उसके मुंह में ज़बान नहीं है और ज़बान है, तो उसमें लगाम नहीं है। वह उनके लिये कुछ भी नहीं है और यह शहर की आचरणहीन लड़की उनके लिये सब कुछ है। इस जीवन से तो वह मर क्यों नहीं जाती? मृत्यु और जीवन के बीच का पानी उस की आंखों से अविरल धारा के रूप में बहने लगा।

× × ×

जब नरेन्द्र सुरभि को विदा कर चुका, तो वह शीला की खबर लेने के लिए भीतर आया, उसके आते ही शीला चारपाई से उठ खड़ी हुई। उसके चेहरे पर आंसुओं के निशान साफ दिखाई पड़ रहे थे। नरेन्द्र उसके मुंह की ओर देख कर कुछ कहना ही चाहता था कि शीला बोल पड़ी, "मैं भी अब पढ़ूंगी।"

नरेन्द्र अवाक् रह गया। इसका क्या मतलब है, वह सहसा कुछ भी न समझ सका। फिर अपने आश्चर्य पर संयम रख कर वह बोला, "तो आखिर तुम्हारी समझ में यह बात आ ही गई कि बिना पढ़े मनुष्य पशु के समान है।"

शीला ने होंठ भींच कर कहा, "हां।"

"अच्छी बात है" नरेन्द्र ने कहा, "मैं आज ही तुम्हारे लिए पुस्तकें इत्यादि ला देता हूँ "

पुस्तकें आगईं और शीला ने पढ़ना आरम्भ किया। दो चार दिन यह क्रम प्रतिक्रियात्मक उत्साह के साथ चला, फिर दूध में आए उबाल की तरह बैठने लगा। बचपन से ही काला अक्षर जिसके लिए भैंस बराबर था और अक्षरों की ओर आंख उठा कर देखना भी जिसके पीहर में लड़कियों के लिए महापाप समझा जाता था, उससे आज गृहस्थिन हो जाने के बाद पढ़ने की आशा करना दुराशा मात्र थी।

नरेन्द्र बड़े मनोयोग से उसकी प्रगति देख रहा था। ज़रा सी भी उदासीनता उसे अपने पिछले अविश्वास की ओर लौटा ले चलती थी। जब वह शीला को नींद का बहाना करते या कामकाज की दुहाई देते पाता, तो मन ही मन कुढ़ कर रह जाता। कभी बिना कहे उसने शीला को किताब उठाकर देखते नहीं देखा था। अन्त में एक दिन उसने कहा, "अगर

शेष पृष्ठ ६१ पर

## समझना नहीं चाहता !

गांधी जी ने अमृतलाल नानावटी को आश्रम का एक काम सौंपा । इस काम में अपने सहकारी के हिसाब की प्रतिदिन जांच करना भी था, पर वे यह कर न पाए।

आपसी झाड़ में गान्धी जी ने इसे विश्वासघात कहा, तो नानावटी बोले—"जिसे मेरे साथ काम करना अच्छा नहीं लगता, उससे कैसे काम लूँ !"

गान्धी जी ने कहा—"तो तुम सिपाही नहीं हो। सिपाही को जो काम सौंपा गया, वह उसे करना ही चाहिए। सब जगह थोड़े ही पसन्दगी के आदमी मिलते हैं। तुमने तो जेल देखी है। वार्डर कभी ऐसा कहेगा कि यह कैदी तो खराब है, उसे मैं नहीं सम्भाल सकता। तुम अगर जिम्मेदारी नहीं उठा सकते, तो नहीं कह देना चाहिए।"

"उठा सकता हूँ, लेकिन आप समझ सकते हैं, मैं क्या कहना चाहता हूँ।"

गान्धीजी–"नहीं, मैं नहीं समझ सकता, क्योंकि मैं समझना नहीं चाहता।"

## कमज़ोरी का लाभ !

दोनों जेल में थे, गान्धी जी भी और सरोजिनी नायडू भी । शाम को दोनों बैडमिन्टन खेलते। एक दिन गान्धी जी ने देखा कि सरोजिनी बाएँ हाथ से बल्ला चला रही है । पूछने पर बोली—दायें हाथ में चोट लग गई है।

"अच्छा !" गान्धी जी चौंके और अपना बल्ला दाएँ हाथ से बाएँ में लेते हुए बोले—"मैं नारी की चोट का अनुचित लाभ उठाना नहीं चाहता; मैं भी अब बाएँ हाथ से खेलूंगा।" और दोनों खूब खूब जोरोंसे फिर खेल में जुट गए।

## बोझ नहीं !

एक पादरी पहाड़ पर चढ़ रहा था और उसके साथ ही चढ़ी जा रही थी एक ७–८ साल की लड़की, अपने दो–तीन साल के भाई को कांधे पर लादे ।

दया से पादरी ने कहा—"बेटी, यह बच्चा तेरे लिए बहुत बोझ है।" झटके से बालिका बोली—"नहीं, जरा भी बोझ नहीं; यह तो मेरा भाई है !"

गोविन्द राघव ने पादरी की यह कथा एक पत्र में गान्धी जी को लिखी, तो पढ़कर वे भाव-विभोर हो गए और उत्तर में लिखा—"कितने महान वाक्य हैं—'ज़रा भी बोझ नहीं, यह तो मेरा भाई है।" सचमुच भारी से भारी चीज़ हल्की बन जाती है, जब प्रेम उसे उठाने वाला होता है।"

फिर जैसे अम्बर से झरते फूल हैं,
भू की स्वप्नांजलि में जाते भूल हैं,
लगता है ये आई मीरा बावरी,
नर्तित गुंजित जीवित राधा सांवरी,
'और सुनो भई साधो' जुलहा बोलता,
दास कबीरा विष में अमृत घोलता,
नभ के परदे जलते सूरज दीप से,
चले संदेसे इन्द्रराज के द्वीप से,
—मेघदूत—ज्यों कालिदास के राज के,
छिड़ते मेघ-मल्हार किसी के साज के,
तानसेन संग आता बैजू बावरा,
सुन जिसको निज सुध-बुध खो देती धरा,
'बरसत नयन हमारे' सूरा झूमता,
चित्रकूट के वन में तुलसी घूमता,
गीतकार से कहता मैं तुम भी उठो,
झूमो मत पिछली जय में आवाज़ दो।
लो अब गाता हूँ,
कोई मेरे सरगम के परदों में आग लगाये ना,
मेरा गीत है ये,
इससे प्यार मुझ को।
कोई मरुथल के मरघट में
छन्दों को दफनाए ना,
भैरव राग है ये,
इससे प्यार मुझको!
मेरा देश है ये!

(५)

सुख का सपना हो चाहे दुख की बदली,
मेरी दुनिया गैरों से सौ बार भली,
तुम भी सुनते होंगे इस संदेश को,
नई उमर है मिली पुराने देश को,
जाऊंगा अपनी मिट्टी को पूजता,
देखूंगा अब नहीं स्वप्न को टूटता,
सिर माथे लेना है धरती-धूल को,
जिसने जन्मा है मधुवन में फूल को,
लेकिन यह क्या, होती है आवाज़ क्या?
धुंआ आग, चीत्कार, ध्वंस, है राज़ क्या?
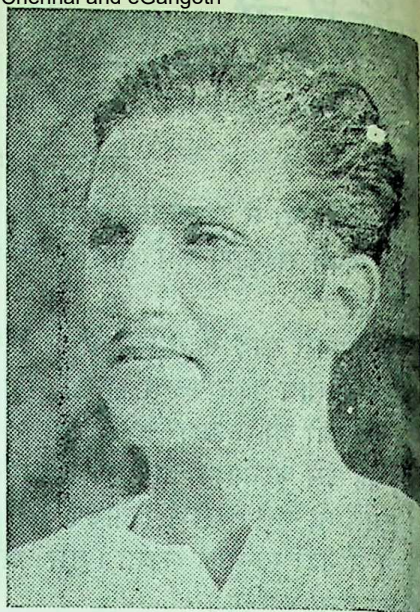
देशों में होती है खींचा-तान क्यों?
शीत-युद्ध से दुनिया है हैरान क्यों?
मेरे सुख-सपनों पर किस का हाथ है?
क्यों पीछे चलती छाया-सी रात है?
तोप लगाई है किसने इन्सान पर?
क्या एटम गिरना है हिन्दुस्तान पर?
नहीं, नहीं, मैं नहीं इसे होने दूंगा,
मैं अपने सब प्रश्नों का उत्तर लूंगा,
लो अब गाता हूं,
कोई मेरी कंगाली पर
अपना महल उठाए ना,
ये जो झोंपड़ी है,
इससे प्यार मुझको,
मैंने खींची लक्ष्मण-रेखा
कोई पांव बढ़ाये ना,
मेरा देश है ये,
इससे प्यार मुझको।

◇

त्यौहारों की धूम, दिवाली के दिये,
होली के रंगों-बिन कोई क्या जिये,
मनीपुरी के नृत्यों की चंचल परी,
और भरत नाट्यम् पर छिड़ती बांसुरी,
यह सब मेरी दुनिया की आवाज़ है,
इस पर ही तो होता मुझको नाज़ है,
लो, अब गाता हूं,
कोई हंसती-गाती राहोंमें अंगार बिछाये ना,
पथ की धूल है ये,
इससे प्यार मुझको ।
कोई मेरी खुशहाली पर खूनी आंख उठाये ना
मेरा देश है ये !

( २ )

झूमर, हंसली, पायल, नूपुर-रागिनी,
काजल, मेंहदी, म्हांवर क्वारी चांदनी,
शुभ शकुनों से मंगल कलश दुआर पर,
अनब्याहे दृग उठते वंदनवार पर,
और एक दिन जाती घर से लाड़ली,
कुंकुम की डोली में चम्पा की कली,
देस कहीं, परदेस कहीं, किसकी लगन,
किसकी ममता-डोरी, मन किसमें मगन ?
और एक दिन संघर्षों की राह पर,
जाता है परिवार बिलखता आह भर,
साध चली शमशान, उमंगों पर कफ़न,
प्यासे मनवा प्यासे ही होगये दफन,
लेकिन इसका अर्थ नहीं होता मरण,
मुझको जाना है न किसी की भी शरण,
हंसी उड़ाने वाले जाते भूल हैं,
मेरे मरघट में भी खिलते फूल हैं,
इन चरणों में अब भी गति की प्यास है,
इन अधरों पर तो अब भी उल्लास है,
लो अब गाता हूं,
कोई मधु ऋतु इस पतझर पर
दानी हाथ बढ़ाये ना,
मेरा बाग हैं ये,
इससे प्यार मुझको ।

कोई मेरे दुर्दिन को [illegible]
अहसान दिखाये ना,
मेरा देश है ये !

( ३ )

कौन गया है रेखाओं को चीरकर,
रांगोली से बनी हुई तस्वीर पर,
बासंती मलयानिल खुलकर नाचती,
राग-भरी-सी रूपम, गीतम बाँचती,
संस्कृति की पतली डाली है झूमती,
नई गुलाबी कला जिसे है चूमती,
फूल रहे अंबवा, बोझिल अमराइयां,
मीठी मीठी पीर भरी अंगड़ाइयां,
बरखा में विरही की ममता जागती,
हेर-हेर विरहिन को नदिया भागती,
सब अपनी-अपनी प्राणप्रिया की याद में,
डूबे जाते हैं गहरे अवसाद में,
क्वांरी हवा गगन को देती छेड़ है,
देखो टूट चली खेतों की मेड़ है,
वीराने से बादल करता प्यार है,
पनघट पर बिजली की चीख-पुकार है,
जीवन की जमुना में जिसकी याद है,
उसकी लहरों पर मुरली का नाद है,
लो, अब गाता हूँ,
कोई सांवरिया को
उसकी राधा से बिछुड़ाये ना,
लीला-धाम है ये,
इससे प्यार मुझको,
कोई फूल-पात की
कशमीरी शबनम उजड़ाये ना,
भीगी आंख है ये,
इससे प्यार मुझको ।
मेरा देश है ये !

( ४ )

किसी पेड़ को बना नसैनी तैश में,
गंध चली जाती है नभ के देश में,

★
गुलाम देश की आज़ादी,
एक राष्ट्रीय उथल-पुथल;
उसमें बहुत कुछ उलटा-पुलटा,
यह भी कि राष्ट्रीय गीत सोगए–
जैसे गुलामी के जनाज़े में,
हमारे राष्ट्रीय कवि ही लिपटे थे !

★
क्यों हुआ यह ?
यों कि हमारे कवियों को
गुलामी का ज्ञान तो था,
स्वतन्त्रता का भान नहीं !

★
इन अन्धेरे क्षणों में–
कुछ पुराने बर्तनों की खुरचन काम देती रही,
कुछ पुरानों में नई दीप्तियां दमकीं
और एक खिला नया फूल–
उसी का नाम है वीरेन्द्र मिश्र !

★
उसके गीतों में–
बच्चन की आत्मीयता है,
पन्त की संस्कारिता है,
निराला की गठन है
और दिनकर की स्फुरणा है।
क्या यह कोई तुलना है ?
अजी, राम का नाम लो;
सिर्फ यह कि
उसके पास गीत का एक नया कन्सैप्शन है !

★
मेरा देश है ये,
उसी का एक विख्यात गीत,
जो निश्चय ही
स्वतन्त्र भारत की
पाँच सर्वश्रेष्ठ कविताओं में एक है !

★
मेरा देश है ये

# मेरा देश है ये

श्री वीरेन्द्र मिश्र

लो अब गाता हूं,
कोई अन्धकार की चादर मेरी ओर बढ़ाये ना,
जलता दीप है ये,
इससे प्यार मुझको।
कोई मेरी खुशहाली पर खूनी आंख उठाये ना
मेरा देश है ये,
इससे प्यार मुझको।

( १ )

इसकी मिट्टी में है गरमी काल की,
इसमें ताकत है उठते भूचाल की,
इतिहासों की गाथा इसके मूल में,
एक चमकती दुनिया इसकी धूल में-
इसमें पवन-झकोरों में वह प्यास है;
सिर्फ बहारों को जिसका आभास है,
संजा और सकारे ऐसे हैं कहां ?
सूरज, चांद, सितारे ऐसे हैं कहां ?
श्याम-घटा, बिजली, बरखा मन-भावनी,
रिमझिम बूंद-फुहार चंदनिया सावनी,
आल्हा की हुंकार, रमायन की कथा,
बृन्दावन का रास, गोपियों की व्यथा,

के समय मां मुझे छिपा देती थी। उसे भय रहता था कि कहीं वे मुझे पीट न दें या मैं उन्हें देख कर डर न जाऊं।

तब उनका खाना होटल से आता था। एक दिन वे होटल के बैरे को देखते ही गरज कर बोले "चोरी करने आया है बदमाश !"

वह बेचारा रोज ही आता था। आज यह बात सुन कर सिटपिटा गया। उसे चुप देख, डाक्टर साहब के वहम ने और ज़ोर मारा। उन्होंने आगे बढ़कर उसके हाथ की थाली पर ज़ोर से अपना हाथ मारा, जिससे सारा भोजन ज़मीन पर आ गिरा। बैरा तो सिर पर पैर रख कर ही भागा।

एक दिन कण्डे बेचने वाली आई। मां उससे भाव-ताव कर रही थी कि ऊपर से दो ईंटें आकर गिरीं—एक कण्डे वाली की दायीं तरफ और दूसरी बाईं तरफ। मां ने झपट कर कण्डे वाली को घर के भीतर खींच लिया। ऊपर से तीन चार ईंटें और गिरी और साथ ही उनका स्वर सुनाई दिया-"बदमाश कहीं के ! कमीने !!"

कण्डे वाली बाल-बाल बची। वह थर-थर कांप रही थी। कमरे से एक छलांग मारकर वह सड़क पर कूदी और कण्डे की डलिया उठाकर नौ दो ग्यारह हो गई।

एक दिन विश्वविद्यालय जाते समय उन्होंने बरामदे में रखी हुई एक बेंत की कुर्सी को 'बदमाश' और 'कमीना' कह कर इतनी ज़ोर से ठोकर मारी कि वह बेअख्तियार सड़क पर जाते राहगीर को लिए-दिए नाली में जा लगी। राहगीर बेचारा उनका रुद्र रूप देखते ही बेतहाशा भागा।

> निन्दा करने वालों की निन्दा से मैं क्यों मुरझाऊँ ? प्रशंसा करने वालों की प्रशंसा से मैं कैसे फूलूं ? मैं तो यह मानता हूँ कि निन्दा से मैं घटता नहीं और प्रशंसा से मैं बढ़ता नहीं; जैसा हूँ, वैसा ही हूं। अपने सिरजनहार के सामने आदमी सच्चा बना रहे, तो फिर उसे कोई खटका रहे ही नहीं !
>
> —गान्धी जी

ये सब घटनायें दर्द भरी हैं, लेकिन जो घटना मेरे मन पर आज भी गरम गरम अंकित है, उसकी पृष्ठभूमि में मेरे मन में उनके प्रति उत्कंठा की भावना ही निहित थी। मैं ऊपरी हिस्से में जाकर यह देखना चाहता था कि उनके निरन्तर क्रोध का शिकार कौन-सा अभागा व्यक्ति है ? मेरे बालमन ने बड़े सहज भाव से यह निर्णय कर लिया था कि उन्होंने किसी को ऊपर बन्द कर रखा है और जब-तब वे हाथ धोकर उसी बेचारे के पीछे पड़ जाया करते हैं।

धीरे धीरे सीढ़ियां चढ़कर मैं ऊपर पहुंचा, तो ऊपरी दालान में कोई न था और कमरे का दर्वाज़ा आधा खुला हुआ था। उसी अधखुले द्वार से मैंने देखा कि वे मेज़ पर झुके हुए पढ़ रहे हैं। न जाने कौन-सी शक्ति मुझे उस अधखुले द्वार तक खींच ले गई। मैंने साहस करके थोड़ा-सा सिर भीतर डाल झांका ही था कि दुर्भाग्य से उसी समय उन्होंने पीछे मुड़ कर देखा और मुझे वहां देखते ही वे एक दम खड़े हो गए।

मुझे काटो तो लहू नहीं। सिर से

पैर तक मानों लकवा मार गया। मैं उनकी ओर फटी आंखों देखता ही रह गया।

वे आगे बढ़ आए। आग्नेय नेत्रों से मेरी ओर देखते हुए मेरी मातृभाषा (गढ़वाली) में बोले-"को छैइ ?"

मैं कुछ बोल ही न सका।

"हू आर यू ?" अब वह अंग्रेजी में बोले।

मैं अब भी चुप।

अब वह गरज कर बोले—"तुम कौन हो ?"

मेरी आवाज भी गुम और होश भी।

उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर भीतर खींच लिया और मुझे कुर्सी पर बिठा, वे बोले—"क्या चाहिए ?"

मैं अब जोर जोर से रोने लगा।

"रोता क्यों है ? क्या चाहिए ?" वह गरज कर बोले। तभी मेरा रोना सुन माँ ऊपर चली आई और मैं दौड़कर उससे लिपट गया। वे उठे, कुर्सी को लात मारी और आलमारी की किताबें धरती पर पटकने लगे।

मां मुझे लेकर नीचे चली आई। थोड़ी देर बाद उनका स्वर सुनाई दिया—"बदमाश कहीं के ! कमीने ! चोरी करना चाहते हैं, चोर, लुटेरे !"

मैंने समझा कि वे फिर उसी अभागे व्यक्ति पर जुट पड़े हैं, पर आज सोचता हूं, वहां और था ही कौन ? वे खुद ही तो वह अभागे व्यक्ति थे !

कुछ दिन बाद वे उस घर से चले गए और मैं उन्हें लगभग भूल गया। कई महीनों बाद एक दिन बुआ को कहते सुना—"च् च् मर गए बेचारे ! बड़ा दुःख भोगा।" मैंने पूछा—"कौन बुआ ?"

"अरे वे ही सत्यभामा के बाबू।" बुआ बोली।

मैं समझ गया। सत्यभामा उनकी बड़ी लड़की का नाम है, पर समझकर भी मेरे मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और कुछ देर बाद ही मैं इस बात को भूल गया। ······

आह वे थे डाक्टर पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिन्दी के सबसे पहले डाक्टर; जो हिन्दी को महान् कृतियाँ दे गए, पर जिन्हें भुला दिया गया है; क्योंकि हिन्दी की परम्परा ही यही रही है !!

●
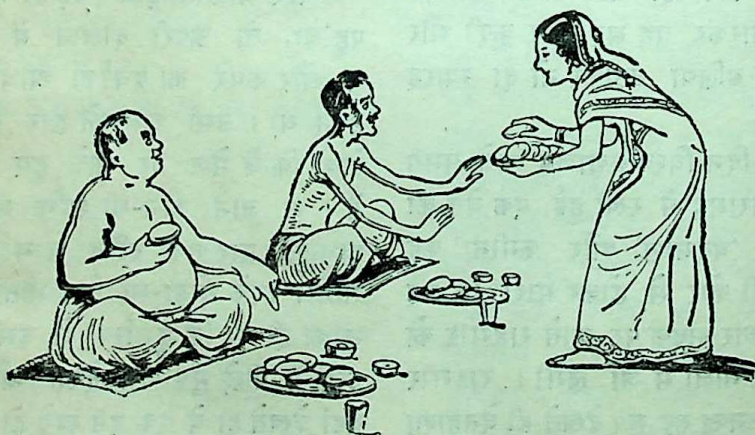
"कम खाते हो, तभी तो ऐसे हो, वरना········।"

# बातों-बातों में

भाई नेमचन्द जैन देश के उन तरुणों में हैं, जो क्षणों का उपयोग कर के उन्हें रत्न-कणों में बदलना जानते हैं। वे जीवन की देहली पर आए, तो एक प्रमाण पत्र उनके पास था, पर आज वे अपने बड़ों के लिए एक प्रामाणिक स्तम्भ हैं। उनके स्वभाव की जो बात मुझे पसन्द है, वह है उनका आत्मविश्वास—परिचित काम हो या अपरिचित, निमंत्रण मिले तो वे उसे आगे बढ़कर हाथ में लेंगे और आरम्भ में ही यह विश्वसनीय होगा कि सफलता की श्रेणी असाधारण रहे-न-रहे, वह औसत से नीचे नहीं आ सकती। इसका अर्थ है-असफलता की कोई सम्भावना नहीं—एक प्रतिशत भी तो नहीं !

उस दिन उनके कार्यालय में बैठा था, बातें चल रहीं थीं काम की ही, पर सिलसिले की कोई नहीं। तभी आगई डाक-इस युग की एक विभूति। उसमें विवाह की कई छपी चिट्ठियां थीं। छपी हुई चिट्ठियें हमेशा सुन्दर होती हैं, पर हमेशा बेकार, क्योंकि वे निमन्त्रण देकर भी किसी को बुलाती नहीं, सिर्फ सूचना देती हैं।

अक्सर सोचा है—छपकर लेख का महत्व बढ़ता है, पत्रिका का महत्व बढ़ता है, पर पत्र छपकर महत्वहीन हो जाता है, यह कितनी विचित्र बात है। छपे हुए पत्र अक्सर आते हैं और हम उन्हें यों ही देख-पढ़कर रद्दी में फेंक देते हैं—अपनी होश में मैंने श्री शान्तिप्रसाद जैन के ज्येष्ठ पुत्र श्री अशोक कुमार के विवाह का कलश-पत्र ही सुरक्षित रक्खा है—पर बहुत बार सोचा है कि किसी पत्र का उत्तर न देना असौजन्य है। एक बार सोचा था कि एक शुभकामना-पत्र छपाकर रखलूँ कि किसी का छपा पत्र आया और छपा पत्र भेज दिया, पर यह निर्णय नहीं हुआ कि यह शालीनता होगी या धृष्टता !

भाई नेमचन्द डाक लिखाने बैठे, तो उन्होंने एक-एक छपी चिट्ठी का उत्तर दिया—सभी उत्तर शिष्टाचारात्मक कि न आ सकने का खेद और सफलता की कामना। यों ही मैंने पूछा—तो आप इस तरह की सब चिट्ठियों का जवाब देते हैं; और बस बात आगई छपी चिट्ठियों पर और बातों-बातों में वे बोले-"बात यह है कि हम और किसी पत्र का उत्तर दें-न-दें, पर इस तरह के हर पत्र का उत्तर देना चाहिये। यह हमारी मनुष्यता का तकाजा है, क्योंकि उत्तर न देने का अर्थ होगा कि हम किसी के लिए और तो क्या करेंगे, उसके सुख-दुख में शरीक भी नहीं होना चाहते !"

सुनकर कुछ देर के लिए न कुछ कहने लायक रहा, न सोचने लायक—ओह, यह कृपणता कितनी सघन है कि "हम किसी के लिए और तो क्या करेंगे, उस के सुख-दुख में शरीक भी नहीं होना चाहते !"

तो बातों-बातों में आज एक किरण मिली, जो रोशनी भी देती है और हण्टर भी मारती है।

○ ○

पानी पत्थर से भी कठोर होता है ।

"अजीब बात है, कहां पानी और कहां पत्थर ?"

पर बात सही है । पानी पत्थर से भी कठोर होता है ।

"पागलपन की बात है यह तो !"

भले ही आप इसे पागलपन की बात कहें, पर है यह सोलहों आने सही । पानी की एक-एक बूंद को आपने कभी लगातार पत्थर पर टपकते देखा है ? जरूर देखा होगा । आपने बड़े-बड़े झरने देखे होंगे और साल के बाद साल, हर साल बरसात में खपरैल की नाली में से किसी पत्थर पर टपकती बूंदें भी देखी होंगी और फिर परिणाम भी देखा होगा कि कट-कट कर पत्थर यदि झरने के नीचे चूर-चूर हो गया है, तो बरसाती बूंदों के नीचे वाले पत्थर में भी गड्ढा पड़ गया है ।

समझा आपने ? है न यह सही कि पानी पत्थर को भी काट देता है और फिर जो काट देता है, सो कठोर और जो कट जाए, सो कमजोर ।

"ठीक है ।"

आप जानते हैं इस सत्य का रहस्य ? इस पानी की बूंद से आप पूछिये । यह बताएगी–"पहले दिन जब मैं इस पत्थर पर गिरी, इसने मुझे उछाल कर बिखेर दिया; और फिर मैं गिरी और फिर मेरी वही गति और फिर, फिर, फिर, पर मैंने धैर्य नहीं छोड़ा । नतीजा आपके सामने है कि पत्थर में भी समा सकती हूँ । पत्थर में मेरा बनाया हुआ यह गड्ढा देखो । सोचता हूं आप तो उस बूंद से भी गए-बीते हैं ।

"क्या बोल रहे हैं आप ?"

ठीक कह रहा हूँ, आप उस बूंद से गए-बीते हैं, आपने धैर्य जो छोड़ दिया ।

"मैंने ? कहां, कब, कैसे ?"

ओह ! यहीं पर, कल ही, अपनी रचना के लिए । आप चाहते हैं आपका वह लेख, आपका वह प्रथम प्रयास, आपका वह अद्भुत चित्र या आपकी वह सुन्दर मूर्ति, पहले ही प्रयास में

# पत्थर को

पसन्द कर ली जाय और आपका नाम सुबह होते ही लोगों की जबान पर चढ़ जाए ।

"ठीक है, मेरी चीज जब ऐसी ही हो । थैकरे·······"

ओह, अंग्रेजी उपन्यासकार थैकरे की बात कहते हैं आप । वह 'ओवर नाइट' (रात भर में ही) अपनी एक रचना से प्रसिद्ध हो गया था, पर आप जानते हैं, वह उसकी कौन-सी रचना थी ? उसने इससे पहले लगातार बारह वर्षों तक लिखा था और तब तक उसका एक शब्द भी प्रकाशित नहीं हुआ था । है न ? मैं अपनी ही बात आपको बताऊं । मैं अपनी एक कहानी लेकर अपने गुरू जी को सुनाने गया । जब मैं सुना चुका और वे सुन चुके, तब वे भी चुप और मैं भी चुप ।

मैं कुछ ठहर कर बोला, 'आठ महीने से मैं आपको यही कहानी सुनाने का इन्तजार कर रहा था ।'

उनके चेहरे पर मुझे एक मुस्कान दिखाई दी । मैंने उन्हें पढ़ने का प्रयत्न

# पानी काट देता है !



किया, अर्थ लगाने की कोशिश की, पर शीघ्र ही मेरे गुरु बोले—'जब मैं यहाँ आ रहा था, तो एंजिन की खराबी के कारण हमारी गाड़ी जंगल के बीच ही रुक गई। किनारे पर निकट ही एक बाग था। बाग में अमरूद के पेड़ थे। पेड़ों पर बच्चे चढ़े हुए थे। एक पेड़ के तने पर चढ़ा बालक कच्चा अमरूद तोड़ कर खा रहा था। अमरूद अभी पके न थे, पर बालक उनके पकने तक की प्रतीक्षा न कर सका क्योंकि वह अबोध था।'

तो मेरे गुरु जी ने सूत्र बताया कि बोध का एक रूप प्रतीक्षा भी है और जिसमें प्रतीक्षा है, धैर्य है, वह अबोध कभी भी नहीं।

और तब वे बोले—'तुमने आठ महीने प्रतीक्षा करके बोध का परिचय दिया है और इसलिए मैं आरम्भ में ही तुम्हारी भावी सफलता की घोषणा करता हूँ।'

( २ )

बोध की परीक्षा इस छोटी-सी घटना में भी स्पष्ट है। कुछ बच्चों ने एक बार आपस में सलाह की कि अपनी खिड़की के पास एक बगीचा लगाएंगे। दिन भर परिश्रम कर उन्होंने ज़मीन की खुदाई की, बीज बोए, पानी दिया और आशा के भूले भुलाते रात में थक कर सो गये। रात भर हरे-भरे बाग के सपने देखते रहे और कुछ-कुछ पौ फटते ही उठ खड़े हुए। दौड़ कर खिड़की के पास पहुंचे और आँखें फाड़-फाड़ कर अपने बगीचे के पौधों को ढूंढने लगे, पर वहां तो गीली मिट्टी और फूले बीजों के अतिरिक्त कुछ था ही नहीं। बेचारों को बड़ी निराशा हुई, उनके सपने टूट गए और आशा मर गई। अबोध शीघ्र ही फल चाहते थे। इसलिए दिन के बाद दिन वे निराशा में डूबे बैठे रहे। जमीन को न पानी दिया और न वहाँ पौधे फूटे। काश, वह धैर्य रखते और शीघ्र फल की कामना न करते, पर वे अबोध जो थे।

अब तो आप मानते हैं न, कि धैर्य ही ज्ञान का साइन-बोर्ड है।

( ३ )

लीजिए, कभी किसी पुस्तक में पढ़ी हुई एक और घटना मुझे याद हो आई।

एक बार अमेरिका का एक धनी व्यापारी अपने पुत्र को एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में भर्ती कराने ले गया। उस संस्था के विवरण-पत्र को पढ़ कर यूनिवर्सिटी के अधिकारी से उसने पूछा कि—"क्या ये सभी विषय मेरे पुत्र को पढ़ने होंगे? आप इन्हें कम नहीं कर सकते, जिससे कि मेरा पुत्र जल्दी ही अपनी शिक्षा समाप्त कर सके?"

श्री शंकर विजयवर्गीय

जानते हैं आप अधिकारी का क्या उत्तर था?

उसने कहा—"क्यों नहीं, आप के पुत्र के लिए पाठ्यक्रम कम भी हो सकता

*दर्द उठता है उभरने दो,*

*हृदय के तल तक उतरने दो,*

*उम्र की इस बेल को साथी,*

*तुम अभावों में सँवरने दो !*

*श्री पुरुषोत्तम खरे*

है, लेकिन सवाल यह है कि आप अपने बेटे को क्या बनाना चाहते हैं? जब ईश्वर एक बड़े पेड़ का निर्माण करता है, तब उसे बीस वर्ष लग जाते हैं और उसी ईश्वर को अपनी उसी दुनिया में एक झाड़ी बनाने में बीस महीने भी नहीं लगते।"

अब प्रश्न यही है कि आप इस संसार में एक सुदृढ़ पेड़ बनना चाहते हैं या छुई-मुई की झाड़ी। स्पष्ट कहेंगे आप कि आप पेड़ बनना चाहते हैं।

तो मतलब यह है कि धैर्य धारण कीजिए।

(४)

अपनी माँ की बात भी मैं भूल नहीं सका हूँ। बाहर से जब कभी खेल-कूद कर पसीने में लथपथ मैं घर में घुसता था, तब मैं मां से कुछ नहीं मांगता था, न उसका प्यार और न उसका स्नेह। यदि आप खिलाड़ी हैं या रहे हैं, तो समझ सकते हैं कि मैं क्या माँगता था।

ठीक है, आप ठीक कहते हैं, मैं पानी का एक गिलास माँगता था, मां मुझे बैठने को कहती, मेरी प्यास की कुछ परवाह न करती, मुझे पानी पीने से रोक देती। मैं मन-ही-मन कुढ़ता। कितनी तीव्र मेरी प्यास और मेरी मां का वह बर्ताव। मुझे बुरा लगता, कुछ देर बाद ही माँ मुझे पानी का गिलास देती। समझ गए आप? धीरज का फल मीठा होता है, पसीने में पानी न पीकर सर्द-गर्म के प्रभाव से उत्पन्न होने वाले रोग का शिकार होने से बच जाता था।

मतलब यह है कि क्या हम अपने रोज के जीवन में भी, जीवन के हर मोड़ पर और जीवन की हर घटना में पसीने में पानी पीने से रुकते हैं या नहीं? धैर्य हमें जल्दबाजी से रोकता है या हमारी जल्दबाज़ी धीरज को तोड़ देती है?

(५)

उस रोज मैं अपने एक व्यापारी मित्र की दुकान पर खड़ा था। शाम को घूमने निकले कुछ फौजी अफसर उस दूकान में घुस आए और एक के बाद एक कपड़े के थान खुलवा कर अपना मन बहलाने लगे। मेरे मित्र के धैर्य का भी कुछ अन्त नहीं दिखाई दे रहा था। जानते हुए भी कि सैर सपाटे पर निकले ये अफसर एक कानी कौड़ी का भी कपड़ा नहीं खरीदेंगे, मेरे मित्र बराबर उनकी हर माँग पर थान बिखेरते जा रहे थे। मैं समझ रहा था कि आज इनको ये थान समेटते आधी रात बीत जायगी और तब ये अपने धैर्य को कोसेंगे। मन-ही-मन मुझे उन अफसरों से अधिक अपने मित्र के धैर्य पर क्रोध आ रहा था कि वे क्यों नहीं

कह देते कि अमुक कपड़ा हमारे पास नहीं है।



जब वे अफसर चले गए और भाई साहब ने कपड़ा बिखेरने की बजाय बटोरना शुरू किया, तो मेरे मन की बात ताड़कर वे बोले—"जानते हो, आज मैंने चार सूट का कपड़ा इनको बेच दिया है। हाँ, चार सूट का! आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों, ये चारों अफसर मेरे ही यहाँ आएंगे। तुम समझते होंगे कि मैं कैसा बुद्धू हूँ। थान पर थान फैलाता जा रहा हूँ, अजी, जनाब, मैं थान नहीं, धैर्य के साथ जाल फैला रहा था। मेरे धैर्य ने इन्हें जीत लिया है और अब ये मेरी दूकान छोड़कर और कहीं नहीं जा सकते।

( ६ )

धैर्य का सब से अधिक तकाजा तो हमें अपने नवयुवकों से है। ढलती उम्र तो जीवन में ढिलाई और इसलिये धीरज ला देती है, पर चढ़ती जवानी में बचपन की चंचलता युवक की उग्रता में बदल जाती है और उसे किसी वस्तु को ठंडा करके खाने में मजा नहीं दिखाई देता है। जल्दबाजी उसका स्वभाव नहीं, नियम होता है।

ऐसा ही एक युवक, जिसने अभी संगीत का अध्ययन आरम्भ ही किया था, एक बार प्रसिद्ध स्वरकार मोज़ार्ट के पास गया और उससे कुछ महत्वपूर्ण रागों के विषय में जानकारी चाही।

मोज़ार्ट ने उत्तर दिया—"तुम्हारे समान नौसिखियों के लिए इन रागों को समझने का प्रयत्न करना अर्थहीन महत्त्वाकांक्षा है, तुम तो पहले साधारण

"लाला जी, मैं उधार - वसूली का काम सीखना चाहता हूं।"

"ठीक है, तुम ५० रुपये मुझे उधार दे दो।"

स्वर-संधान का ही प्रयत्न करो।"

उस युवक ने इस सलाह से चिढ़कर कहा—"लेकिन आप तो मेरी उम्र में ही ये सब राग निकाल लेते थे!"

"हाँ, लेकिन मुझे उनके विषय में किसी से कुछ पूछने नहीं जाना पड़ता था!" मोज़ार्ट ने यह जवाब दिया था।

घटना का यही इशारा है कि हर क्षेत्र में नौसिखिये कार्य की अपेक्षा परिणाम के लिये अत्यन्त उत्सुक रहते हैं। प्रयत्न की अपेक्षा सफलता अधिक चाहते हैं। इन्तज़ार उनके लिए भार होता है और वे यह भूल जाते हैं कि इन्तज़ार की ओट में ही तो वे अपने आने वाले कल

के लिये आज नींव पक्की कर सकते हैं। जन-साधारण के लिये खुद सफलता दरवाज़ा नहीं खटखटाती रहती, उन्हें खुद को सफलता का मार्ग, असफलताओं में धैर्य धारण कर, निराशा में आशा का दीप संजो कर और रास्ते में आने वाले रोड़ों की अवहेलना करते हुए दिन-प्रति-दिन चल कर पूरा करना होता है और तब जो सफलता मिलती है, वह न क्षणिक होती है, न दिखावे की।

छोटा-सा सूत्र और बड़ी-सी बात यह है कि धैर्य ही सच्ची सफलता का पिता है।

धैर्य के पीछे ज्ञान की ज्योति है और शक्ति का भण्डार। उसका परिणाम सफलता है और उसका लाभ स्थायी, इसलिए जिसमें न बालक का चंचल अबोध है और न वृद्ध की मरी हुई आशा, उसमें ही धैर्य धारण करने की सामर्थ्य है। धैर्य की माँग सबसे अधिक उससे है, जो जोश में उग्र है और जवानी के नशे में जल्दबाज़।

# हमें सुख क्यों नहीं मिलता ?

*मा० श्री व्यं० वी० द्रविड़*

संसार में सब सुख चाहते हैं, सफल जीवन बिताना चाहते हैं। इसके लिए अपनी अलग-अलग प्रणालियां हैं, अलग-अलग तरीके हैं, अलग-अलग कल्पनाएं हैं, जिन्हें पूरा करने के लिए करने के लिए व्यक्ति अपनी ओर से कुछ उठा नहीं रखता।

आज अधिकांश व्यक्तियों के जीवन का लक्ष्य पैसा बन रहा है। उसके बिना जीवन सुखी बन सकता है, इसकी वे कल्पना भी नहीं कर सकते। अतः पैसे के पीछे उनका जीवन-चक्र चलता है। इसी तरह दूसरे लोगों ने कुछ और-और धुनों में अपने को लगा रखा है। यह सब होता है, पर व्यक्ति को वास्तव में सुख नहीं मिल पाता।

यदि गहराई से विचार करें, तो पाएंगे कि इसका मूल हेतु है—जीवन में सन्तुलन का अभाव। असन्तुलित और अव्यवस्थित जीवन सुखी नहीं बनता। उसमें व्यक्ति की चेतना सुषुप्त रहती है। शुद्ध मनोवृत्ति, सात्विक भाव, सन्तुलित व्यवहार जीवन में स्थिरता लाते हैं, उस के गुण और स्तर को ऊंचा उठाते हैं। इनके बिना जीवन में एक जड़ता जैसी रहती है।

जीवन को मांजने वाले ये तत्व उस पर बाहर से थोपे नहीं जा सकते, सहज भाव से इन्हें उपलब्ध करना होता है। स्वयं का पुरुषार्थ, आध्यात्मिक साधना, उत्साहपूर्ण विचार एवं चिन्तन ही वे साधन हैं, जो व्यक्ति के जीवन को ऊंचा उठाने में सहायक होते हैं। ईमानदारीसे किए जाने वाले ये प्रयत्न जीवन को क्षोभ और जड़ता के बन्धन से निकाल कर उन्मुक्त और सुख की स्थिति में लाते हैं।
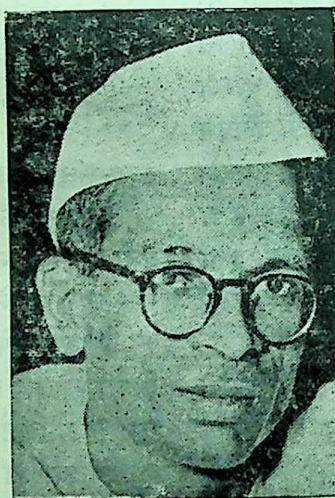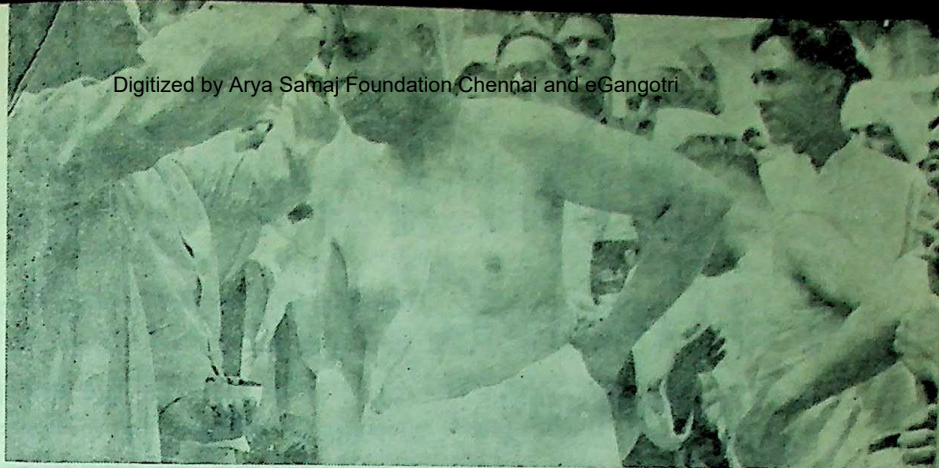
# जीवन को भरपूर और हरा-भरा बनाइए !

## गृहमन्त्री श्री गोविन्दवल्लभ पन्त

किसी के द्वारा होने वाले सत्कार्यों की सामूहिक प्रशंसा से आदमी का उत्साह बढ़ता है, हिम्मत बन्धती है, क्योंकि व्यक्ति की अपनी शक्ति तो बहुत कम होती है। असली ताकत तो समाज की होती है। गान्धी जी की ताकत देश की ही ताकत थी और नेहरू जी का बल भी मुल्क का बल है।

जनता के-समाज के-सहयोग बिना कोई बड़ा काम नहीं हो सकता। असली काम करने वाली तो देश की जनता है। नेता लोग तो जनता के बल पर तथा उसके विचारों को समझ कर कदम उठाते हैं।

मानवता से ऊँची चीज संसार में नहीं है। मनुष्य और मनुष्य के बीच का नाता ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। मानवता के सच्चे पुजारी हुए बिना हम कोई बड़ा काम नहीं कर सकते! मन्त्री, इञ्जीनियर, डाक्टर, चपरासी, सब भाई भाई हैं। शासन सत्ता भी किसी एक की नहीं, जनता की है। आज इस देश में जो सरकार है, वह ३६ करोड़ की मिली जुली बादशाहत ही तो है!

हम अलग अलग खण्डों में विभाजित नहीं; हमारा तो ३६ करोड़ का एक विशाल परिवार है। टुकड़ियों में बांटना तो अपने को संकुचित करना है। मनुष्य अपना क्षेत्र जितना बढ़ा सके तथा जितने अधिक लोगों में अपने को खपा सके उतना अच्छा है।

जीवन का सच्चा सुख देने में है—उसी में रस है। हमें जीवन में लालित्य को नहीं भूलना चाहिए। पराधीनता में हम मुर्झाए हुए थे। अब स्वतन्त्रता में हमारा सिर ऊँचा है। अब हमें सत्यं शिवं, सुन्दरम् के आदर्शों को अपनाकर अपने जीवन को सर्वाङ्गीण बनाना चाहिये। हमें अब अपने जीवन को सीमित नहीं, विशाल बनाना है—गीता में वर्णित विराट रूप का स्मरण कर क्षुद्र सीमाओं को लांघना है।

इसके लिए उस बुनियाद को ठोस बनाइए, जिस पर जीवन को खड़ा होना है। याद रखिए, जीवन को भरपूर बनाने की, उसे हरा भरा करने की जरूरत है और सामंजस्य तथा सामाजिकता से ही ऐसा किया जा सकता है।

# नये लेखकों के सम्बन्ध में

## मेरे अनुभव और निवेदन

### श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

●

कोई चौंतीस वर्ष पहले की बात है। सैमुएल स्माइल्स की पुस्तक 'सैल्फहैल्प' मुझे पुरस्कार में मिली! उन दिनों मैं एफ ए. के प्रथम वर्ष का विद्यार्थी था। उस पुस्तक के आधार पर 'आत्मावलम्ब' नामक एक लेख लिख कर मैंने काशी से निकलने वाले 'नवजीवन' पत्र को भेज दिया। पं० केशवदेव जी शास्त्री (स्वर्गीय) उसके सम्पादक थे। उन्होंने कृपा कर उसे मई-जून १६१२ के अङ्क में प्रकाशित कर दिया।

अब जब कभी उस लेख को पढ़ता हूं, तो अपनी मूर्खता पर हंसी आती है। उस लेख में शब्दाडम्बर की भरमार कीगई थी। संस्कृत हम नाम मात्र को जानते हैं, (वैसे थोड़ी-थोड़ी संस्कृत हम ने सात वर्ष तक कक्षाओं में पढ़ी थी।) पर संस्कृत के श्लोकों को उद्धृत करने का मोह हमें प्रारम्भ से ही रहा है। अपने उस प्रथम लेख में भी हमने यह श्लोक उद्धृत किया था—

विघ्नैः सहस्र गुणितैरपि हन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तम जनाः न परित्यजन्ति।

संस्कृत के अनेक कठोर शब्दों का प्रयोग उस लेख में किया गया था। 'काकतालीय' और 'घुणाक्षर' न्याय भी उस लेख में घुसेड़ दिए थे। एक वाक्य सुन लीजिए—

"तात्पर्य यह है कि यदि हम परतन्त्रता की वैतरणी नदी को पार कर स्वतन्त्रता रूपी स्वर्ग लाभ किया चाहते हैं, तो हमें आत्मावलम्ब रूपी गाय की पूंछ पकड़ना चाहिए।"

लेख का अन्तिम अंश भी पढ़लीजिए-

"किम्बहुना यदि हम सुख रूपी आकाश-मंडल में विचरण करना चाहते हैं, तो आत्मावलम्ब के विमान पर चढ़ने में विलम्ब क्यों? यदि हम उन्नति की सीढ़ी पर चढ़ना चाहते हैं, तो हमें आत्मावलम्ब का रस्सा पकड़ना चाहिये, नहीं तो बस धड़ाम-धम नीचे गिर पड़ेंगे। यदि हम राष्ट्रीय-मन्दिर बनाना चाहते हैं तो हमें आवश्यक है कि आत्मावलम्बी राजों (कारीगरों) को ढूंढें। यदि हम स्वतन्त्रता देवी के दर्शन करना चाहते हैं तो हमें परावलम्ब का आवरण जो हमारी आँखों पर पड़ा है, दूर करके आत्मावलम्ब का चश्मा लगाना पड़ेगा।"

इसके बाद आत्मावलम्ब का 'कोतल' आत्मावलम्ब का 'जिरह बख्तर' आत्मावलम्ब के 'पदत्राण' और आत्मावलम्ब की 'अमृतवटी' का प्रवेश जिस तरह लेख में किया गया था, उसे देख कर आज लज्जा आए बिना नहीं रहती। अब जब कभी हम किसी नवीन लेखक की रचना में इसी प्रकार की आडम्बर-युक्त शैली देखते हैं तो हमें अपनी 'गाय की पूंछ' और 'कोतल' की याद आ

जाती है। 

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि उस लेख के छपने पर हमें अत्यन्त हर्ष हुआ था। अपने प्रथम लेख का प्रकाशित होना जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है। इसके सात वर्ष बाद सन् १६१६ में 'लीडर' में हमें अपना प्रथम अंग्रेजी लेख देखकर उतना ही हर्ष हुआ था। रेल की एक भयंकर दुर्घटना हमारे नगर फीरोज़ाबाद के निकट ही हो गई थी। उसमें कई सौ व्यक्तियों की जानें गई थीं। उन अभागे घायल व्यक्तियों की कोई सेवा-सुश्रूषा हमसे नहीं बन पड़ी और उनके लिए शायद हम उतने चिन्तित भी नहीं थे, जितने अपने लेख को प्रकाशित देखने के लिए!

अब हम अपनी मूर्खता पर हंस सकते हैं, पर अपने व्यक्तिगत अनुभव से हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि लेख लिखना, सैल्फ - एक्सप्रेशन, आत्मप्रकटीकरण का एक तरीका है और खसरे या चेचक की बीमारी की तरह 'लिखास' की भी बीमारी अधिकांश विद्यार्थियों को लग ही जाती है। सौभाग्यशाली हैं वे, जो इससे बच जाते हैं और उनसे भी अधिक सौभाग्यशाली वे हैं, जिन्हें कोई सुयोग्य पथप्रदर्शक मिल जाए। अंट-संट लिखने में और अपना मार्ग स्वयं बनाने में अपने समय का तो अपव्यय होता ही है, पाठकों का भी बहुत-सा वक्त बर्बाद हो जाता है।

अब तो हमारा यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि लेखों को बिना किसी योग्य व्यक्ति को दिखलाए, बिना संशोधन कराये पत्रों को भेजना भयंकर सामाजिक अपराध है और इसके लिए पत्रकार पिनलकोड में कम से कम पाँच-सात महीने सपरिश्रम कारावास का दण्ड मिलना चाहिये।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान डाक्टर भगवानदास ने 'लेखन ब्रह्मचर्य्य' पर बहुत जोर दिया है और निस्संदेह कमजोर मानस-सन्तान-निग्रह के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

'मर्यादा' के जुलाई सन् १६१२ के अङ्क में प्रकाशित मेरे एक लेख ने सारी क्लास पर संकट ही ला दिया था। लेख का शीर्षक था-'औरंगज़ेब के जीवन पर एक दृष्टि।' उन दिनों प्रोफेसर ईश्वरी प्रसाद जी हमारे आगरा कालेज में इतिहास पढ़ाया करते थे और कभी-कभी अनुवाद सिखाने का कार्य भी ले लिया करते थे। औरंगज़ेब के विषय में एक पुस्तक पढ़ाई जाती थी। उसी के आधार पर लिख कर मैंने वह लेख 'मर्यादा' को भेज दिया और उसके सुयोग्य सम्पादक पं० कृष्णकांत जी मालवीय (स्वर्गीय) ने मुझे प्रोत्साहन देने के ख्याल से उसे छाप भी दिया।

हमारे किसी साथी ने 'मर्यादा' का वह अङ्क प्रोफेसर साहब को दिखला दिया। अपने शिष्य की इस करामात पर वे बड़े प्रसन्न हुए, क्लास के सामने मेरी प्रशंसा भी की और उसी लेख का प्रारम्भिक अंश क्लास भर को अनुवाद के लिए बोल दिया! थोड़ी देर में सम्पूर्ण कक्षा निम्नलिखित वाक्यों का अनुवाद करती और मुझे कोसती हुई दीख पड़ी:—

जिसने हिन्दू समुदाय के चन्द्र को राहु के समान ग्रस्त कर लिया, जो कंटकाकीर्ण पथ पर दौड़ता ही चला गया, ठोकरें खाने और बहुत हानि उठाने पर भी जिसने अपने मार्ग का

त्याग न किया, जिसने नखदन्त-युक्त केसरी को पिंजरबद्ध करना चाहा, जिसने 'हरचे वादा वादमा कश्ती दराब अन्दाख्तेम' यह कहकर अपनी नौका समुद्र में छोड़ दी और मार्ग के अवरोधकों की उपेक्षा करता हुआ निज मतानुसार उसे खेता ही चला गया, परन्तु जिसकी नौका दुर्दम-नीति की दामिनी की दमक अविश्वास के मेघ और अत्याचार की झड़ी के कारण नाश के अथाह जल में निमग्न हो गई। पाठक कहेंगे वह कौन था ? वह था मुहीउद्दीन मुहम्मद औरंगज़ेब आलमगीर और वही हमारे इस चरित्र का नायक है।

हम लोग सदा उसे बुरे शब्दों में स्मरण करते हैं। जिसने हमारे ऊपर अनेक अत्याचार किये, हमारे धर्म को नष्ट करना चाहा, हम पर विविध प्रकार के कर लगाये, यदि हम उसे बुरे शब्दों से सम्बोधन करें, तो कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं है, परन्तु साथ ही साथ हमें उसके गुणों से भी शिक्षा लेनी चाहिये और निष्पक्ष भाव से उनकी प्रशंसा करने में भी नहीं हिचकना चाहिये। किसी व्यक्ति के जीवन चरित्र अथवा किसी ग्रन्थ की समालोचना करते हुए उसके गुण और दोष दोनों ही का उल्लेख करना समालोचक का परम धर्म है। केवल दोषों अथवा केवल गुणों का वर्णन करने वाला समालोचक सभ्य-समाज में पतित अथवा पक्षपाती गिना जाता है।

ओलीवर क्रामवेल ने एक बार एक चित्रकार से कहा था—हमारा चित्र ठीक वैसा ही बनाओ जैसे कि हम हैं। यदि तुम चेहरे के दागों और सिकुड़नों को छोड़ दोगे तो हम तुम्हें एक पैसा भी नहीं देंगे।"

सच बात तो यह है कि आज वर्षों बाद भी मैं उपरोक्त वाक्य का सन्तोषजनक अनुवाद नहीं कर सकता और "हर्चे वादा वादमा कश्ती दराब अंदाख्तेम" इस पद्यांश में केवल 'कश्ती' शब्द का ही अर्थ समझ पाता हूँ।

लेखकों से निवेदन है कि जो कुछ भी आप लिखें, सीधी-सादी ज़बान में और संक्षेप से लिखें।

'मर्यादा' की उन दिनों बड़ी धाक थी। 'सरस्वती' के बाद उसी का नम्बर था और उसमें किसी नवयुवक के लेख का प्रकाशित हो जाना निस्सन्देह गौरव-जनक था। 'मर्यादा' के बाद तो अन्य पत्रों में लेख छपना सरल हो गया। गुरुवर पं० लक्ष्मीधर जी वाजपेयी उन दिनों 'आर्य्य मित्र' के सम्पादक थे और उन्होंने मुझे बहुत प्रोत्साहन दिया। 'आर्य्यमित्र' के लिए उन्होंने बहुत से लेखों का अनुवाद मुझसे कराया, 'भारत-सुदशा प्रवर्तक' में भी मेरे बहुत-से लेख छापे और स्वर्गीय पं० रामजीलाल शर्मा ने अपने 'विद्यार्थी' के लिए भी कितनी ही सम्पादकीय टिप्पणियाँ तथा लेख मुझसे लिखाये। लेखक-जीवन की प्रारंभिक अवस्था में एक ऐसा समय होता है, जब कि लेखक की भावनाएं अत्यन्त कोमल होती हैं और उस समय थोड़ी-सी हिम्मत बंधा देने से भी बड़ा काम हो सकता है।

अगर कोई नवीन लेखक मुझ से लेखक-जीवन की सफलता का मन्त्र पूछते हैं तो मैं उन्हें गीता के चतुर्थ अध्याय का चौंतीसवाँ श्लोक बता देता हूँ—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया"

विनम्रता, बार-बार प्रश्न करना और सेवा यही उपाय है, जिससे हम

आशीर्वाद गुरुजनों से पा सकते हैं। यद्यपि हमारी सफलता के लिए इस आशीर्वाद की अनिवार्य आवश्यकता है, तथापि बिना कठोर परिश्रम के कुछ नहीं हो सकता। इस प्रगतिशील ज़माने में भले ही यह बात दकियानूसी समझी जाये, पर मैं गुरु बनाने और उनकी सेवा करके उनका आशीर्वाद लेने में अब भी विश्वास रखता हूं। सुना है 'निगुरा' शब्द साधु-सम्प्रदाय में गाली के रूप में प्रयुक्त होता है। क्या ही अच्छा हो, यदि वह लेखक-मण्डल में भी इसी अर्थ में माना जाने लगे।

महात्मा गांधी जी ने एक जगह पर सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ लेखक रस्किन की लेख शैली की प्रशंसा करते हुए लिखा था—

"रस्किन की अंग्रेज़ी ऐसी है कि जिसे जनता सुगमता से समझ सकती है। ऐसा समय आगे चल कर आएगा कि जब भाषा का प्रेम व्यापक हो जायेगा और उन दिनों चुटीली और प्रभावशाली भाषा लिखने के इच्छुक फकीरी लादने को तय्यार नज़र आएंगे और जिस प्रकार रस्किन ने अपनी सुमधुर अंग्रेज़ी में उन भावों को व्यक्त किया है उसी तरह कोई लेखक गुजराती (भारतीय भाषाओं) में भी लिखने को तय्यार हो जायगा।"

निस्सन्देह प्रभावशाली लेख-शैली के निर्माण के लिए अत्यन्त कठोर साधना की, बकौल गांधी जी फकीरी लादने की जरूरत है, पर यह लेख-शैली हमारे व्यक्तित्व की छाप ही हो सकती है। इस लिए नवीन लेखकों से मैं यही निवेदन करूंगा कि लेख शैलियों के चक्कर में वे न पड़ें और किसी लेखक-विशेष की लेख-शैली की नक़ल करने की ग़लती हर्गिज न करें। यदि हम अपने दिमाग़ को साफ रक्खें, हृदय को सम्वेदनशील और जीवन-क्रम को यथासम्भव निर्दोष, तो उसका प्रभाव हमारी लेखशैली पर पड़े बिना न रहेगा।

नवीन लेखकों के लिए अपने लेखक जीवन को प्रारम्भ करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम अपनी अनुभूतियाँ ही पाठकों के सम्मुख रक्खें। उदाहरणार्थ, यदि आपने किसी खतरनाक वन की यात्रा की है, किसी दुर्गम पहाड़ी की चोटी पर चढ़े हैं या पैदल लम्बा सफर किया है या किसी महापुरुष से बातचीत करने का सौभाग्य आपको मिल गया है, तो उसका विवरण लिखना मुश्किल नहीं, पर ऐसे अवसर कभी कभी ही हाथ आते हैं।

आस्ट्रिया के सुप्रसिद्ध लेखक स्टीफन ज्विग ने आत्म-चरित में एक जगह लिखा है:—

"यदि कोई नव-युवक लेखक अपने लक्ष्य के विषय में अनिश्चित हो तो उसे मैं एक ही परामर्श दूँगा और वह यह कि वह किसी महान लेखक की छोटी-मोटी पुस्तक का अनुवाद करे या फिर उसके आधार पर कोई ग्रन्थ (या लेख) लिखदे। नवीन लेखक जो भी सेवा आत्म-त्याग की भावना से करेगा, उसमें उसे अपनी कृति की अपेक्षा सफलता मिलने की विशेष सम्भावना रहेंगीं, क्योंकि भक्ति-पूर्वक किया हुआ कोई भी कार्य कदापि निष्फल नहीं जाता।"

साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए किसी विषय की विशेषज्ञता भी एक उत्तम साधन है। किसी नवयुवक ने एक सम्पादकाचार्य से पूछा—"सफल पत्रकार

# हम अपनी छुट्टियां कैसे बिताएँ ?

## महामहिम श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी

आजकल मैं नैनीताल में दस दिन की छुट्टियां बिता रहा हूँ। अभी मेरे अन्दर ऐसा दुराग्रह नहीं पैदा हुआ कि मैं यह कह सकूं कि मुझे छुट्टी की जरूरत ही नहीं। लगभग पिछले आठ मास तक मैं यात्राओं पर रहा हूं और अत्यधिक कार्यव्यस्त रहा हूँ। गत आठ सप्ताह से मेरा स्वास्थ्य भी गिरा हुआ था। इसलिए मुझे इसकी जरूरत थी। यह मेरी आध्यात्मिक प्रगति के लिए भी आवश्यक है।

मेरी इच्छा है कि मैं एकदम उन्मुक्त भाव से इन छुट्टियों का आनन्द लूँ।

× × ×

छुट्टियों के सम्बन्ध में मेरे विशिष्ट प्रकार के विचार हैं। जब मैं किसी पहाड़ी स्थान पर छुट्टियां बिताने गया हूं, तो मैंने पाया है कि लोग मैदानी गर्मी से बचने के लिए बावले-से होकर गाड़ियों में भर-भर कर वहां पहुँच रहे हैं। मैथरान मेरा प्रिय पहाड़ी स्थान है, वहां मैंने लोगों को यह कहते सुना है "भाई, बम्बई में तो बहुत भीड़-भड़क्का है; मैदानी इलाकों में तो बहुत गर्मी है; मुझे यहां कम से कम एक महीना तो रहना ही है।"

परन्तु जब वे पहाड़ी स्थान पर पहुँच जाते हैं तो वहां क्या करते हैं ? वे बाजारों में भीड़ करते हैं; बगीचों में इकट्ठे होकर खूब भीड़-भाड़ करते हैं; वे एक दूसरे को चाय-पार्टियों, लंच और डिनर के लिए निमन्त्रित करते फिरते हैं। बड़ी-बड़ी ताश पार्टियों का इन्तजाम करते हैं; खेलों, घुड़दौड़ों, प्रमोदोत्सवों में भाग लेते हैं, परन्तु हमेशा भीड़ भाड़ के साथ।

रिवीयरा या मियामी में छुट्टियां बिताने की हालत तो और भी खराब है। वहां छुट्टियां बिताने का मतलब होता है थियेटरों, क्लबों और जुआघरों में भीड़ करने की प्रतियोगिता करना अथवा हजारों की संख्या में समुद्री तट पर जाकर पड़ रहना। शहर के कोलाहल से बचकर ये लोग और भी अधिक गला-घोटू शोर-शराबे में जा पड़ते हैं। वस्तुतः इन लोगों में शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से भेड़िया धंसानी-वृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

यहां नैनीताल में भी एक फैशनेबल क्लब है। यहां पर लोग ठीक उसी प्रकार का व्यवहार करते हैं, जैसे वे बम्बई अथवा दिल्ली के किसी फैशनेबल क्लब में हों। वे यहां ताश खेलते हैं, गप शप

---

बनने का सर्वोत्तम साधन क्या है ?" उसने उत्तर दिया—"किसी विषय का विशेषज्ञ बन जाना। उदाहरणार्थ आप आलुओं पर लिखना शुरू कीजिए। आलुओं के विषय में जहाँ भी जो कुछ निकला हो उसका अध्ययन कीजिए और दिन-रात आलुओं पर ही लिखा कीजिए। जिस दिन लोग आलुओं का महत्त्व समझेंगे, उसी दिन आप महत्त्वपूर्ण लेखक बन जाँयगे !"

करते हैं, शराब पीते हैं और नाचते हैं। ये यहां पर उसी प्रकार से जीवन काटते हैं, परन्तु उन्हीं वस्तुओं के लिए उससे कहीं अधिक पैसा देते हैं, जितना कि वे अपने शहर में देते।

× × ×

इस प्रकार से छुट्टी बिताने में मेरा विश्वास नहीं है। छुट्टी को मैं आत्मा के लिए एक पड़ाव मानता हूं और इससे सामान्य जीवन का रूप बदल जाता है, जीवन की गति मन्द हो जाती है और आत्माभिव्यक्ति और आत्मदर्शन के लिए प्रभूत समय मिल जाता है। ऐसा अवकाश अपनी आत्मा के लिए एक नया प्रयत्न सिद्ध होता है और आवश्यकतानुसार जीवन के बिखरे तन्तुओं अथवा विचारों या साधना को उपलब्ध करने का एक बार फिर से अवसर प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार की छुट्टियां पति-पत्नी को साथ-साथ बितानी चाहिएं। दैनिक जीवन के संघर्ष में प्रेम और पारस्परिक व्यवहार में जो शिथिलता दृष्टिगोचर होने लगती है उन्हें फिर से नवजीवन प्रदान करने का इससे बढ़कर और कोई साधन नहीं है।

आज के कुछ एकान्त जीवियों अथवा असन्तुष्ट दम्पतिवर्ग की इस धारणा को मैं घृणा की दृष्टि से देखता हूं कि पति-पत्नी छुट्टी लेकर कुछ समय एक दूसरे से अलग-अलग रहें। यह धारणा अत्यधिक भ्रामक और गलत है। मैं यह अपने अनुभव से कहता हूँ।

सामान्य रूप से जब कोई दम्पति एक साथ छुट्टी मनाने जाता है तो पुरुष बहुधा खेलना, उछलना, कूदना चाहता है, स्त्री प्रायः सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करना चाहती है, गपशप चाहती है अथवा महात्माओं के दर्शन। वस्तुतः दोनों को आवश्यकता इस बात की होती है कि वे जीवन-संघर्ष को भूल जाएं, पुरुष अपने दफ्तर को भूल जाय और स्त्री घर गृहस्थी की चिन्ताओं को; यदि वे सार्वजनिक कार्यकर्ता हैं तो वे अपने सार्वजनिक कार्यों को भूल जायं। वे यह भूल जायं कि वे वास्तविक जीवन में एक दूसरे के सहयोगी हैं और वे प्रेमी युगल बन जायं। उन्हें अपने बच्चों के अतिरिक्त सब कुछ भूल जाना चाहिए, कम से कम कुछ समय के लिए तो अवश्य।

इस प्रकार छुट्टी का पूरा मजा आ जाता है। पुरुष अपनी स्त्री और बच्चों में अधिक से अधिक रुचि ले और यह भूल जाय कि वह दफ्तर जाने वाला बाबू है। स्त्री भी घर की कठिनाइयां, पति के झुंझला देने वाले ताने और घर का उबा देने वाला वातावरण भूल जाय।

उन्हें एक दूसरे की प्रशंसा करने की आदत डालनी चाहिये। सम्भव है प्रारम्भ में इसमें कठिनाई हो—और मन्द पड़ती हुई रोमांचकता को नए सिरे से प्राप्त करना चाहिये। अवकाश के दिनों में निरन्तर और शान्त भाव से शारीरिक सान्निध्य के अतिरिक्त और कोई वस्तु दो आत्माओं के सम्मिलन में नवचेतना नहीं प्रदान करती।

जिस वस्तु की कामना करने की आवश्यकता है, वह यह है कि एक दूसरे से भागने की नहीं, अपितु एक दूसरे के अत्यधिक निकट आजाने की है। कदम-कदम मिला कर चलिये; अपने पुराने प्रिय गीत गाइये; अपनी पुरानी अनुभूतियों की चर्चा कीजिए; संक्षेप में समय की धारा में हंस-युगल की भांति तैरिये।

## अपने पढ़ने के कमरे में

### पसीने की बून्दों से।

'सहयोग' में प्रकाशित जापानी कवि योन नागूची की यह बौद्ध कथा मार्मिक है

सप्त द्वीप नव खंड पर एक छत्र राज्य करने वाले राज-राजेश्वर ने अतुल भोग-वैभव और सत्ता-शौर्य को तृणवत् त्याग कर परम निग्रही तपस्वी के रूप में १०० वर्ष की आयु तक आत्म-तत्व की खोज की, किन्तु निराशा के अतिरिक्त उन्हें सफलता न मिली।

एक दिन वे भूख से अति पीड़ित हो, चावल के एक खलिहान पर निकल गए। किसान देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ—'आओ भिक्षु, लो चावल पकाओ। आधा तुम खाओ और आधा मैं।' महाराज ने चावल पकाए। आधे किसान को दिए, आधे स्वयं खाए। थके थे ही, वहीं पेड़ के नीचे लेट गए।

थोड़ी देर में क्या देखते हैं कि एक विराट पुरुष उनके सामने खड़ा है। अंग-प्रत्यंग से तेज टपक रहा है, मानो उसकी आकृति समस्त पृथ्वी और आकाश को ढके हुए है।

मीठी मुस्कान से उसने राजा को सम्बोधन किया—'राजन्, मैं कर्म हूँ—इस सृष्टि का परम तत्व। खोखली तपस्या में लीन तू मुझे खो बैठा था। आज श्रम की अर्चना द्वारा तूने मुझे फिर प्राप्त किया। आत्म-साक्षात्कार का यही मार्ग है, परम तप है, शेष छल है, भ्रम है। जो मनुष्य के श्रम से क्षण-क्षण विकसित नहीं, जो सांस का मूल्य बनकर आत्मा में न समा जाय, जो पसीने की बून्दों से अपना अभिषेक न करें, भला वह भी कोई उपासना है?

दिव्य ज्ञान का यह आलोक पा, अज्ञान-मुक्त राज-राजेश्वर परमपावन तथागत की तरह भूमंडल में विचरने लगे।

### पंडित मोतीलाल नेहरू

'गुरुकुल पत्रिका' में प्रकाशित श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति का यह संस्मरण मजेदार है—

पिता जी के पास पण्डित मोतीलाल नेहरू का इस आशय का पत्र आया कि मैं मार्शल ला की घटनाओं की तहकीकात करने को कांग्रेस द्वारा बनाई गई तहकीकाती कमेटी में भाग लेने के लिए लाहौर जा रहा हूँ। आप पंजाब में सेवा का कार्य करके अभी आये हैं। इलाहाबाद से लाहौर जाता हुआ दिल्ली में आप से मिलकर जाऊंगा। पत्र में अपने दिल्ली पहुंचने की तारीख और पिता जी के निवास स्थान पर पहुँचने का निश्चित समय भी दिया हुआ था। निश्चित और विधिपूर्वक कार्य करने की यह प्रवृत्ति पूज्य नेहरू जी के चरित्र का एक अङ्ग थी।

मुझे नेहरू जी के समीप दर्शनों की बड़ी लालसा थी। उन्हें एक बार पटना की कांग्रेस में दूर से देखा था। तब आप माडरेट (नरम) विचारों के धनी नेता समझे जाते थे। उस समय मैंने नेहरू परिवार को इलाहाबाद से रेल द्वारा पटना जाते हुए देखा था। पहले दर्जे का पूरा डब्बा रिज़र्व कराया गया था। पूरे विलायती वेश में दोनों नेहरू-पिता और पुत्र—जब प्लेटफार्म पर पहुँचे, तो स्टेशन पर काफी सनसनी-सी फैल गई थी। नेहरू जी के धन और

आनन्द-भवन की ख्याति चारों ओर फैल चुकी थी। यह भी चर्चा पूरे जोर पर थी कि उनके लड़के विलायत से बैरिस्टर बनकर आए हैं, ये भी हाईकोर्ट में प्रैक्टिस करेंगे। दोनों नेहरूओं के साथ अन्य भी दो तीन व्यक्ति थे, जो रूप-रङ्ग और वेश-भूषा से नेहरू परिवार के ही सदस्य माने जा रहे थे। वह नेहरू जी का राजसी ठाठ था, जिसे साधारण जनता उत्सुकता से देख रही थी।

उसके पश्चात यह पहला अवसर था, जब मुझे नेहरू जी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त करने की आशा हुई। मैंने पिता जी से निवेदन किया कि मैं आपके स्थान पर नेहरू जी के आने के समय कुछ देर के लिए उपस्थित रहना चाहता हूँ और आपकी बातचीत आरम्भ हो जाने पर चला जाऊंगा। पिता जी ने स्वीकार कर लिया।

वह दृष्य मुझे पूरी तरह याद है। प्रातःकाल के दस बजे का समय होगा। पण्डित जी पिता जी के निवास स्थान पर पहुँचे। जब वे सीढ़ियों से ऊपर पहुँचे, तो उनके रूप की पहली झांकी दिखाई दी। अभी वे कोट-पैंट और हैट के वेश से निकले नहीं थे। शानदार सफेद मूछें, उनके सुन्दर गोरे कश्मीरी चेहरे पर खूब सज रहीं थीं और उनकी शान को बढ़ा रहीं थीं।

पिता जी उनका स्वागत करने के लिए कमरे से बाहर आये। उस समय जो परिस्थिति उत्पन्न हुई, वह वस्तुतः बहुत ही मनोरंजक थी। इसमें थोड़ा अभिनय का सा रंग भी आ गया था। पिता जी ने बाहर आकर पंडित जी पर नज़र पड़ते ही आश्चर्य से कहा—'हैं ! तुम हो !' पंडित जी ने भी पिता जी की तरफ ध्यान से देखकर कहा—"अरे, तुम हो ?"

मैं आश्चर्य में आ गया। दोनों ने खूब कसकर हाथ मिलाये। पिता जी ने कहा—'मैं अब तक यह नहीं जानता था कि पंडित मोतीलाल नेहरू तुम ही हो।' पंडित जी ने उत्तर दिया कि "मैं भी अब तक नहीं समझता था कि महात्मा मुन्शीराम और स्वामी श्रद्धानन्द तुम ही हो।" इसके पीछे थोड़ी देर के लिए दोनों बुजुर्ग अपनी आयु, ऊंची परिस्थिति और शायद मेरी उपस्थिति को भी भूल गये।

एक ने दूसरे से कहा—तुम तब भी बहुत नटखट थे। दूसरे ने उत्तर दिया–तुम्हारी यह तब भी आदत थी। किस ने किस से क्या कहा, यह याद नहीं रहा। सारी बातचीत से थोड़ी देर में मेरी समझ में यह आ गया कि कालेज में पढ़ने के समय दोनों बुजुर्ग इलाहाबाद में सहपाठी थे, मित्र थे और एक ही तबियत के थे; दोनों सैलानी तबियत के थे और किताबों के कीड़े नहीं थे।

**बचपन में**

निर्भय में—प्रकाशित यह संस्मरण भावबोधक है—

"आइए महापुरुष जी ! कहां से आए ? संस्कृत छोड़कर गुजराती लेते हैं, परन्तु यह पता भी है कि संस्कृत के बिना गुजराती आती नहीं है ?"

बात बड़ौदा हाई स्कूल की है। शिक्षक महोदय देवभाषा–संस्कृत के बड़े पक्षपाती थे। स्वभाववश संस्कृत छोड़कर गुजराती पढ़ने वाले के प्रति उन्हें बड़ी अरुचि थी लेकिन शिक्षक तो वे गुजराती भाषा के ही थे। एक विद्यार्थी के कक्षा में प्रवेश करते ही शिक्षक महोदय ने

अपने पढ़ने के कमरे में

उपरोक्त प्रश्न किया।

बाल-विद्यार्थी निडर था, विनोदी था। प्रभावपूर्ण वाणी में उत्तर दिया—"परन्तु साहब हम सब संस्कृत पढ़ते, तो फिर आप पढ़ाते ही किसे?" शिक्षक महोदय बिगड़े और आज्ञा दी, "महा-पुरुष! जाइए एक से लेकर दस तक के पहाड़े लिख लाइए।"

महापुरुष भला क्यों लिखने लगे? फिर तो रोज-रोज सजा बढ़ती गई और वह दो सौ पहाड़े लिखने तक पहुँची। तब शिक्षक महोदय ने पूछा—"क्यों लिखकर लाना है या नहीं?" विद्यार्थी मानो तैयार ही था। जवाब दिया—"दोसौ प (ह) ा ड़े (पाड़े) लाया तो था, लेकिन उनमें से एक ऐसा मरखना निकला कि उससे बिचक कर सभी दरवाजे के सामने से भाग गये। इसलिए एक भी प (ह) ा ड़ा (पाड़ा) नहीं रहता।"

कितना मस्त था विद्यार्थी का यह विनोद, लेकिन शिक्षक सहन न कर सके। उन्होंने धमकाया और सावधान किया। एक दिन फिर पूछा गया, तो विद्यार्थी ने एक कागज़ बढ़ाया। लिखा था—"दो सौ पहाड़े।"

आखिर शिकायत मुख्य शिक्षक के पास पहुंची। विद्यार्थी ने सफाई दी "यह भी कोई सजा होती है? मेरी पढ़ाई में से कुछ लिखवायें तो मुझे फायदा भी हो। पहली पुस्तक के इकाई पहाड़ों से तो किसी को भी लाभ नहीं हो सकता, उल्टा यह लिखते देखकर मुझे सब मूर्ख कहेंगे।"

वह विद्यार्थी थे, स्वर्गीय सरदार वल्लभभाई पटेल।

## दण्डामिस

'धर्मयुग' में प्रकाशित वीर सावरकर के लेख का यह अंश उद्बोधक है—

सिकन्दर ने अपने एक अधिकारी को, जिसका नाम 'सेक्रेटस' था, तक्षशिला वासी दण्डामिस ब्राह्मण के पास भेजकर कहलाया—"हे ब्राह्मण, जो साकार 'ज्युज' देवता (संस्कृत द्युः) का पुत्र है, उस जगज्जयी सम्राट, महाबली सिकन्दर ने तुझे बुलवाया है। यदि तू आने से इन्कार करेगा, तो यहीं, तुरन्त तेरा सिर काट लिया जाएगा।"

सिकन्दर के कर्मचारी सेक्रेटस की यह धमकी सुनकर सन्यासी ब्राह्मण अट्टहास कर खिलखिलाया और उत्तर में बोला—"जा, जा! सिकन्दर जिस प्रकार और जिन अर्थों में 'ज्युज' देवता का पुत्र है, उसी प्रकार और उन्हीं अर्थों में मैं भी उस द्युः का ही पुत्र हूँ। सिकन्दर का विश्वविजेता कहलाने का यह दम्भ व्यर्थ है। अभी तो उसने व्यास नदी का दूसरा किनारा भी नहीं देखा। नदी के उस पार जिन समर-विजेता शूरवीर भारतीयों के राज्य हैं, उन्हें देखकर ही सिकन्दर के छक्के छूट जाएँगे! उनसे भी आगे पवित्र देश मगध का महाप्रतापी राज्य है, उससे टक्कर होने पर ही कहा जाएगा कि सिकन्दर विश्वविजेता है या नहीं, पर वह मगध की सीमा पर स-कुशल पहुँच भी जाएगा?

मुझे सिकन्दर कहता है—'ब्राह्मण, तुझे भूमिदान दूँगा; धन सम्पदा दूंगा लेकिन सेक्रेटस, अपने स्वामी से जाकर कह दे कि ऐसी वस्तुओं को मेरे समान सन्यस्त ब्राह्मण मिट्टी के तुल्य मानते हैं। मेरी मातृभूमि जितना देती है, वही हमारे लिए पूर्णरूपेण पर्याप्त है। मैं अन्यायी का स्वर्ण नहीं छू सकता। उसे लेकर क्या करूँगा? यदि सिकन्दर

मेरा सिर काट लेगा तो और भी अच्छा है, जिस मिट्टी से वह बना है उसी में मिल जाएगा, लेकिन सिकन्दर के पास वह तलवार नहीं है, जो मेरी आत्मा को काट सके! मेरी आत्मा को काटने की कला और शक्ति सिकन्दर के पास नहीं है। मेरी आत्मा अछेद्य एवं अमर है। जा, सेक्रेटस! सिकन्दर से कह दे कि ऐसी-ऐसी धमकियां उन्हें सुना, जो सत्ता, स्वर्ण और शस्त्र के दास हैं और जो मृत्यु से डरते हैं। हमारे सामने सिकन्दर जैसे मर्त्य, मरणशील मनुष्य की धमकियां निरर्थक हैं।"

यूनानी इतिहासकारों ने दण्डामिस के स्वाभिमानपूर्ण गंभीर उत्तर को अपने ग्रन्थों में सविस्तार दिया है और लिखा है—"जिस सिकन्दर शाह ने अपनी तलवार की नोक पर अनेकों राष्ट्रों को उठा कर पछाड़ दिया था, उसी विश्व-विजयी सिकन्दर को भी नीचा दिखाने वाला और पराजित कर देने वाला, यदि कोई इस संसार में हुआ, तो, वह यही वृद्ध और नंगा ब्राह्मण था।"

**अमृता प्रीतम**

पंजाबी की भावुक कवयित्री श्री अमृता प्रीतम की कविताओं के इन टुकड़ों में भावनाओं के कितने कीमती हीरे जड़े हुए हैं—

मैं तैनूँ प्यार करदी हां,
क्यों तेरा विश्वास मंगदा,
इन्हां लफ्जा दा सहारा
विश्वास दी तली ते उमर दी लकीर
क्यों थां थां तों इंज टुट रिहा किनारा
मुहब्बत इक मौसम नहीं
जो आके गुजर जाएगा
मेरे जाण वाले इंज न जा।

मैं तुम्हें प्रेम करती हूँ, तुम्हारा विश्वास मेरे इन शब्दों का सहारा क्यों चाहे? विश्वास की हथेली पर अंकित आयु-रेखा स्थान-स्थान पर टूटी क्यों है? प्रेम कोई ऋतु नहीं जोकि आकर चली जाएगी। मेरे जाने वाले प्रियतम, यूँ न जाओ।

"पुलकदे पाणियां दी रंगत नहीं परखदे,
गंदलापन, निर्मलापन पैरां चं लंघ जांदा है,
मैनूँ तरस आंदा है तेरे प्यार ते,
जो पाणियां दी रंगत दे सवाला विच पैगया
इश्क संस्कारां दा मुथाज बणके रहगया!

पुल कभी जल की रंगत नहीं परखते। मलीन तथा निर्मल जल समान रूप से ही उनके नीचे से बह जाता है। मुझे तुम्हारे प्रेम पर, जो जल की रंगत के प्रश्नों में उलझा हुआ है और संस्कारों का मोहताज बनकर रह गया है, दया आती है।

किंना कू वे अवाज
कौण जाणदा है किंनीयां कू
तारां वणं सकीयां न साज
कौण जाणदा है किंनीयां कू
पीड़ा वण सकीयां न आवाज

हृदय कितना मूक है, कौन जानता है कि कितने तार वाद्य-यंत्र न बन सके और कितनी वेदनाएं ध्वनि बनकर व्यंजित न हो सकीं।

गीत मेरे इह गीत जिमीं दे
उडण न खंभां दी चाल
उड़ दयां दे पल्ले अड़ अड़ जांदे
धरती दे कंडियां दे नाल"

मैं धरती के गीत गाती हूं, मेरे गीत पंख लगाकर उड़ते नहीं, क्योंकि उड़ने वालों के पंख धरती के कांटों में उलझ जाते हैं।

●

# जीवन के झरोखे से

## श्री चन्द्रबदन लश्करी

अहमदाबाद की एक सूती मिल के संचालक श्री चन्द्रबदन ने १६५३ में अपने ३० हज़ार रुपयों के जेवरों का दान कर दिया था और अब अपनी कुल अचल सम्पत्ति भी भूदान यज्ञ में दान कर दी।

ये विज्ञान में ग्रेजूएट हैं और अब मिल के एक श्रमजीवी की तरह ही जीवन बितायेंगे। इस तरह शान को छोड़ शान्ति और वैभव की जगह भव की सेवा उनके लक्ष्य हो गए।

## श्री रोनाल्ड

बोस्टन के पीटर-बेंट-अस्पताल में एक अद्भुत आपरेशन हुआ कि श्री हेरिक के दोनों गले गुर्दे निकाल कर श्री रोनाल्ड का एक गुर्दा उनको लगा दिया गया। इस तरह अब श्री रोनाल्ड और श्री हेरिक दोनों ही एक-एक गुर्दे वाले रह गए। दोनों जुड़वां भाई हैं, पर कितने अच्छे भाई!

## श्री रविशंकर शुक्ल

मध्यप्रदेश के मुख्यमन्त्री श्री रवि-शंकर शुक्ल अपने अमल-धवल बुढ़ापे में भी एक सजीव युवक हैं।

वहीं के वित्तमन्त्री श्री ब्रजलाल बियाणी के शब्दों में उम्र के नाते अपनों में उनका अपना स्थान है, स्वास्थ्यशील जगत में उनकी अपनी विशेषता है। उनमें तरुणों को लजाने वाली कार्य-क्षमता और क्रियाशीलता है, विचारों की दृढ़ता है, कार्य की लगन है, बालकों के समान हंसी की पवित्रता है और हृदय की विशालता है।

## कैप्टेन पतकर

इण्डियन एयर लाइन्स कारपोरेशन के कैप्टेन श्री मोहन शान्ताराम पतकर यात्रियों से भरा हवाई जहाज़ लिए बम्बई से दिल्ली के लिए उड़े। कोटा से कोई २४ मील दूर, पोर्ट इन्जन में एक धड़ाके के साथ आग लग गई।

शान्त मन से पतकर ने यत्न किया और आग बुझा दी, पर इंजन ठीक न होसका। वायरलैस से बम्बई और दिल्ली को सूचना भेज दी गई और कोटा के अड्डे को भी।

पतकर खतरे के इस मोर्चे पर स्थिर रहे और स्टार बोर्ड इन्जन से पूरी तरह काम लेते रहे, पर खतरा भी खूनी मैच खेल रहा था और जहाज़ ६ हजार फीट की ऊंचाई से ५०० फीट पर आगया था। पहाड़ी इलाका और ५०० फ़ीट पर उड़ता टूटा-फूटा जहाज; पतकर उसे नदी के ऊपर-ऊपर लिए चले।

यह आ गई अग्नि-परीक्षा कि स्टार बोर्ड इन्जन में भी खराबी आ गई और स्थिति यह कि अब हुआ वह बन्द और गिरा जहाज़। मृत्यु चारों ओर मुंह फाड़े खड़ी थी, पर पतकर तो इस समय इंजन में थे और इंजन में क्या, बस सम्पूर्ण एकाग्रता से स्वयं इंजन थे! उनकी आँखें, कान, हाथ, पैर और धड़कनें तक इंजन का पुर्ज़ा होरहीं थीं।

मृत्यु हारी, जीवन जीत गया और पतकरने एक लम्बा चक्कर दे, जहाज़ को कोटा पर उतार दिया। यह तो है ही कि दुर्घटना बच गई पर यह भी तो है कि पतकर मृत्यु के घेरे में मृत्यु की चिन्ता से मुक्त रहे! राष्ट्रपति ने अशोक चक्र दे उनका सम्मान ठीक ही किया।

एक आंकड़े के अनुसार १९५३ में फ्रांस में ऐसे व्यक्तियों की संख्या ३९०५ थी, जो शराब पीने के कारण मरे, पर १९५४ में यह बढ़कर ४१०६ हो गई !

आज का आदमी किस तरह जी रहा है कि उसे होश से अधिक बेहोशी प्रिय है और आलाप से अधिक प्रलाप !

## पान पर पाबन्दी

हमारे आध्यात्मिक का देश दुर्भाग्य है कि उसमें बाहरी स्वच्छता-सफ़ाई को विशेष महत्व नहीं दिया जाता और हमारी आदतें ही हमारे चारों ओर गन्दगी पैदा किया करती हैं। ऐसी आदतों में पान भी एक है । कौनसी जगह है, जहां हम पीक नहीं थूकते !

सार्वजनिक स्थानों की स्वच्छता के लिए प्रयोग के तौर पर रेल विभाग ने ९३ स्टेशनों पर पान की बिक्री बन्द करदी है। भावना ठीक है, पर पानकी डिबिया पर कैसे कन्ट्रोल होगा ?

## यह है ज़िन्दगी !

जोधपुर के बालचरों ने उद्योग-सप्ताह मनाकर अपनी संस्था के लिए धन-संग्रह किया और इसके लिए वे घर घर बूट पालिश करते घूमे । भले परिवारों के तरोताज़ा किशोर, यूनिफार्म की प्रभावक रंगीनी और छोटे से छोटा काम करने की भावना से चमचमाते चेहरे; नगर का वातावरण खिल उठा।

कौन मनहूस है, जो कहेगा कि भविष्य के जवाहरलाल और जनरल नागेश हमारे बीच में आज नहीं हैं ?

पंजाब के फीरोजपुर जेल की चहारदीवारी में रहते १६०० कैदियों ने पन्द्रह दिन के लिए अपना चने का नाश्ता बन्द करके उसके मूल्य से जो रुपये बचे, उन्हें बाढ़-पीड़ितों की सहायता में भेज दिया।

जेल के सीखचों में, जहां जीने भर के साधन भी मुश्किल से ही मिलते हैं, देने की यह भावना और जहां स्वयं दुख ही दुख उफना पड़ा है, वहां दूसरे का दुख अनुभव करने की यह वृत्ति मनुष्य की महानता के पक्ष में कितनी बड़ी दलील है !

## १४७ वां जन्म दिन !

रूस के अजर बेजान का गडरिया है मखमूद बिवाजोव। उसने अपने १५२ पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रों के साथ अपना १४७ वाँ जन्म दिन मनाया । उसकी बड़ी लड़की की उम्र १२० वर्ष है, पर मखमूद अभी स्वस्थ है और अपनी १४७ वीं वर्ष गांठ पर क्रेमलिन राजमहल और कृषि-प्रदर्शिनी देखकर आया है।

१॥ शताब्दी के इतिहास को अपनी आंखों देखने वाले बुजुर्ग मखमूद का अभिनन्दन और अपने देश के नौजवानों को यों जीने का निमन्त्रण भी !

## सिर्फ़ एक आना !

५—७ रुपये रोज़ की शराब पी-जाने वाले क्लब-बाज़ों की हमारे यहां कमी नहीं, पर पाँच आने की सिगरेट फूक डालने वाले, तो गली-गली हैं। वे नहीं जानते कि इन पैसों से वे क्या, क्या कर सकते थे !

उत्तरप्रदेश के स्वास्थ्य-मन्त्री श्री चन्द्रभानु गुप्त ने बताया कि क्षय रोगियों की सहायता के लिए बिकने वाली एक आना सील से पिछले ५ वर्षों में लगभग ६ लाख रुपये प्राप्त हुए हैं !!

## वीरता के लिए

**डाकुओं** का गिरोह और निहत्थे ग्रामवासी, पर साहस और एका ऐसी ताकतें हैं, जो कभी नहीं हारतीं। जमकर मुठभेड़ हुई, तो तीन डाकू मार डाले गए और दो को जीते जी पकड़ लिया गया! गाँव वालों को भी चोटें आई और कन्हाई तो शहीद ही होगया!

यह इलाहाबादके सिंहनपुर की घटना है। वहां के कमिश्नर श्री हसनजहीर ने दस हज़ार आदमियों के एक समारोह में इन वीरों को पुरस्कार दिए और कन्हाई शहीद की माता को सरकार द्वारा पेंशन देने की घोषणा की! यह है उचित के साथ औचित्य की बात!

## सफल डाक्टर

**डाक्टर** विधान चन्द्र राय ने एक भाषण में कहा—"वही डाक्टर सफल हो सकता है, जिसका हृदय कभी कठोर न हो, स्पर्श आघात न पहुँचाए और धैर्य परिश्रान्त न हो।"

ठीक ही है, धैर्य और सहृदयता सफलता की कुंजियाँ हैं।

## काली पोशाक में

**भारत** के इस नवोदय में भी ऐसे लोग हैं, जो अभी १८वीं सदी में ही जी रहे हैं और घूँघट में से ही दुनिया को देखते हैं। ये 'रक्षा' की भाषा में सोचते हैं और 'सम्वर्धन' से घबराते हैं। इन की ज़िन्दगी में खुशी के दीपक बुझे पड़े हैं, यहां तक कि ये राष्ट्र की सामूहिक खुशियों से भी चिन्तित हो उठते हैं।

प्रधान मंत्री नेहरू ने ऐसे लोगों को झकझोरा है—"राष्ट्र और व्यक्ति का जीवन एक सूत्र में बन्धा हुआ है और जब राष्ट्र बढ़ता है, तो सभी क्षेत्रों में बढ़ता है। सिर्फ राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि कला, साहित्य और नृत्य में भी, जिससे राष्ट्र की स-जीवता ज़ाहिर होती है।

जो लोग कला और नृत्य पर नाक-भौं सकोड़ते हैं, उनसे मुझे कोई सहानु-भूति नहीं, क्यों कि मैं जानता हूं कि राष्ट्र काली (शोक सूचक) पोशाक पहन कर उन्नति नहीं कर सकता!"

## वेदना और वंदना

**देश** के रचनात्मक विचारक श्री श्रीकृष्णदास जाजू और यशस्वी तरुण गायक श्री दत्तात्रेय विष्णु पुलस्कर अब इस संसार में नहीं रहे। जाजू जी का जीवन कभी अपना नहीं रहा और पुलस्कर जी का जीवन अपना होकर भी सदा देश का रहा। दोनों की स्मृति में वन्दना।

'नया जीवन' के जीवनदर्शी लेखक श्री राजेन्द्रनाथ मिश्र के पिता की मृत्यु हो गई और कुछ दिन बाद ही तीन वर्ष का पुत्र भी हट गया। पिता थे सहारा तो पुत्र उम्मीद! इस वेदना में सम-वेदना के अतिरिक्त क्या कहा जाए?

# पुस्तक-परिचय

## बेनीपुरी ग्रन्थावली

श्री राम वृक्ष बेनी पुरी हिन्दी के सफल लेखक हैं। उन्होंने बहुत लिखा है, बहुत खूब लिखा है, विविध दिशाओं में लिखा है। वे आज के उन लेखकों में हैं, जो कल भी जीवित रहेंगे–जीते जी अमरता की गारंटी पा जाना साधारण तो नहीं! आज भी अपनी जगह वे अपनी तरह के हैं–अपने जीवन में भी, अपने जीवन-साहित्य में भी।

वे हिन्दी के उन दो चार में हैं, जिन्होंने साहित्य को जीवन दिया और साहित्य से जीवन पाया। बेनीपुरी का जीवन एक पूरा पनपा जीवन है कि उन में भाव हैं, अभाव नहीं। वे एक आदमी की तरह जी रहे हैं, कलाकार की तरह जिला रहे हैं। बेनीपुरी ग्रंथावली उनके व्यक्तित्व का प्रतीक हो गई है; सुन्दरता में भी, स्वस्थता में भी, सफलता में भी।

हिन्दी में भारतेन्दु, तुलसीदास और मतिराम आदि की कुछ ग्रन्थावलियां हैं, पर किसी आधुनिक लेखक की यही सब से पहली ग्रन्थावली है। यह दस भागों में पूर्ण होगी; दो भाग प्रकाशित होगए हैं। पहले में स्कैच, उपन्यास और कहानियां आगई हैं और दूसरे में नाटक, एकांकी और रूपक।

दोनों पुस्तकें वज़नदार हैं और अत्यन्त सुन्दर भी। पढ़ने में दिलचस्प और विचार बोधक, तो आलमारी में सजावट का अंग। प्रत्येक का मूल्य १२॥) रुपये और प्राप्ति स्थान बेनीपुरी प्रकाशन, पटना है।

## कला का पुरस्कार

श्री पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की सोई कलम फिर से जाग उठी है और यह कहानी संग्रह उसका उद्‌घाटनोत्सव है। जीवन को देखने का उग्र जी का अपना दृष्टिकोण है और अपने देखे को लिखने की उनकी अपनी शैली। दोनों में प्रखरता है –वे चुटकी नहीं काटते, चाकू मारते हैं, पर यह चाकू डाक्टर का नश्तर होता है।

इस संग्रह में १५ कहानियाँ हैं। वे मनोरंजक हैं और कुछ सोचने का तकाजा पाठक पर करती हैं। यह तकाज़ा सुना जाना चाहिये, माना जाना चाहिए। उग्र जी के ही शब्दों में–"उग्र का पाठक इन रचनाओं से निराश नहीं होगा।"

प्रकाशक–आत्मा राम एण्ड सन्स, दिल्ली है और मूल्य तीन रुपये।

## मेरे समकालीन!

गान्धीजी ने जहाँ देशके भिन्न भिन्न प्रश्नों पर लिखा, वहां अपने समकालीन नर नारियों पर भी लिखा। उनके इन संस्मरणात्मक लेखों-टिप्पणियों का महत्व इस दृष्टि से बहुत है कि इन से हम उन-उन नरनारियों के जीवन को तो जान ही सकते हैं, यह भी जान सकते हैं कि जीवन को जानने की गान्धी जी की दृष्टि क्या थी।

६४३ पृष्ठों के विशाल ग्रन्थ में उन सबका संग्रह करके श्री विष्णु प्रभाकर

ने और उसे प्रकाशित करके सस्ता साहित्य मण्डल, कनाट सर्कस नई दिल्ली ने पुण्य का उपयोगी कार्य किया है। मूल्य है पाँच रुपया।

## खोज की पग डण्डियाँ !

श्री मुनि कान्ति सागर जी के १२ लेखों का यह संग्रह है। लेख सभी खोजपूर्ण हैं और अतीत की उलझनों को वर्तमान में सुलझाते हैं। खोजपूर्ण लेख अक्सर इस तरह लिखे जाते हैं कि वे पाठक पर बोझ हो जाते हैं। मुनि जी की शैली सरस है और इन गम्भीर लेखों के पढ़ने में आनन्द आता है। जानकारी तो बढ़ती ही है। हर पुस्तकालय में इस पुस्तक को स्थान मिलना चाहिये।

प्राप्ति स्थान है—भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस और मूल्य चार रुपये।

## अंखियाँ निहारि के ! पगधूरि झारि के !!

१५-१६ वर्ष पहले एक पुस्तक पढ़ी थी शैलेय। उसमें क्या लिखा था, समझ न आया, पर लगा था कि लेखक के भीतर कुछ है। बरसों बाद यह पुस्तक पढ़ी। जी खुश हो गया—वाह वाह। दोनों पुस्तकें श्री बरुआ की लिखी हैं। पहली में वे उलझन में थे, इसमें स्पष्ट हैं।

भारतीय गार्हस्थिक नारी का यह अध्ययन है, पर पुस्तकों के माध्यम से नहीं, जीवन के माध्यम से। ये चरित्र संग्रह करने में २० हज़ार मीलों की यात्रा की गई है। लिखने के ढंग में मखमल की चिकनाई है, चिकन की फूलकारी, इतिहास की यथार्थता है, उपन्यास की मनोरंजकता; बहुत कुछ है इसमें और उचित है कि हिन्दी संसार इसे हाथों हाथ ले।

रामपुरिया प्रकाशन, कलकत्ता २०, से चार रुपये में प्राप्त।

## त्रिफला !

श्री रामेश वेदी एक विचित्र जीव हैं—कुछ नई बात कहना और नया काम करना उनका स्वभाव है। वे सांप पालते हैं, उन पर लेख लिखते हैं और और भी बहुत कुछ। त्रिफला उन्हीं की लिखी पुस्तक है।

इसके ३०० पृष्ठों में हरड़, बहेड़ा, आंवला (त्रिफला) पर पूर्ण विवेचन है। कुछ यों सोचते हैं लोग कि यह सब तो वैद्यों के जानने की बातें हैं, पर सच यह है कि यह सबके जानने की बातें हैं और इस तरह की पुस्तकें ही इस विषय को सब के जानने लायक बना सकती हैं। जनता में इस पुस्तक का खूब प्रचार होना चाहिये।

गुरुकुल कांगड़ी, हरद्वार से यह पुस्तक तीन रुपये में प्राप्त।

## कला की परख !

कला-प्राध्यापक श्री के. के. जसवानी ने यह पुस्तक लिखकर हिन्दी के एक अभाव की पूर्ति की है। यह उनके भी काम की है, जो चित्रकला की शिक्षा पाना चाहते हैं और उनके लिए भी, जो कला की साधारण परख सीखना चाहते हैं।

लेखक स्वयं प्राध्यापक हैं, इसलिये अपनी बात को वे समझने लायक बनाना जानते हैं। फिर चित्र देने से यह और भी सुगम होगया है। पढ़ने में मनोरंजक और देखने में नयना भिराम इस पुस्तक का मूल्य है ४) और प्राप्ति-स्थान आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली ६।
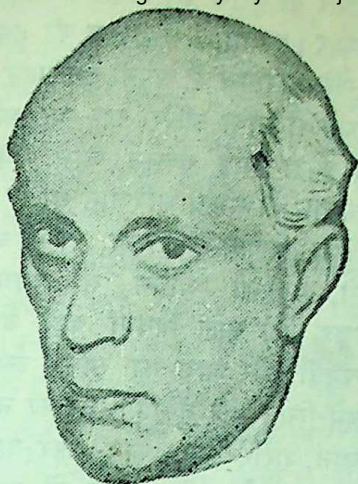
# नेहरू जी का पृष्ठ

## जीवन की साध पूर्ण

नीलाम्बूर में नेहरू जी ने एक वृद्ध आदिवासी का काँपता हुआ हाथ प्रेम से अपने हाथों में लिया और उसे १००० एकड़ भूमि का दान-पत्र अर्पित किया। उस आदिवासी ने जब २५० किसान परिवारों की ओर से यह दान-पत्र लिया तो उसकी आँखें, अपने आदमियों की जीवन-साध पूरी होते देख कर आनन्द से डबडबा आईं। यह दृश्य देख कर प्रधान मंत्री नेहरू का हृदय भावुक हो उठा और उनकी भी आँखें सजल होगईं!

## चलते फिरते विश्वविद्यालय

भारत सरकार के शिक्षा-सलाहकार प्रो० हुमायुँ कबीरने कहा—प्राचीन यूनान के दार्शनिक जिस प्रकार अपनी बातों से दूसरों को शिक्षा देते थे, उसी प्रकार श्री नेहरू घूम फिर कर भारत के लोगों को शिक्षा देने में एक चलते-फिरते विश्व-विद्यालय का-सा काम कर रहे हैं।

## शान्ति के विकृत रूप

केरल-कला-मण्डलम के समारोह में नेहरू जी ने कहा—कुछ लोग शान्ति शब्द से ही घबरा उठते हैं और उसका प्रयोग करने वालों से नाराज हो जाते हैं। इस के अतिरिक्त कुछ और लोग शान्ति शब्द का नारा कुछ इस तरह लगाते हैं, जैसे पत्थर मार रहे हों। ये दोनों ही दृष्टिकोण गलत हैं। वास्तव में शान्ति की स्थापना शान्त ढंग से काम करने पर ही हो सकती है।

## संघर्ष ही जीवन है

कोयम्बटूर की सार्वजनिक सभा में नेहरू जी ने कहा—"समस्याओं और उलझनों से डरिए नहीं। केवल मुर्दों के सामने ही समस्याएं नहीं होतीं। संघर्ष के साथ जूझने से ही शक्ति बढ़ती है। हमने कुछ मसले सुलझाए, तो उससे हमारा विश्वास बढ़ा, शक्ति बढ़ी। कहीं गिरे भी तो फिर खड़े हो गए और समस्याओं का मुकाबला किया। भविष्य का सामना भी हम उसी प्रकार करेंगे जिस प्रकार हम ने अतीत का किया है।

## उत्तर-दक्षिण दोनों

त्रिचूर में नेहरू जी ने कहा-"केरल के सौन्दर्य ने सचमुच मुझे आकर्षित कर लिया है, किन्तु मुझे केरल के निवासियों से ईर्ष्या नहीं, क्योंकि दक्षिण आप का ही नहीं है, जैसे कि उत्तर केवल मेरा नहीं है।

उत्तर और दक्षिण दोनों आपको संयुक्त रूप से उत्तराधिकार में मिले हैं। केवल इसी भावना से भारत प्रगति कर सकता है, खंडों की भावना से नहीं।

○

पिता आज़मगढ़ जिले के बरहँपुर गाँव से कब काशी आ-बसे, पता नहीं, पर होश ने पलकों की पहली झपकी में देखा—माता है, बड़ी बहन है, छोटा भाई है और वह स्वयं।

और पिता? वे सन्यासी हो, अपने तपोवन में थे-निस्पृह, निर्मम, निस्संग; मिल जाता खा लेते, मिल जाता पहन लेते, कभी नंगे भी घूमते।

# आपबीती सुनिए

घूमते-घूमते कभी द्वार पर आ जाते, तो वह छुप जाता; पर कभी-कभी वे उसे अपने तपोवन ले जाते और पालथी मारकर बैठा, कहते—भज रे राम-राम और स्वयं भी लीन हो जाते। वे लीन ही रहते और वह पतंग खरीदने चुपचाप शहर की ओर चल देता।

शान्ति प्रिय द्विवेदी कहते हैं—"इस तरह बचपन से ही मेरा एक पग संसार की ओर था दूसरा पग पिता के तपोवन की ओर। अहाते में मैं मैदान की हवा-सा खेला करता। मैं अपनी तुतलाहट से मनुष्यों की भाषा सीख रहा था और मेरा छोटा भाई रुच्चन जाने किस नंदन-वन का नीरव पारिजात था।"

यह परिजात मुर्झा गया, माँ भी चल बसी, मदरसा जीवन में आया। संरक्षक थी बाल विधवा बड़ी बहन कल्पवती और आय का साधन उसकी सलमे-सितारे की बुनाई। घर का नाम मुच्छन, शरीर कृश, कान बहरे-बहते; फिर भी दर्जा ४ की परीक्षा में पहला नम्बर और छात्रवृत्ति के साथ मिडिल स्कूल की पांचवी कक्षा में प्रविष्ट—यह है सन् १९२०।

मास्टर छेदीलाल ने भूगोल की एक पुस्तक लिखी थी। उस पर उनका नाम छपा देखकर मुच्छन को लगा कि मैं भी किताब लिख सकता हूँ, उसपर मेरा भी नाम छप सकता है। गणित और व्याकरण पर उसने दो पुस्तकें लिखीं। एक खो दी किसी साथी ने, दूसरी ज़ब्त की मास्टर छेदीलाल ने। पुरस्कार में मिला एक थप्पड़। बेचारे छेदिया को क्या पता था कि यह जीवन भर पुस्तकेंही लिखेगा!

पढ़ाई छोड़ दी। बहन ने भोजन बन्द कर दिया। घुमक्कड़ी आरम्भ हुई—कभी भोजन मिलता, कभी नहीं। समय ही समय था। वाचनालय में बैठा वह अखबार पढ़ाकरता। एक दिन चपरासी ने झड़प दिया, तो मुच्छन ने एक शिकायती

पत्र 'आज' में छपने को भेज दिया और अपने नाम का साहित्यिक संस्करण किया–विद्यार्थी मुच्छन द्विवेदी। अब कभी-कभी सम्वाद छपने लगे, नाम छपने लगा और टीन के टुकड़े पर खड़िया से लिखकर घर के बाहर साइन-बोर्ड भी लग गया।

काम मिलते रहे, मुच्छन करता रहा, छोड़ता रहा; क्योंकि—"भूख प्यास से विकल रहते हुए भी केवल आर्थिक दृष्टि से ही मैं किसी काम में मन नहीं लगा सकता था, मुझे मानसिक स्वास्थ्य भी अभिप्रेत था। अपनी सीमा से परिचित न होते हुए भी नेति-नेति की तरह ही सांसारिक सीमाओं को भी अस्वीकार करते हुए चल रहा था।"

जेम्स एलन और सेमुअल स्माइल्स की कुछ पुस्तकें पढ़ीं। "विचारों के एक उच्च वातावरण में मैं सांस लेने लगा। अपनी मनोवृत्ति का विश्लेपण करने पर ऐसा आभास मिलता है कि ऊपर से आरोपित ज्ञान मुझ में जम नहीं पाता था। स्वयंरुह की तरह मैं अपने भीतर

द्विवेदी। मुझे नया उत्साह मिला। मैं लेखक बनने का प्रयत्न करने लगा।"

"स्वामी राम की जीवनी पढ़कर मेरी आत्मा का उद्‌घाटन हो गया। मुझे जान पड़ने लगा कि मैं एक व्यक्ति नहीं, अपने आप में निखिल चेतन हूँ। भावना के भीतर जिस जीवन को उपलब्ध करना चाहता था, वही स्वामी राम के आत्म-दर्शन में मिल गया। मेरे जीवन का केन्द्रीकरण हो गया।"

× × ×

"१९२२ के ग्रीष्मावकाश की बात है। एक दिन मैं आदरणीय पण्डित राम नारायण मिश्र के आवास पर जा पहुँचा।

पंडित जी ने कहा—आपका नया नामकरण होना चाहिये।

कृपया आप ही कोई नया नाम रख दीजिए।

कुछ सोचकर उन्होंने कहा—आपको शान्ति की आवश्यकता है, इसलिए आपका नाम शान्तिप्रिय होना चाहिये।

स्वामी राम के अनुगामी का कुछ

# शब्द-शिल्पी श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

से ही उगना चाहता था। मेरा अंत.करण अनुभूति में अंकुरित होता आया है। स्वाध्याय से उसे जल, वायु, खाद्य और प्रकाश मिलता रहा है। मुझमें एक नैसर्गिक प्राणोदन था।"

"स्त्री-दर्पण के किसी पुराने अंक में एक पद्यबद्ध कहानी छपी थी। मैंने उसे गद्य में लिखकर फिर स्त्री दर्पण में ही भेज दिया, वह छप गई, लेखक थे श्री मुच्छन

ऐसा ही नाम होना चाहिए था। मैंने यह सात्विक नाम शिरोधार्य कर लिया।"

× × ×

स्त्री-दर्पण, विद्यार्थी, नव-ज्योति और त्यागभूमि में लेख लिखते रहे, बाद में 'जीवनयात्रा' पुस्तक में इनका संग्रह हुआ। पुस्तक से आर्थिक लाभ तो क्या होता, हां प्रोत्साहन मिला।

कुछ दिन 'स्त्रीदर्पण' में काम किया,

कुछ दिन 'माधुरी' में। 'मतवाला' में निराला जी के मुक्तक पढ़कर मुक्तक लिखने लगे और वे मतवाला में छपे भी। राय कृष्णदास की 'साधना' से प्रभावित होकर गद्यकाव्य लिखने लगे। इसी प्रवाह में लिखा पहला साहित्यिक लेख —समालोचना का महत्व और इस तरह उनका साहित्यिक भविष्य कविता और समालोचना में केन्द्रित हो गया।

१६२५; छायावादी कविताओं का पहला संग्रह 'परिचय' प्रकाशित होने से परिचय बढ़ा, पत्रों से लेखों की मांग आई। 'प्राचीन हिन्दी कविता' नामक लेख 'सरस्वती' में लिखा, तो 'विशाल भारत' के लिए पं० बनारसी दास चतुर्वेदी ने छायावादी कविताओं पर लेख मांगे।

"पर मेरे लिए यह कठिन काम था। व्रज भाषा की काव्य-समीक्षा के लिए तो रीति शास्त्र था, किन्तु छायावाद की व्याख्या और समीक्षा के लिए कोई वैसा वैधानिक साधन सुलभ नहीं था। मैं आकुल-व्याकुल होकर नई आलोचना का मार्ग खोजने लगा। कोई पथ-प्रदर्शक नहीं मिल रहा था। अचानक आयरिश कवि ईट्स के सम्बन्ध में रवि बाबू का लेख हाथ में आगया। वह 'सरस्वती' में अनुवादित होकर छपा था। छायावाद की कविता की तरह ही उसमें काव्य का विवेचन भी भावनात्मक था। मैंने आलोचना की वही शैली पकड़ ली।"

रोटी के लिए पहले रायकृष्ण दास के पुस्तकालय का काम करते रहे, बाद में भारती-भण्डार का।

"उस समय भारती-भण्डार से मुख्यत: प्रसाद जी और राय साहब की ही रचनाएं प्रकाशित हुईं। मैं ही प्रेस-कापी करता था, मैं ही प्रूफ देखता था, यथास्थल रचनाओं में संशोधन भी करता था, व्यवस्थापक की ओर से वक्तव्य लिखता था।"

"राय साहब ने 'कंकाल' का छोटा-सा प्राक्कथन लिखा था, पर यथार्थ और आदर्श को लेकर दोनों मित्रों में मतभेद हो गया। इस विवाद में 'कंकाल' के प्रकाशन में विलम्ब होते देखकर मैंने अपना प्राक्कथन लिखा और प्रसाद जी को वह पसन्द आगया।"

"भारती-भण्डार से मेरी भी एक कविता पुस्तक प्रकाशित हुई–नीरव।"

"सन ३२ के ग्रीष्म में मैंने भारती-भण्डार छोड़ दिया। स्वास्थ्य-सुधार के लिए पुरी-कलकत्ता चला गया, किन्तु मैं रुग्ण नहीं, शोषित था, स्थान परिवर्तन से ही मुझे नवजीवन कैसे मिल सकता था!"

"सन ३४ से मैं इलाहाबाद में रहने लगा। जो कुछ लिखता उसे एक श्रमजीवी शिल्पी की तरह दैनिक 'भारत' में प्रकाशनार्थ दे आता!"

'भारत' में सम्पादकीय विभाग में उन्हें ले लिया गया और तभी उनकी पहली आलोचनात्मक पुस्तक 'हमारे-साहित्य निर्माता' प्रकाशित हुई।

"सच तो यह है कि आचार्य शुक्ल जी के इतिहास के बाद नए साहित्य, विशेषत: छायावाद की कविता का मर्मोद्घाटन पहले-पहल इसी पुस्तक के द्वारा हुआ। बनारस में मैं छायावाद की कविताओं पर भावात्मक लेख लिखता था। पन्त की भाषा और रवीन्द्र नाथ की शैली का मुझ पर प्रभाव था। इलाहाबाद आने पर मैंने शुक्ल जी के ग्रन्थों

को भी कहा । 'हमारे साहित्य निर्माता' में मैंने भावात्मक और शास्त्रीय समीक्षा का समन्वय कर दिया ।''

१६३५ में 'भारत' का काम छूटा और १६३६ में 'कवि और काव्य' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई । तब वे 'हँस' में सहयोग देने को फिर बनारस आगए।

''बनारस में जीवन का एक मधुर अध्याय जुड़ते-जुड़ते रह गया । आज जिस मुहल्ले में रहता हूँ, उसी के पड़ौस में एक गरीब ब्राह्मणी की गुदड़ी में लालकी तरह उसकी कन्या एक रत्न थी । वह कुसुम कलिका की तरह सहज सुघर थी उसमें सांस्कृतिक शोभा थी। वह मेरे गृह-संस्कारों की सहचरी बन सकती थी, किन्तु मैं तो सुदामा से भी अधिक सुदामा था, विवाह के लिए साधन नहीं जुटा सका।''

१६३८ में उनकी नई पुस्तक प्रकाशित हुई–साहित्यिकी और १६३६ में वे 'कमला' के सम्पादक हो, काशीमें वास करने लगे। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने 'साहित्यकी' की भूमिका में लिखा—''हमारे साहित्य के विद्यार्थियों को वर्तमान साहित्य का सबसे प्रथम और सब से अधिक परिचय कराने का श्रेय शरीर से निर्बल, किन्तु विचारों से पुष्ट श्री शान्ति प्रिय द्विवेदी को मिलना चाहिए।'' इसी साल में उनके जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना हुई-बहन की मृत्यु और वह भी काशी के अस्पताल में—उनके पास अपना कहीं घर ही न था ! और तब प्रकाशित हुई उनकी पुस्तक 'संचारिणी'! बहन की दर्दनाक मृत्यु से उनका दृष्टिकोण समाजवादी हो गया और तब १६४० में उनकी पुस्तक आई—'युग और साहित्य'। उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा—

''आज मेरे एक ओर छायावाद और गान्धीवाद है, दूसरी ओर समाजवाद है, मैंने अपनी बहन के भीतर जिस उज्वल आत्मा का दर्शन किया था, उसी की प्रेरणा से मैं छायावाद (भाव) और गान्धीवाद (संस्कृति) को अपना लेता हूँ, किन्तु वैसी आत्माओं के लिए इस पृथ्वी पर ठौर-ठिकाना नहीं है । जीवन की इस करुण विडम्बना की आवृत्ति पुन: पुन: न हो, इसलिए युगधर्म के रूप में समाजवाद को भी स्वीकार कर लेता हूं।''

–पर समाजवाद का यह प्रभाव उनके मन पर गाढ़ा नहीं हुआ और १६४४ में प्रकाशित अपनी नई पुस्तक 'सामयिकी' की भूमिका में उन्होंने लिखा—

''गान्धीवाद अन्तःस्पन्दन की भांति अन्तस् में था । प्रस्तुत पुस्तक में वही अन्तः स्पन्दन (गान्धीवाद) मुख्य सम्वेदन बन गया है । स्वयं मेरा दैनिक जीवन तो वास्तविकताओं का भुक्त भोगी है, किन्तु मनुष्य के जीवन का उद्देश्य दैनिक अभाव-भराव के ऊपर है, अतएव सांस्कृतिक प्रयत्नों को विशेष महत्व देता हूँ।''

१६४४ में 'वीणा' का सम्पादन और तब पथचिन्ह, धरातल और ज्योति-विहग नामक पुस्तकों का लेखन। यों आया १६५१ और १६५२ के अन्त में अपनी आत्म-कथा—परिव्राजक की प्रजा। शान्तिप्रिय द्विवेदी का जीवन एक अपढ़ के शैलीकार हो जाने की कहानी है, एक बीज के वृक्ष बनने का पूर्ण नमूना है, आत्मनिष्ठ अणु के विराट होजाने की गौरव-गाथा है, उन्हें अनेक प्रणाम !

*'परिव्राजक की प्रजा' नामक उनकी आत्म-कथा के आधार पर*

# जब मेरे पिता जी न रहे !

श्री राजेन्द्रनाथ मिश्र

●

पिता जी का स्वर्गबास हो गया था। अन्त्येष्टि क्रिया के लिए हम लोग उन्हें कानपुर ले गए। शव को सड़क के रास्ते से रवाना कर हम लोग रेलवे स्टेशन चल दिए। हमारे साथ गांव के बहुत से व्यक्ति भी थे।

हम लोग रेल के एक ही डिब्बे में बैठ गए, तो एक मुसाफिर ने जो मेरा परिचित था, प्रश्न किया—"मिश्र जी, क्या आप किसी बारात में जा रहे हैं ?" मैं चुप रहा, उनके प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया; क्योंकि हर एक प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक नहीं होता और कभी कभी मौन ही स्वयं उत्तर बन जाया करता है।

एक सज्जन, जो हमारे साथ थे उन्होंने उन महाशय को बताया कि रात्रि में पण्डित लक्ष्मी नारायण जी मिश्र का स्वर्गवास हो गया।

"वही, जो अकबरपुर आर्यसमाज के बहुत वर्षों तक प्रधान रहे थे ?"

"जी हां"

"बहुत वृद्ध थे वे"

"हां, ६२ वर्ष के हो चुके थे। पुत्र, पुत्री, पौत्र धेवते, सभी हैं। फली-फूली, भरी-पूरी फुलवारी छोड़ गए हैं।"

उधर उनकी बातें चलती रहीं, इधर मेरे मन में उन सज्जन का पुराना प्रश्न -बार-बार आता रहा—किसी बारात में जा रहे हैं क्या ? प्रश्न समय के दृष्टिकोण अस्वाभाविक भले ही हो, पर उसमें सत्यांश अवश्य था। आत्मा का परमात्मा से मिलन, अंग का अंगी में समावेश। कबीर के शब्दों में—दुलहनी, गावहु मंगल चार।

फिर शोक-संताप क्यों ? दुख के सागर में डूबना-उतराना क्यों ? कौन अमर है इस नश्वर जगत में ? जीना मरना है क्या ? याद हो आई, हज़रत नूह की पंक्तियाँ—

जीने का तौर कुछ भी नहीं,
सांस चलती है और कुछ भी नहीं।

इन भाव-धाराओं ने मन को बहुत साहस प्रदान किया। हर एक पुत्र को पिता का अभाव खलता है, फिर मुझे तो उनमें एक साहित्यिक गुरु का भी व्यक्तित्व खो देना पड़ा।

मैं उनके आदर्शों पर चलते रहने की बात सोचने लगा और यह भी कि मुझे जल्दी ही अपनी नौकरी पर जाना है।

आदमी कितना भुलक्कड़ है, पर समय भुलक्कड़पन के पेंसलीन का आविष्कार न करता, तो यह दुनिया चलती ही कैसे ?

मैंने देखा—मेरे शोक में मेरे साथ जाने वाले दूसरे लोग भी जाने क्या क्या सोच रहे थे और कई तो बेफिक्री के साथ आपस में बातें भी कर रहे थे !!

○

# विचार और सम्मति

## नया निमन्त्रण

**जीवन** का एक वर्ष और चला गया; यह एक दृष्टि कोण है निराशावादी कि जैसे कुछ हमारा हम से छिन गया, जिसे हम अपने ही पास रखना चाहते थे।

समय को बान्ध कर कौन रख पाया है और फिर समय बन्ध जाए, तो जीवन की प्रगति का प्रवाह कैसे बहता रहे ?

जीवन का एक वर्ष और आगया; यह एक दृष्टिकोण है आशावादी कि जैसे कुछ हमें नया उपहार मिला, जिस का हम उपभोग करें, उपयोग करें, आनन्द लें।

जीवन है पके भोजन की तरह कि उसे ज्यों का त्यों रखा रहने दें, तो सड़ जाए; ठीक न पके-पचे तो रोग उपजाए और ठीक पके, ठीक खाया जाए, तो रस-रक्त बनकर जीवन को ओज दे कि जीवन बढ़े-पनपे।

रस के साथ मल भी आएगा। हां, आएगा ही वह। रस की रक्षा हो और मल फेंक दिया जाए, यही है जीवन की स्वस्थ दशा, तो नए वर्ष को हम तह करके न रखें, उसे योजना-पूर्वक जिएं-भोगें, यही आज का निमन्त्रण है।

निमन्त्रण आया है और हम स्वतन्त्र हैं कि उसे लें, न लें, पर यह निमन्त्रण है जीवन का और सृष्टि का विधान है कि जो जीवन का निमन्त्रण स्वीकार नहीं करते, उन्हें मरण का बुलावा स्वीकार करना पड़ता है।

तो हम सब नए वर्ष पर, नए जीवन का निमन्त्रण स्वीकार करें और अब यों जिएं कि हमें अपना जीवन घिसी डोर पर उड़ती पतंग-सा नहीं; नींव से आकाश की ओर उठती दीवारों-सा लगे, जिसमें आशा होती है, सपने होते हैं, संकल्प होते हैं।

पश्येम शरदः शतम्,
जीवेम शरदः शतम्,
प्रब्रवाम शरदः शतम्,
अदीनाः स्याम शरदः शतम्,
भूयश्च शरदः शतात्।

## ये राजकपूरे

**महान** कलाकार श्री पृथ्वीराज कपूर के महान कलाकार पुत्र श्री राजकपूर ने अपने किसी अभिनय में टखनों से ऊंची पतलून पहन ली और ऊपर छींट का बुशशर्ट; बस फिर क्या था, देशके युवकों में यही वेश चल निकला और हर शहर में २-४-१० राजकपूर हो गए।

जब राजकपूर नवयुवक ही था, तो एक पत्रकार ने उससे कहा—"मालूम होता है कि आप अपने पिता की तरह ही कलाकार बनेंगे।"

राजकपूर ने कहा—"हाँ, मैं एक कलाकार बनूँगा, पर अपने पिता की ट्रू कापी—नकल—बनना मुझे पसन्द नहीं, मैं अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण करूँगा।"

और वही किया उसने, यह है राजकपूर ! मैं इन पतलूनिए राजकपूरों से कहना चाहता हूँ कि नकल ही करनी है, तो इस राजकपूर की करें, जिसने अपने महान पिता का भी नकलची बनना पसन्द नहीं किया ; भला उस राजकपूर की क्या नकल, जो कभी बनता है विद्वान और कभी मूर्ख, कभी साधु तो कभी आवारा और कभी गोरा, तो कभी काला !!

### भक्त प्रल्हाद

**एक** प्रह्लाद भक्त हुआ था पौराणिक युग में और एक हुआ है इस युग में, जिसने भारत की राजधानी में निरन्तर १०५ घन्टे साइकिल चलाकर एक नया रिकार्ड कायम किया।

ओह, ये १०५ घण्टे ! ४ दिन, ४ रातें और तब ६ घण्टे और यह सब एक चलती हुई साइकिल की उस छोटी-सी गद्दी पर कि ज़रा झपकी आई और लुढ़के ! फिर बैठे ही तो नहीं रहना है ? हाथों को हैंडिल पर जमाए रखना है, पैरों को पैडिल घुमाते रहना है।

अभी तक निरन्तर साइकिल चलाने का रिकार्ड ८० घण्टे था, जिसे काशी में श्री अनवर हुसैन ने स्थापित किया था। भक्त ने उससे २५ घण्टे अधिक साइकिल चलाई। सोचता हूँ, ८० घण्टे पूरे करने के बाद उसने कितनी बार सोचा होगा कि छोड़ो भी अब, रिकार्ड तो टूट ही गया, पर सोचके इस प्रलोभन को वह पी गया और पैर चलाता ही रहा। शाबाश, भक्त प्रल्हाद !

### यह मिलावट

**खाने की** चीजों की मिलावट का यह हाल है कि जन-मानस ने अब यह सोचना छोड़ ही-सा दिया है कि हम जो खा रहे हैं, वह असली है या मिलावटी– "अजी, असली अब कहां मिलता है !" यह सुनना अब एक मामूली बात है।

और यह ठीक ही है ! दिल्ली नगर पालिका के स्वास्थ्य-विभाग की एक मास की रिपोर्ट है कि गेहूँ के ५६ नमूनों में ४८, दूध के ५७५ नमूनों में १३५, मक्खन के २३ नमूनों में १३, खोआ के १२ नमूनों में ४, लालमिर्च के ६ नमूनों में ४, हल्दी के २७ नमूनों में ६ और सरसों के तेल के ५५ नमूनों में २६ में मिलावट पाई गई !

घी में मिलावट का हाल तो और भी बुरा है। मैसूर की केन्द्रीय खाद्य-अनुसन्धान-शाला में घी के सैकड़ों नमूनों की जो जांच की गई, उससे पता चला कि ३३ प्रतिशत में तो घी नाम की कोई चीज़ थी ही नहीं, २५ प्रतिशत में आधा घी था और ३३ प्रतिशत में घी का बहुत ही कम अंश था। इसका अर्थ हुआ कि १०० रुपयों में ६ ही रुपये ठीक थे और बाकी ६१ खोटे !!

उत्तरप्रदेश के समाज कल्याण मन्त्री आचार्य जुगलकिशोर के सभापतित्व में हुई मिलावट विरोधी गोष्ठी में मुख्य मन्त्री डा० सम्पूर्णानन्द ने मिलावट करने वालों के विरुद्ध दयाहीन लड़ाई करने को कहा और यह आश्वासन दिया है कि सरकार कानून की ऐसी ढीलों को दूर करेगी, जिनसे मिलावट करने वाले कानूनी दण्ड से बच जाते हैं !

सचमुच यह 'दयाहीन लड़ाई' शुरू होनी चाहिए और जैसे भी हो, सफल होनी चाहिए।

# शीला और सुरभि



( पृष्ठ २० का शेष )

तुम्हें नहीं पढ़ना था तो क्यों इतनी पुस्तकों पर व्यर्थ ही व्यय करवाया ?"

"पढ़ना क्यों नहीं था ?" शीला ने कहा, "पर स्कूल की छोकरियों की तरह मैं दिन और रात पुस्तकों में सिर घुसा कर बैठूं, तो कौन घर गिरिस्ती का धन्धा करेगा ?"

"मैंने तुम्हें एक दिन भी किताब उठाकर खोलते नहीं देखा," नरेन्द्र ने अविश्वासपूर्ण स्वर में कहा।

"आप घर में आते ही ऐसे समय हैं जब पढ़ने का वक्त नहीं होता," शीला ने कहा। यह बात नहीं कि वह नितांत असत्य ही बोल रही हो। वास्तव में उसके दिमाग़ में यह बात बैठ गई थी कि घर गृहस्थी के धन्धे के साथ इतना ही कुछ पढ़ना हो सकता है, जितना कि वह जब तब कर लेती है। यदि इससे नरेन्द्र को सन्तोष न हो, तो वह क्या करे ?

"इसका अर्थ है कि जब मैं घर में नहीं होता, तो तुम पुस्तकों में सिर घुसाए बैठी रहती हो ?" नरेन्द्र ने कहा।

"यह तो मैं नहीं कहती, मगर जितना समय मिलता है, देखती ही हूँ। फिर आपको तो बाहर घूमने फिरने से फ़ुरसत नहीं मिलती, पढ़ाए तो कौन। पुस्तकों की कुंजी ला दीजिए, अब से मैं रातको पढ़ा करूंगी।"

"अच्छी बात है," नरेन्द्र ने कहा "कुंजियां भी ला दूंगा।"

रात के समय जब वह बाजार से लौटा, तो तीन चार कुंजियां उसके हाथ में थी! घर में घुसा, तो सन्नाटा था। कमरे में घुसते ही देखा शीला खाट पर पड़ी सो रही थी और खाने का कटोरदान मेज पर रखा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। नरेन्द्र का जी जल-भुनकर कबाब हो गया। चिल्लाकर बोला, "यह पढ़ाई हो रही है।"

शीला सकपकाकर उठ बैठी। अर्द्ध-चेतना में वह बोली, "क्या बात है ?"

नरेन्द्र दुबारा चिल्लाया, "मैं पूछता हूं कि यह पढ़ाई हो रही है ?" और इससे पहले कि शीला कुछ जवाब दे उसने हाथ में ली सारी कुंजियां फ़रश पर फेंक दी, जहां वे छिटक कर इधर उधर फैल गईं।

"इतना गुस्सा क्यों करते हैं ?" शीला ने कहा। "मैंने पढ़ने के लिए दुबारा व्यय करवाया है, तो पढ़ूंगी ही, आप शांत होकर खाना खा लीजिए।"

नरेन्द्र का पारा अब तक और भी अधिक चढ़ चुका था। तमक कर वह बोला, "खाना तो मैं किसी रसोईदारिन को रखकर भी खा सकता हूँ। तुम्हारा पढ़ना मैं जानता हूँ कैसा होता है। अपने को सरे बाज़ार बेच भी डालूं तुम्हारी पढ़ाई के लिए, तो तुम नहीं पढ़ोगी। मुझे क्या मालूम नहीं कि तुम सुरभि से डाह करके पढ़ने चली थी। डाह का पढ़ना इतने ही दिन चल सकता है, जितने दिन तुम्हारा चला है। पढ़ना होता तो मां-बाप के घर से पढ़कर न आती!"

इतनी प्रताड़ना सहने के बाद शीला स्थिर न रह सकी। वह दोनों हाथों से मुंह छिपाकर सुबक-सुबक कर रोने लगी। रोते रोते ही बोली, "अगर यह जानते थे कि मैं अपढ़ हूँ, गंवार हूँ, तो मुझसे विवाह ही क्यों किया था ?"

"जब किया था, तब यह नहीं मालूम था कि जो मेरे घर में आएगी वह मेरी आज्ञा का पालन भी नहीं करेगी, मेरी एक एक बात को जल की धार रखकर बहा देगी। समझता था कि पैसे खर्च करूंगा, पढ़ाऊंगा और अपने योग्य बनाऊंगा। यह नहीं जानता था कि ज़िन्दगी भर के लिए एक मूढ़ से पाला बांध रहा हूँ।"

× × ×

शीला की ओर से उसका उत्तर रोने के उच्च स्वर में मिला।

इन आरोह अवरोहों के बीच शीला ने कुछ अक्षर पहचानना और उन्हें मिलाना सीख लिया था। नरेन्द्र अधिक अप्रसन्न न हो, इसलिए मन पर पत्थर रखकर उसने सुरभि से माफी भी मांग ली थी। अब सुरभि पहले की ही भांति उनके घर में आती जाती थी। कई बार उसने शीला को स्वयं समझाने की चेष्टा की थी कि अशिक्षित स्त्रियां किस तरह तिल का ताड़ और ताड़ का तिल बनाए रखती हैं। शिक्षा से निश्चय ही मनुष्य का स्तर ऊंचा उठता है। लकड़ियों के उठाने से हाथ में खरोंच लग जाने का डर है। इसी लिए कोई आग न जलाकर कच्चा भोजन नहीं खाता। पढ़ी लिखी लड़कियोंके आचरण बिगड़ जाने की संभावना से उन्हें जीवन में चलने योग्य मार्ग ही न दिखाना, परले सिरे की मूर्खता है।

शीला कुछ बातों को समझी, कुछ को नहीं, किन्तु इतना उसे निश्चय हो गया कि यदि नरेन्द्र को उसे प्रसन्न देखना है तो उसे न केवल स्वयं ही पढ़ना होगा, बल्कि जो पढ़ी लिखी लड़की उनके संपर्क में अचानक आ गई है, उससे भी बनाए रखना होगा।

संध्या समय जब नरेन्द्र के आने का समय था, तो बाहर से पुकारते हुए नरेन्द्र भीतर घुसा, "शीला, ओ शीला।"

न जाने क्यों शीला को नरेन्द्र के स्वागत में कोई आनन्द नहीं आता था। अनमने से भाव से वह उठी और कमरे में जाकर बोली, "जी?"

"देखो, शीला, आज सिनेमा चलने का प्रोग्राम है। चलोगी न?"

"जी हां," शीला ने कहा, "चली चलूंगी"

नरेन्द्र ने इस विवशताजन्य स्वर पर ध्यान नहीं दिया। बोला, "अच्छा, तो जल्दी से खाना-वाना बनाकर कपड़े बदल लो। सुरभि भी आ रही है।"

शीला बिना कुछ बोले-चाले मुड़ चली। वह जानती थी कि उसको तो केवल इसलिए ले जाया जा रहा है कि अकेले नरेन्द्र के साथ सुरभि के अभिभावक शायद उसे न भेजें। जो भी हो, उसे तो नरेन्द्र की आज्ञा का पालन करना था, उसने नियत समय पर काम निबटा कर नरेन्द्र को खिलाया-पिलाया और अनबोलती गुड़िया की तरह कपड़े बदल कर उन लोगों के साथ सिनेमा देखने चल दी।

सिनेमा देखकर लौटते समय सुरभि और नरेन्द्र बहुत दूर तक चित्र की कहानी पर बहस करते हुए चले आए। आखिर जब एक जगह पर बात अटक गई, तो नरेन्द्र ने पूछा, "तुम्हारा क्या ख्याल है शीला?"

शीला ने चित्र देखा था या नहीं यह वह नहीं कह सकती। आंखें अवश्य उसकी परदे पर रही थीं, मगर मन जहाँ तहाँ भटकता रहा था। एक प्रकार

से चित्र को आंखों में से गुज़ार कर वह सिनेमा देख आई थी। जब नरेन्द्र ने उससे चित्र के बारे में पूछा, तो उसके मुँह से निकला, "क्या ?"

नरेन्द्र कुढ़ गया, बोला, "सिनेमा देखकर तुम्हारा कुछ ख्याल बना ?"

"अच्छा था," शीला ने कहा।

"मैं पूछता हूँ कि उसकी कहानी भी तुम्हारी समझ में आई या नहीं ?" नरेन्द्र ने रोषपूर्ण स्वर में पूछा।

"वह तो मैं नहीं समझी।" शीला ने स्पष्ट उत्तर दिया।

सुनते ही नरेन्द्र का दिमाग भन्ना उठा। एक विचित्र-सी व्यथा से कांपकर वह बोला, "शीला, तुम क्यों मेरे पीछे पड़ गई हो। तुम्हीं बताओ तुम्हारी इस बुद्धिहीन प्रतिमा को लेकर मैं क्या करूं ? मैं तुम्हारे सामने हाथ जोड़ता हूं, मेरा जीवन इस तरह बरबाद न करो।"

"यह आप क्या कह रहे हैं।" आश्चर्यचकित-सी शीला इस सब का कुछ भी अर्थ न समझकर जहां की तहां जड़ बनकर बोल उठी।

सुरभि ने प्रतिवाद किया, "मैं आपके इस कथन का विरोध करती हूँ, भाई साहब ! आप किसी आदमी को एकदम ज्ञान की चोटी पर ले जाकर नहीं बैठा सकते। यही था, तो विवाह से पहले आपको भी चार बार सोचना चाहिए था। एक बिना पढ़ी लिखी लड़की से विवाह करके आपने भी उसका कोई उपकार नहीं किया। यदि आप उसके साथ आगे बढ़ना चाहते हैं, तो आपको उसकी भावनाओं का सम्मान करना पड़ेगा। मैं अब तक चुप थी कि शायद आपकी प्रेरणा से शीला भाभी कुछ पढ़ लिख जाएंगी। यह नहीं मालूम आप किसी धागे को सुलझाने के बजाए उसे काटने पर ही कमर कस बैठे हैं। कोई ऐसा काम न कीजिए, जिससे दुनिया आपकी ही बुद्धिमानी पर कोई शक करने लगे।"

नरेन्द्र विदुषी की लताड़ सुनकर चेतन हो गया। अप्रतिभ होकर बोला, "लेकिन सहने की भी एक हद होती है, सुरभि !"

सुरभि ने आवेश में आकर उत्तर दिया, "नरेन्द्र बाबू, इतना पढ़ लिख कर भी आप यही सीखे हैं कि सहने की हद होती है ? आगे से ध्यान रखिये कि मनुष्य जो सहन नहीं कर सकता ऐसा कष्ट ही आज तक उत्पन्न नहीं हुआ। आप ने अभी सहा ही क्या है ? थोड़ा-सा भी अपने विचारों के विपरीत मामला देखकर आपके सहने की हद आ जाती है। मैंने शीला भाभी के साथ जो समय बिताया है, उसमें देखा है कि वह देवी है, हृदय से आपकी सेवा करना चाहती है, कृपया उसके देवत्व और सेवा का सम्मान कीजिए।"

नरेन्द्र आंखें फाड़े सुरभि को देख रहा था। सुरभि का यह रूप उसने आज तक नहीं देखा था। फैशन की पुजारिन वह लड़की जैसे व्यावहारिक ज्ञान का कोष अपने मस्तिष्क में छिपाए फिर रही थी, लेकिन उत्तर तो उसे देना ही था। बोला, "लेकिन सुरभि, अज्ञानता और अशिक्षा से की हुई सेवा भी कुसेवा होती है। ज़रा अपनी ओर भी तो देखो, तुम मेरी कोई सेवा नहीं करती, मित्र बनकर घर आती हो और दो चार मिनट बोल लेती हो। मैं समझता हूँ कि यह लाख सेवाओं से बढ़कर है।

"जी हां, यह मैं खूब समझती हूँ"

सुरभि ने कहा, "किन्तु मुझे यह नहीं मालूम था कि मन ही मन आप शीला भाभी की तुलना मुझ से करने लगेंगे, नहीं तो मैं उनकी दुनिया में आग लगाने न आती। आगे से जब तुलना कीजिये, तब उसके कारण और परिस्थितियों पर भी थोड़ा-सा विचार करने का कष्ट किया कीजिए। मैं अब जाती हूं। मेरे घर का रास्ता आगया, मगर अब उस समय तक मैं बहन बन कर भी आप के घर नहीं आऊंगी, जब तक कि शीला भाभी स्वयं मेरे घर आकर मुझे यह न बता देंगी कि आपने ठीक सोचना आरम्भ कर दिया है और अब आप उन्हें परेशान नहीं करते।"

इसके बाद बिना नरेन्द्र को बात का उत्तर देने का अवसर दिये सुरभि दो-राहे में से एक राह पर चली गई।

शीला की आंखों के आगे से एक ऐसा काला-सा आवरण हट गया, जो मानो एक युग से उन पर पड़ा हुआ था। एक धूमिल काला और भद्दा चित्र जैसे एकदम उभर कर प्रकाश में आकर, उज्ज्वल होकर सामने आगया। यह चित्र सुरभि का था। वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकती थी कि इस लड़की के भीतर, जिसे वह समझती थी कि उस के घर में उसने ज्वाला धधका दी है, अपने से पर नारीत्व के प्रति सहानुभूति की सुखद गंगा बह रही है। वह क्या जानती थी कि जिन प्रताड़नाओं के प्रहार से वह सारे जीवन पीड़ा भोगती रहती, उनके पीड़क को वही लड़की, जिसे वह इस पीड़ा का कारण समझती थी, कान पकड़ कर सीधा कर जाएगी। अब यदि नरेन्द्र उसके ऊपर किसी भी तरह का अत्याचार करे, वह प्रसन्नता के साथ सह लेगी। अब उसे मालूम हो गया था कि उसकी पीड़ा को पहचानने वाला, उससे सच्ची सहानुभूति रखने वाला, उसी की जाति का एक जीव इस धरा पर वर्तमान है।

घर तक सब मौन चलते चले। चलते चलते नरेन्द्र ने बहुत कुछ सोचा और कमरे में आते ही उसने शीला को ममता से दुलार दिया। कहा, "आज तक मैं अंधकार में था। शीला, आज से हम एक नया जीवन आरम्भ करेंगे।"

शीला ने उस दुलार की उष्णता को हृदय के भीतर पीकर कहा, "हां, यह वास्तव में एक नया जीवन होगा। नहीं होगा, तो सुरभि-सी बहन को मैं किस मुंह से अपने घर में खींच कर ला सकूंगी?

समय तो अपनी चाल से जाता ही है, लेकिन अगली बार जब सुरभि ने उस घर में पांव रखा, तो शीला उसका हाथ पकड़े लिए आ रही थी और ज्ञान का वह तेज, जो सुरभि के मुंह पर था, शीला के मुंह पर भी उभर चुका था।

रजिस्टर्ड नं० ए, ७१७

एक गांव है रहमानपुर;
रास्ते उसके ऊबड़ खाबड़,
खेत उसके आधे बंजर,
न मदर्सा, न डाकखाना
और हर आदमी परेशान!

एक गांव है रहीमपुर;
रास्ते उसके साफ-सुथरे,
खेत उसके सोने की खान,
मदर्सा भी, डाकखाना भी,
और हर आदमी खुश हाल!

क्यों है दोनों में यह फर्क?

इसलिए कि एक गांव के आदमी हैं आलसी-लड़ाकू,
और दूसरे गांव के हैं परिश्रमी और सहायक।

**

## अपने गांव को अपने परिश्रम और अपनी सद्भावना से सुखी-सुन्दर बनाइए!

# ठाकुर अर्जुनसिंह

'चेयरमैन डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, सहारनपुर

विमला के दो बेटे थे–
छोटा गोकुल, बड़ा चन्दन।
चन्दन गुघाल के मेले में गया
और गन्दी चाट खा आया !

रात में चन्दन को हैज़ा होगया
और क़ै-दस्त होने लगे !
विमला उसे बार-बार
गली की नाली पर बैठाती रही !!

नाली गन्दगी से भर गई
और उस पर मक्खियां भिनभिनाईं !
वे मक्खियां गोकुल के खाने पर बैठीं
और गोकुल को भी हैज़ा होगया !!!

सार्वजनिक गलियों और नालियों को साफ़ रखिए
और देश के नागरिकों को खतरे से बचाइए !

## जगदीश नारायण सिन्हा

### चेयरमैन म्यूनिसिपल बोर्ड, रुड़की उ. प्र.

रामू और श्यामू दो सगे भाई,
रामू स्वभाव का कड़वा,
श्यामू शान्त सज्जन,
दोनों का परिवार समृद्ध !

एक दिन रामू ने क्या कुछ कहा,
कि श्यामू भी बेकाबू होगया,
दोनों में मुकदमेबाज़ी छिड़ी,
और दोनों बरबाद हो गए !

स्वभाव का मिठास जीवन का वरदान है ।

सदा मीठे रहिए !

श्रेष्ठ चीनी के निर्माता

गंगा शूगर कारपोरेशन लिमिटेड

देवबन्द, उत्तरप्रदेश

भारत के लोक प्रिय प्रधान मंत्री
श्री जवाहरलाल नेहरू
किसी नगर में अतिथि थे।
उनके स्नानगृह में
एक विदेशी साबुन रखा गया।
वे इस पर बहुत झल्लाए—
"क्या भारत में साबुन नहीं बनता!"
उनके सम्मान में एक दावत हुई
उसमें विदेशी फल परसे गए।
वे उस पर भी नाराज हुए—
"क्या भारत में फल नहीं होते!"

उसने अपना कमरा साफ करके
जो कूड़ा कचरा गली में फेंका
उसमें टूटे गिलास का कांच भी था !

स्कूल से पढ़कर जब उसका लड़का लौटा,
तो वह कांचउस के पैरों में चुभ गया।
बहुत खून बहा और पैर पक गया,
आपरेशन के बाद पैर अच्छा हुआ।

कूड़ा कचरा और कांच वगैरह
कभी सड़क-गली में न डालिये
और अपने नगरों को
साफ रखने में हिस्सा लीजिये।

## मौलवी उस्मान अहमद

### चेयरमैन म्युनिसिपल बोर्ड,

देवबन्द, उत्तरप्रदेश

भगवान राम के पूर्वज
एक राजा ने गन्ने की खोज की।
उनका नाम पड़ गया इक्ष्वाकु
-ईख की खोज करने वाला—

उस गन्ने को लोगों ने चूसा, तो
उन्हें एक अद्भुत आनन्द मिला—
एक नए स्वाद की सृष्टि हुई और
यों संसार में मिठाई का जन्म हुआ।

आज गुड़ से लेकर लैमनजूस तक गन्ने का परिवार फैला है
और गन्ना हमारी सभ्यता के विकास का एक अध्याय है!

○

## कोशिश कीजिए

कि आप भी देश के उभरते जीवन में कुछ नयापन ला सकें!

○

**श्रेष्ठ चीनी, मिठाई व दूसरी वस्तुओं के निर्माता**

**सर शादीलाल शूगर एण्ड जनरल मिल्स लि.**

मंसूरपुर जि० मुजफ्फरनगर उ० प्र०

## जरूरी जानकारी

●

प्रकाशन का समय — महीने की पहली तारीख है, पर ७ तारीख तक भी न पहुंचे, तो समझिए कि आपका अङ्क कोई दूसरे सज्जन पढ़ रहे हैं और कार्यालय को कार्ड लिखिए।

वर्ष भर का मूल्य (विशेषांक सहित) पांच रुपये और साधारण कापी का छः आने है।

रेलवे बुकस्टालों पर और शायद आपके नगर की एजेंसी पर भी 'नया-जीवन' मिलता है।

लेखकों से उत्तर या रचना की वापसी के लिए टिकट न भेजने की प्रार्थना है।

ग्राहक चाहे जिस अङ्क से बन सकते हैं। जनवरी से बनने में फाईल ठीक रहती है। पत्र-व्यवहार में ग्राहक संख्या देने से दोनों को सुविधा होती है।

'नयाजीवन' में उन चीजों के ही विज्ञापन छपते हैं, जिनसे देश की समृद्धि स्वास्थ्य और पूर्णता बढ़े।

आलोचना के लिए प्रकाशक बन्धुओं से पुस्तकों की एक-एक प्रति ही भेजने की प्रार्थना है। यदि आलोचना कार्यालय से बाहर के किसी विद्वान द्वारा करानी आवश्यक हुई, तो लिखकर दूसरी प्रति मंगा ली जाएगी।

'नयाजीवन' में वे ही रचना स्थान पाती हैं, जो जीवन को ऊंचा उठाएं, पर जेलर की तरह नहीं, मित्र की तरह— मनोरंजक, मार्ग-दर्शक और प्रेरणापूर्ण !

हर तरह के पत्र व्यवहार का पता— विकास लिमिटेड, सहारनपुर यू० पी० है।

विचारों का विश्वविद्यालय

भारत की अनेक राज्य-सरकारों द्वारा स्वीकृत मासिक

मार्च—१६५६

सम्पादक
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

सहकारी
अखिलेश ● एस० कविता

*हमारा काम यह नहीं है*

कि इस विशाल देश में बसे चन्द दिमागी ऐय्याशों का फालतू समय चैन से काटने के लिए मनोरंजक साहित्य नाम का मैखाना हर समय खुला रक्खें !

*हमारा काम तो यह है*

कि इस विशाल देश के कोने-कोने में फैले जन-साधारण के मन में विशृङ्खलित वर्तमान के प्रति विद्रोह और भव्य-भविष्यत् के निर्माण की भूख जगाएं !

मुद्रक
विकास प्रिंटिंग वर्क्स, सहारनपुर

प्रकाशक
विकास लिमिटेड
सहारनपुर • उत्तर प्रदेश

# अता • पता


दुनिया जीने वालों की — श्री मुकुट बिहारी 'सरोज' जनकगंज, लश्कर ३
पदचिन्हों की रेखा — श्री सुरेश सेठ १०० डी टंकी, सदर, मेरठ ४
अमृतसर का अमृत-कलश ❀ सम्पादकीय ५
हिटलर के नाम पत्र — गाँधी जी ६
श्री मुनीश्वर अवस्थी — श्री सुरेन्द्रनाथ पाण्डे १०८/११८ गांधी नगर, कानपुर १२
कुर्सियाँ मुझे क्यों नहीं लुभाती ? — कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' १६
सरूपराम की बहू — श्री विश्वनाथ भटेले एकदिल, इटावा २१
पलकों का मधुवन — श्री पुरुषोत्तम खरे, १५१ फूटाताल, जबलपुर २५
कोटायम ❀ ❀ २६
बे मौसम याद — श्री वीरेन्द्र शर्मा, ४६ ब्रह्मपुरी, मेरठ २८
उपदेश नहीं, बातचीत — श्री जवाहरलाल नेहरू नई दिल्ली २६
जीवन के झरोखे से ❀ स्तम्भ ३०
स्वतन्त्र भारत चन्दन के रथ चढ़ आया है — श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' चौधरी टोला, पटना ३२
जब मेरा छाता खो गया — श्री लक्ष्मीनारायण 'मुकुर' निपनिया, बरौनी, मुंगेर ३६
डण्डा — श्री वाचस्पति-जुडीशियल मैजिस्ट्रेट, सहारनपुर ४१
रमता जोगी बहता पानी — श्री देवीदयाल चतुर्वेदी ६४, कर्नलगंज, इलाहाबाद ४६
तू याद रखना — सुश्री विद्या १७/३ महात्मा गांधी मार्ग कानपुर ४६
अपने पढ़ने के कमरे में ❀ संकलन ५४

# दुनिया जीने वालों के लिए बनाई है !

तुम ज़रा-ज़रा-सी बातों पर, अपने मन को हल्का न करो,
छोटा न करो,
दुनियाँ जीने वालों के लिए बनाई है !

तुमने जिस पथ पर अपना क़दम बढ़ाया है,
धीरज बाँधे, विश्वास समेटे बढ़े चलो,
मंजिल, जो मान-पत्र दे भेंट जवानी को,
बेखौफ़, आग के पास बैठकर पढ़े चलो,

शूलों की तो आदत होती है चुभना, लेकिन साथी
इतने पर भी हर कली सदा मुसकाई है !

तुमको मालूम नहीं जब जीवन चलता है,
चट्टानों की पाहन छाती फट जाती है,
नव जीवन सीता तासे जिधर बढ़ जाता है,
उस पथ से डर कर मौत स्वयं हट जाती है,

दुनियां ने कितनी बार न जाने रोका है उन चरणों को,
लेकिन सूरज अब तक गा रहा बधाई है !

यह खुद ही अन्धी आँधी क्या कर पाएगी,
तुम एक बार देखो तो दीप जला करके,
कितनी मावस तुम पर न्यौछावर होती हैं,
तुम एक रात देखो तो ज़रा भला करके,

तूफानों को करने दो अपना काम, क्योंकि वे पागल हैं,
माटी के घर हर साल दिवाली आई है !

**श्री मुकुट बिहारी 'सरोज'**

# इतिहास वीर के पद-चिन्हों की रेखा है !

अति दूर जगत के कोलाहल से स्वर आया,
तुम आज शान्ति के लिए युवक प्रस्थान करो ।
इतिहास वीर के पद चिन्हों की रेखा है,
जो निज पौरूष से जग को ज्योतित करते हैं ।
आंधी को भी निज जीवन की सीमाओं से,
जो बांध स्वयं अपने वश में कर लेते हैं ।
जिससे प्रेरित होकर जीवन गतिवान बने,
ऐसी ही वाणी से अब तुम आह्वान करो !

है आज चुनौती कुटियों ने दी महलों को,
इस युग पर मानव - बापू की ही छाया है ।
जिस महा पुरुष ने दीप जला कर अन्तर का,
भारत की माटी को अनमोल बनाया है ।
इन झोंपड़ियों की मधु रिम झिम सरगम से,
तुम फिर से अपना शुरू यहां पर गान करो !

संघर्षों से जो पली चेतना जीवन की,
वह स्वयं आज तरुणाई ले कर आई है ।
जो निखिल विश्व में मानवता बहती आई,
उसको ही फिर से आज संजो कर लाई है ।
युग पथ - निर्माता बन कर अब स्वयं यहां,
सोए पौरुष में फिर से तुम नव प्राण भरो !

चातक के स्वर जब उड़ते हैं धरती तल से,
बादल को आकर स्वयं बरसना पड़ता है ।
अम्बर भी मेघों से खुद ही सज जाता है,
स्वांति - बूंद हित नहीं तरसना पड़ता है ।
इसलिए आज तुम भी अपने दृढ़ निश्चय से,
विश्वास लिए अपने पथ पर अभियान करो ।

जब उषा काल की एक किरण ही जीवन में,
इस पूरे दिन का दान यहां पर दे जाती है ।
नयनों में अनगिन चित्र यहां बन जाते हैं,
मंजिल जब पथ के स्वयं पास आ जाती है ।
जीवन की आज तितिक्षा में प्राची का सा,
तप और कामना का सा स्वर्ण विहान भरो !

**श्री सुरेश सेठ**
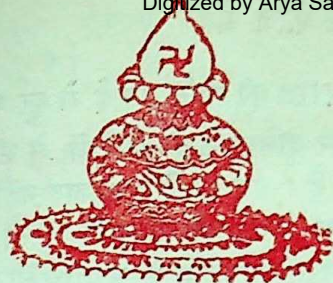
# अमृतसर का अमृत-कलश

तापस प्रधान श्री उच्छरंग राय नवलशंकर ढेबर की अध्यक्षता में भारतीय कांग्रेस का ६१वां अधिवेशन अमृतसर में होगया। इस अवसर पर विचारों की भरपूर वर्षा हुई। बून्द-बून्द चुन अमृत-कलश प्रस्तुत है; यों कि इसमें से जितना आप खाएं, उतना ही वह बढ़े।

## सबसे बड़ा सवाल

हमारे सामने सबसे बड़ा सवाल यह है कि हम वास्तव में मानव की तरह काम करें और केवल रचनात्मक कार्यों के लिए ही नहीं, बल्कि किसी भी बात के लिए सबसे बड़ी बात यह है कि नैतिक आधार को मजबूत बनाया जाए।

—श्री गोविन्द वल्लभ पंत

## प्रान्तों के बीच युद्ध

यदि लोगों ने हमारे देश के अस्तित्व की बुनियाद को नहीं समझा और यह अनुभव नहीं किया कि हमारा एक देश है, एक राष्ट्र है, हमें एक साथ रहना है और अपनी समस्याओं को लोकतंत्रीय ढंग से हल करना है, तो किन्हीं भी दो प्रान्तों के बीच कभी भी युद्ध भड़क सकता है।

## धागा नहीं, वस्त्र

हम लोगों को अर्थात् भारत के ३६ करोड़ लोगों को यह समझना है कि हम एक बुने हुए कपड़े के ताने-बाने हैं। यह सच है कि हम लोग उस वस्त्र के अलग-अलग धागे हैं, किन्तु हम सदा अपने को पृथक नहीं समझ सकते! हमें इन धागों को एक मजबूत और सुन्दर वस्त्र के रूप में बुने रखना है।

## ३६ करोड़ की यात्रा

हमें उन लोगों का अधिक सहयोग प्राप्त करना है, जिनके विचार हमसे नहीं मिलते। मेरी जिम्मेदारी का दायरा सारा हिन्दुस्तान है और मेरा प्रयत्न होना चाहिए कि मैं लोगों से एक विशेष दिशा में काम कराऊं। वास्तव में यह मेरा फर्ज है। मेरा कर्त्तव्य यह नहीं कि मैं एक छोटे-से समूह की जरूरतों की पूर्ति के लिए ही कार्य करूं। मैं इकला यात्रा नहीं कर रहा, मुझे तो अपने ३६ करोड़ देश वासियों को भी यात्रा करानी है। अगर मैं इकला ही मंजिल पर पहुँचा, तो उस से क्या लाभ होगा?

## खतरे दबोचेंगे !

**ह**में पूरे विचार विमर्ष के बाद लोकतंत्रीय तरीके से अपने मत-भेदों को दूर करना होगा और बहुमत से पक्ष या विपक्ष में जो भी निर्णय हो, उसे मानना होगा। मतभेद होते हुए भी हमें सहयोग का माद्दा अपने में पैदा करना है और एक सामान्य मार्ग खोज निकालना है। यदि हम इस तरह आगे न बढ़ेंगे, तो खतरे कदम-कदम पर हमें दबोचेंगे।

—श्री जवाहर लाल नेहरू

## दो पहलू

**र**चनात्मक कार्यक्रम के दो पहलू हैं–
१—कुछ निर्दोष, जनप्रिय कार्यों में भाग लेने के लिए क्षेत्र प्रदान करना और
२—इन कार्यों में इस प्रकार की गति प्रदान करना, जिससे उनमें भाग लेने वाला अपनी भावनाओं, आकांक्षाओं और आवेश को निर्मल कर सके।

## अनिच्छा से

**मैं** अनेक रचनात्मक कार्यकर्ताओं की इस भावना से परिचित हूँ कि कांग्रेस रचनात्मक क्रान्ति की अपनी पूर्व परिभाषा से हट गई है और उसका अधिकांश समय एवं शक्ति सत्ता के लिए राजनैतिक चालें चलने और भौतिकतावाद में खर्च हो रही है।

इस सम्बन्ध में मेरा आश्वासन है कि कांग्रेस में ऐसी कोई शिथिलता नहीं आई है और सत्ता-प्राप्ति उसका ध्येय नहीं है—सत्ता तो उसने अनिच्छा से ही ग्रहण की है।

—श्री उ० न० ढेबर

## अपनी फौज में

**भा**रत की नीति लड़ाई से दूर रहना है और दुनिया के दो गिरोहों से भी दूर रहना है। हम इसलिए आज़ाद नहीं हुए कि हम दूसरों की फौज में भरती हों। हम अपनी ही फौज में भरती होंगे और अपने ही रास्ते पर चलेंगे।

## हमारा फैसला

**स**भी बातों का फैसला एक लोकतंत्री तरीके से किया जाता है, न कि सड़कों पर हुल्लड़ करके। जो लोग सड़कों पर निर्णय करने की बात करते हैं, वे गलती पर हैं।

हमने स्वतन्त्रता के लिए भी हिंसा को नहीं अपनाया, किन्तु अब भाषा की सीमा के लिए हम एक दूसरे का गला काटने को तैयार हो गए। यह गिरावट स्तब्ध कर देने वाली है।

मैं यह बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जब तक कांग्रेस जीवित है और जब तक वह सत्तारूढ़ है, तब तक दोनों का कोई भी फैसला इस देश में या किसी भी देश में की गई हिंसा के द्वारा बदला नहीं जा सकता।

## प्रजातन्त्र ही क्यों ?

**प्र**जातन्त्र की अनेक त्रुटियां हैं, किन्तु हमने इस पद्धति को अपेक्षाकृत अच्छा समझकर अपनाया है। प्रजातन्त्र का यह अर्थ नहीं कि इससे सदा सर्वोत्तम सत्य ही प्रकट होगा। प्रजातन्त्र कभी-कभी सत्य की अवहेलना भी करता है।

दुर्भाग्य से प्रजातन्त्र जनता की सामान्य बुद्धि का एक नपैना है। फिर भी यह किसी बुद्धिमान स्वेच्छाचारी या

निरंकुश शासक की तुलना में अच्छा है।

—श्री जवाहरलाल नेहरू

## छोटी बचत

इस समय देश में छोटी बचत प्रति-वर्ष ५० करोड़ रुपए के लगभग होती है, राष्ट्रीय आय का केवल आधा प्रतिशत है। पश्चिमी देशों की तुलना में यह बहुत कम है।

जर्मनी में कुछ समय हुआ, जब देश की अर्थव्यवस्था लड़खड़ा रही थी, तो दो करोड़ मानव-घण्टों के लिए जर्मन जनता का आह्वान किया गया और जनता ने उसका ज़ोरदार जवाब दिया। अपनी योजनाओं में धन लगाने के लिए हमें भी ऐसा ही करना होगा।

—श्री एस० के० पाटिल

## यह मनोवृत्ति

पिछले दिनों हमें विदेशों से अन्न मंगाना पड़ता था। तब हमारे बहुत से लोगों ने उसे लेने से इंकार कर दिया और कहा कि उन्हें एक समय उपवास रखना मंजूर है, परन्तु अपनी आवश्यकताओं के लिए विदेशों पर निर्भर रहना नहीं। स्वावलम्बी बनने के लिए हमें यही मनोवृत्ति अपनानी होगी।

## महिलाओं से

यदि अमीर आदमी इस ध्येय के लिए अपना धन नहीं देना चाहते, तो उन्हें मत देने दो। अगर वह चाहें, तो खुशी से अपना धन भी मरते समय अपने साथ ले जाएं।

मैं खासतौर से महिलाओं से अपील करती हूँ कि ब्याह-शादी और आभूषणों आदि पर फिजूल खर्च न करें। यदि इन मदों में खर्च होने वाला धन बचाया जाए, तो उससे उनका भी भला होगा और देश का भी।

श्रीमती इन्दिरा गान्धी

## डरेंगे नहीं !

हमारी सरकार हिंसात्मक कार्यों से दबने वाली और डरकर त्याग पत्र देने वाली नहीं है, परन्तु वह देश की जनता के, जिसकी वह प्रतिनिधि है, सद्भाव को जीतने का पूरा प्रयत्न करेगी। जो कुछ (बम्बई आदि में) हुआ है, उसका मैं किसीको दोष नहीं देना चाहता। सब गलतियों का जो भी देश में हुई हैं, पूरा दायित्व मैं अपने ऊपर लेता हूँ।

—श्री जवाहरलाल नेहरू

## भाषा या अर्थ ?

एक भाषा, एक राज्य के नियम का यदि सख्ती से पालन किया गया, तो उससे देश के लिए एक अपरिवर्तनशील ढांचा तैयार हो जायगा और जड़ता की स्थिति पैदा हो जायगी। यह स्थिति बदलती हुई अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल नहीं है।

## ३० वर्ष पहले क्यों ?

तीस वर्ष पहले कांग्रेस ने भाषायी राज्यों को प्रोत्साहन क्यों दिया था ? इसलिए कि उन दिनों अंग्रेज शासकों ने अंग्रेजी भाषा-भाषी लोगों तथा आम लोगों के बीच जो भेद-भाव कर रक्खा था, उसे मिटाने और भारतीय भाषाओं एवं उनसे लगी संस्कृतियों को प्रोत्साहन देने के लिए भाषायी राज्य स्थापित करने

की योजना पेश की थी।

—एक प्रस्ताव के अंश

## कौम करवट न ले ?

भाषा से अधिक राज्यों के पुनर्गठन का सम्बन्ध आर्थिक विकास के साधनों से अधिक है। हमें ३० वर्ष पहले की नहीं आज की स्थिति को देखना है। क्या आप यह चाहते हैं कि कौम करवट न ले और उसी तरह बैठी रहे, जैसे ३०-४० वर्ष पहले थी ?

—श्री जवाहरलाल नेहरू

## धन बँटेगा !

धन को थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित नहीं होने दिया जाएगा। हमें सारे राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ानी है, न कि थोड़े से आदमियों की !

—श्री गुलज़ारीलाल नन्दा

## सफलता की कसौटी !

आवड़ी अधिवेशन में हमने 'समाजवादी ढंग के समाज' को अपना लक्ष्य स्थिर किया था। अमृतसर में हमने 'समाजवादी ढांचे के समाज' का लक्ष्य तय किया है। समाजवाद की ओर सफलता से आगे बढ़ने के लिए विचार के ढांचे में यह परिवर्तन आवश्यक था।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत अतिरिक्त सम्पत्ति पैदा हुई। उससे लाभ हुआ, पर निश्चय ही उससे कुछ अमीर लोग और अमीर हो गए। इसलिए द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह ध्यान रखा गया है कि जो अतिरिक्त सम्पत्ति पैदा हो, वह थोड़े से लोगों के हाथों में केन्द्रित न हो जाए ! योजना की सफलता की कसौटी सम्पति का उत्पादन ही नहीं, लोगों को रोजगार के अवसर का मिलना है।

—श्री जगजीवनराम

## काश्मीर जाए जहन्नुम में !

हिन्दुस्तान की एकता सबसे बड़ी चीज है। अगर मुझ से पूछा जाए कि काश्मीर का क्या बनेगा, तो मैं कहूंगा कि काश्मीर जाए जहन्नुम में, पहली बात हिन्दुस्तान की एकता है। अगर हिन्दुस्तान एक होकर रहेगा, मजबूत रहेगा, तो काश्मीर आपका है और आपका रहेगा। मैं अव्वल हिन्दुस्तानी हूं, बाद में काश्मीरी।

—बख्शी गुलाम मुहम्मद

## हम एक हैं !

हमारा देश बहुत बड़ा है। इसमें अनेक धर्म, जातियां और भाषाएं हैं, फिर भी हमारा देश एक है, हम सब एक हैं, हम एक राष्ट्र हैं। इस एकता के टुकड़े करना इस खुले आसमान के नीचे किसी के लिए मुमकिन नहीं है।

—मौलाना अब्बुल कलाम 'आज़ाद'

## जुट जाइए :

साम्प्रदायिकता, जातीयता, प्रांतीयता और भाषा की संकीर्णता की दीवारों को हमें तोड़ना है। साथ ही गरीबी, निरक्षरता और विषमता को दूर करने में जुट जाना है।

—श्री उच्छरंगराय ढेबर

★
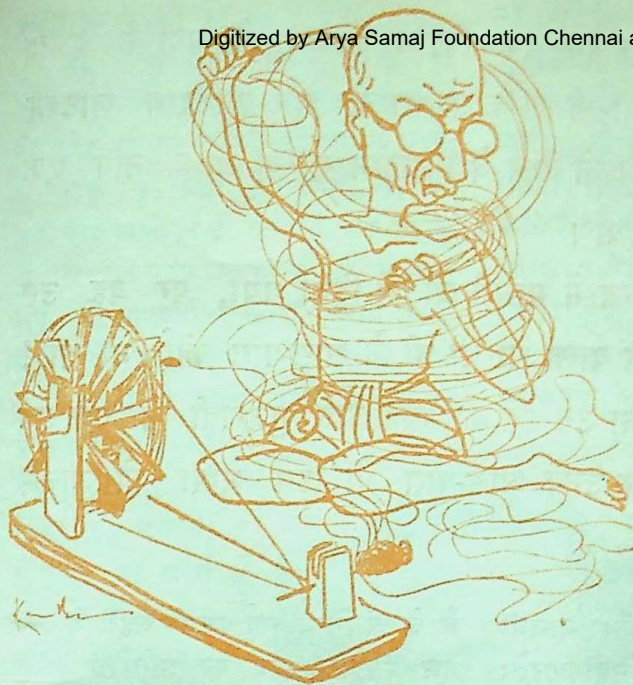
# हिटलर के नाम गांधी जी का पत्र

द्वितीय महायुद्ध की खूनी घड़ियों में
२४ दिसम्बर १९४१ को
गांधी जी ने एक पत्र
हिटलर के नाम लिखा था।
उन तक वह पहुँचा नहीं ?
अंग्रेज़ी सैंसर के कारण
भारत में कहीं छपा नहीं।
श्री घनश्यामदास बिड़ला को
शत-शत धन्यवाद
कि वह उनके पास सुरक्षित रहा
और अब समाज की सम्पत्ति है।

प्रिय मित्र,

मैं आपको एक मित्र के नाते लिख रहा हूं, सो कोरा शिष्टाचार मात्र नहीं है। मैं किसी को अपना शत्रु नहीं मानता। पिछले ३३ वर्षों के बीच मेरा यह जीवन-कार्य रहा है कि जाति, रंग और धर्म का भेद किए बिना समूची मानव जाति के साथ मित्रता का नाता जोड़ूँ।

आशा है, आपके पास यह जानने के लिए समय होगा और इच्छा भी होगी कि मानव जाति का एक बड़ा-सा भाग, जो विश्व-व्यापी मैत्री के सिद्धान्त में विश्वास रखता है, आपके कार्यों को किस दृष्टि से देखता है।

आपकी वीरता और पितृभूमि के प्रति आपकी निष्ठा के सम्बन्ध में हमें सन्देह नहीं है और आपके विरोधियों ने आपको जो दानव बताया है, सो भी हम लोग मानने को तैयार नहीं हैं, पर आपकी और आपके मित्रों और प्रशंसकों की रचनाओं और घोषणाओं से इस विषय में सन्देह नहीं रह जाता कि आपके बहुत सारे

बहुत वर्षों की बात है—एक विद्वान तिब्बत में वहां के दलाई लामा से मिले। लामा गान्धी जी के प्रशंसक थे और वे विद्वान लौटकर भारत में गान्धी जी से मिलने वाले थे। उन्होंने गान्धी जी के नाम एक पत्र उन विद्वान को दे दिया।

लामा का पत्र भारत में गान्धी जी को दिया गया, पर वह उस भाषा में था, जिसे जानने वाला गान्धी जी के आस-पास कोई न था!

गान्धी जी ने बिना उस पत्र का भाव जाने गुजराती में एक पत्र लामा को लिख भेजा, पर उनके आस-पास भी उस भाषा को जानने वाला कोई न था!!

काम दानवता पूर्ण हैं और मानवी प्रतिष्ठा की कसौटी पर ठीक नहीं उतरते; विशेष रूप से मेरे जैसे विश्व-व्यापी मित्रता के पुजारियों की दृष्टि में।

चेकोस्लोवाकिया को लांछित किया गया, पौलैंड के साथ बलात्कार किया गया, डेन्मार्क को हड़प लिया गया; ये सब कार्य इसी कोटि में आते हैं। आपका जीवन सम्बन्धी जैसा कुछ दृष्टि-कोण है, उसके अनुसार ऐसे दस्युतापूर्ण कार्यों की गणना अच्छाइयों में है, सो मैं जानता हूं, पर हम लोगों को तो बचपन से ही ऐसे कृत्यों को मानवता को गिराने वाला बताया गया है। अतएव हमारे लिए आपकी सशस्त्र विजय की कामना करना सम्भव नहीं है, किन्तु हमारी स्थिति अपने ढंग की निराली है।

हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद का नाजीवाद से कुछ कम प्रतिरोध नहीं करते हैं। यदि अन्तर है, तो केवल परिमाण का। मानव जाति के इस पंचमांश को अंग्रेजों ने अपने शिकंजे में जकड़ने के लिए जिन साधनों का अवलम्बन किया है, वे औचित्य-पूर्ण कदापि नहीं थे, पर हम अंग्रेजी प्रभुत्व का प्रतिरोध करते हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अंग्रेज जाति का अमंगल चाहते हैं। हम उनको युद्धभूमि में हराना नहीं चाहते, उनका हृदय-परिवर्तन करना चाहते हैं। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हमारा विद्रोह शस्त्रविहीन विद्रोह है।

हम उनका हृदय-परिवर्तन कर सकें या न कर सकें, हमने उनके शासन को अहिंसात्मक असहयोग द्वारा असम्भव बनाने का संकल्प अवश्य कर लिया है। यह कुछ ऐसा तरीका है कि इस में पराजय के लिए कोई स्थान है ही नहीं। उसका आधार यह ज्ञान है कि विजेता को अपने शिकार के स्वेच्छा पूर्वक या जबर्दस्ती दिए गए सहयोग के बिना लक्ष्य-सिद्धि नहीं हो सकती। हमारे शासक हमारी भूमि और हमारे शरीर पर अधिकार कर सकते हैं, हमारी आत्मा पर कदापि नहीं। भारतवासी मात्र का, पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का विनाश करके ही वे हमारी जमीन और हमारे

शरीर पर कब्ज़ा कर सकते हैं।

यह ठीक है कि ऐसी वीरता का परिचय देना सबके लिए शायद सम्भव न हो और सम्भव है भय की अधिक मात्रा से विद्रोह की कमर टूट जाय, पर यह तर्क यहां असंगत है, क्योंकि यदि भारत में ऐसे स्त्री पुरुष काफी संख्या में मिल सकें, जो अपहर्ताओं के प्रति बिना किसी प्रकार की दुर्भावना रक्खे, उनके आगे घुटने टेकने के बजाए अपने जीवन का बलिदान करने को तैयार हों, तो वे हिंसा की बर्बरता से मुक्ति का मार्ग दिखाने में अवश्य समर्थ होंगे। मेरा अनुरोध है कि आप इस बात पर विश्वास करें कि आप को इस देश में ऐसे स्त्री पुरुष आशा से अधिक संख्या में मिल जायेंगे। पिछले २० वर्षों से उन्हें इसी की दीक्षा दी जाती रही है।

हम पिछली आधी शताब्दी से ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने की कोशिश कर रहे हैं। स्वतंत्रता का आन्दोलन आज जितना प्रबल है, उतना पहले कभी नहीं था। देश की सबसे अधिक शक्तिशाली राजनैतिक संस्था, अर्थात कांग्रेस इस लक्ष्य की प्राप्ति में प्रयत्नशील है। हमने अहिंसात्मक उपायों द्वारा पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। हमें दुनिया की सबसे अधिक संगठित हिंसा का, जिस का ब्रिटिश सत्ता प्रतिनिधित्व करती है, मुकाबला करने के लिए उपयुक्त साधन की तलाश थी। आप ने उस सत्ता को चुनौती दी है। अब यही देखना है कि ब्रिटिश सत्ता और जर्मन सत्ता में कौन अधिक संगठित है। हमारे और दुनियां की अन्य गैर यूरोपीय जातियों के लिए ब्रिटिश प्रभुत्व का क्या अर्थ होता है सो हम जानते हैं, किन्तु हम ब्रिटिश शासन का अन्त जर्मनी की सहायता से कभी नहीं करना चाहेंगे।

हमें अहिंसा के रूप में जो शक्ति प्राप्त हुई है, यदि उसे संगठित रूप दिया जाय, तो वह दुनिया की हिंसक से हिंसक शक्तियों के संयुक्त बल से मोर्चा ले सकती है। जैसा कि मैं कह चुका अहिंसा प्रणाली में पराजय के लिए कोई स्थान नहीं है। उसका मंत्र तो 'करो या मरो' है और वह दूसरों को मारने या चोट पहुंचाने में विश्वास नहीं रखती। उसके उपयोग में न धन की दरकार है, न उस विनाश-कारी विज्ञान की, जिसके विकास को आपने इस इतनी चरम सीमा तक पहुँचा दिया है।

*मुझे तो यही आश्चर्य है कि आप यह क्यों नहीं समझते कि आपकी प्रणाली पर किसी का इजारा नहीं है। यदि*

( शेष पृष्ठ ६४ पर )

# आत्मघाती या शहीद ? मुनीश्वर अवस्थी
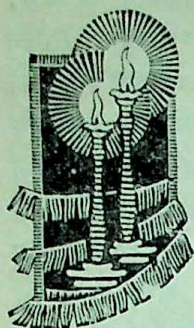
श्री सुरेन्द्रनाथ पाण्डेय

★

कानपुर जिले के बिल्हौर-मिडिल स्कूल की अन्तिम कक्षा का मैं छात्र था। कांग्रेस ने तब तक स्कूल-कालेज-बहिष्कार का कार्यक्रम स्वीकार नहीं किया था, किन्तु मैंने इसका निश्चय कर लिया था। पूरी कक्षा मेरे पीछे थी, परन्तु किसी प्रभाव-शाली व्यक्तित्व के समर्थन के बल की उसे अपेक्षा थी, पूरी योजना बड़ी सावधानी से गुप्त रखी गई थी। अध्यापक और अधिकारी बिल्कुल बेखबर थे। भेद खुलते ही सारी तैयारी पर पानी फिर जाने का डर था। किस की सहायता लें ? बहुत सोच विचार कर मैंने तेजस्वी तरुण मुनीश्वर को चुना। इसप्रकार उनके सहयोग से उत्तरप्रदेश में प्रथम स्कूल बायकाट सम्पन्न हुआ और मेरे संसर्ग ने उनकी उद्दाम जीवन-सरिता के लिए भी नया मोड़ प्रस्तुत कर दिया। तरुण मुनीश्वर को मैंने क्यों चुना था, इसके पीछे संलग्न दो दिलचस्प कहानियां सुनिए।

१९१८ से कुछ पहिले जन्म भूमि बिल्हौर से मिडिल पास करने के पश्चात वे धौरसलार के प्राइमरी स्कूल में सहायक अध्यापक के पद पर कार्य कर रहे थे। उनकी अल्पवयस्कता देखकर स्कूल निरीक्षक ने एक दिन रौब भरे स्वर में पूछा—"तुम्हारी उम्र कितनी है जी ?"

कुछ क्षण गणना करके प्रतिकार के रूप में उन्होंने उत्तर दिया—"तेरह वर्ष, सात मास, इक्कीस दिन, इतने घंटे, इतने मिनट।"

निरीक्षक नायब मुदर्रिस के गुस्ताखी भरे जवाब से इतने चिढ़ गए कि मुनीश्वर की नौकरी समाप्त कर दीगई।

दूसरी घटना ने तो बिल्हौर में तहलका ही मचा दिया। प्रथम विश्व-युद्ध समाप्त हो चुका था। ब्रिटिश राज का आतंक स्थापित करते हुए एक गोरा पलटन पड़ाव के पश्चात पड़ाव तय करके बिल्हौर पहुँची। ग्रांट-ट्रंक रोड इस कस्बे के बीच से गुजरती है। सड़क पर सेना से थोड़ा आगे एक कनस्तर पीटते हुए मुनीश्वर घोषणा कर रहे थे—"भाइयो, इन लाल मुंह वाले बन्दरों की घुड़की से मत डरना। भारत हमारा देश है। हम स्वराज्य लेकर रहेंगे !"

कमांडर को कुछ देर बाद पता चला गोरी सेना के आगे-आगे राजद्रोह का प्रचार ! बिगुल बजा। फौज 'अटेंशन' खड़ी हो गई। तहलका मच गया। तहसीलदार ने छिपने में ही खैरियत समझी। नायब तहसीलदार ने इसे किसी आवारा लड़के की नादानी बताकर

माफी मांगी और तब गोरा पलटन ने आगे मार्च किया, किन्तु मुनीश्वर की यह कहानी अर्से तक पास-पड़ोस में छाई रही।

मुझे अच्छी तरह याद है, हम दोनों की मैत्री के पहले ही उनके पिता पं० सहदेवप्रसाद अवस्थी का देहावसान हो चुका था। माता हुलासी देवी ने इसके बहुत वर्षों बाद सन् १९४७ में एक मात्र पुत्र को बिसूरते हुए अश्रु-सिक्त आखें मीचीं। कठोर विधाता ने मुनीश्वर के घटना-संकुल जीवन को केवल ३० वर्ष की आयु दी थी। १९६१ विक्रमाब्द की कार्तिकी पूर्णिमा को उन्होंने जन्म ग्रहण किया था और संवत १९९१ की बैसाख शुक्ल अमावस्या को मृत्यु के एक दिवस पश्चात चितावह्नि उनका शरीर लील गई। यद्यपि मेरे पास उनके कई फोटो थे, किन्तु बहुत चेष्टा करने पर भी अब उनका चित्र उपलब्ध करने में मैं सफल नहीं हो पाया, यद्यपि उनकी मृत्यु के २१ वर्ष व्यतीत हो जाने के उपरान्त भी उनकी छवि मेरे मानस-पटल पर अंकित दिखाई दे रही है।

दुबला-पतला प्रायः साढ़े पांच फीट का शरीर, सांवले मुख पर शीतला के कुछ चिन्ह, आंखों पर सुनहरी कमानी का चश्मा, वस्त्राभरण में चप्पल, धोती और कुरता, किन्तु सिर नग्न, हाथ में कोई अखबार और दो-एक पुस्तकें, सरसता, परिहास और शरारत से छलकता चरित्र और भारत तथा भारत की अहर्निशि अनन्य साधना में अनुरक्त जीवन। दृष्टि उनकी पहिले ही कमजोर थी, क्रान्तिकारी जीवन, अध्ययन की वृहत अकांक्षा और अखबारी आफिस के अनवरत आलेखन ने उसे और भी

वे उनमें रहे,
जो सदा दूसरों की जान लेने को
बेचैन रहते हैं,
पर हत्यारे नहीं।
हां, वे उनमें रहे,
जो अपनी जान हंसते-हंसते
देने को सदा बेचैन रहते हैं–
वे
वन्दिनी मा के विद्रोही सिपाही !
सिपाही; जो कहते ही गोली दागदे,
पर वे उनमें,
जो सोचे और तब घोड़े पर अंगूठा रखे।
यों सुरेन्द्र पाण्डेय,
भावुक और बौद्धिक क्रान्तिकारी !
खुशकिस्मती
उठ-उभरते स्वतन्त्र भारत की
कि कलम
उनके घटना भरे व्यक्तित्व की वाणी है।
तो अभिनन्दन,
उनके मौत-जूझे व्यक्तित्व का
और तकाजा उनपर
कि ५० संस्मरण लिखे बिना चैन न लें !

मनुष्य के जीवन का कितना बड़ा भाग अच्छे समय या अच्छे फल की प्रतीक्षा में ही चला जाता है। कल भी आज जैसा ही होगा ! यह कितनी विचित्र बात है कि जीवन बर्बाद होता रहता है और हम जीने की तैयारी में ही लगे रहते हैं !

एमर्सन

निर्बल कर डाला था।

फ़रारी जीवन में एक दिन वीर शहीद सालिगराम शुक्ल ने यह मनोरंजक वृत्तान्त सुनाया था—

पार्टी के काम से मुनीश्वर जी के साथ बिल्हौर जाना था, जाड़े की ऋतु थी। फिर भी सी. आई. डी. के चर पीछे न लग जायें, इसलिए, खूब तड़के ही, हम दोनों साइकिलों पर चल दिए। कई मील निकल गए थे, तब कहीं सूर्य भगवान के रथ की अरुण आभा पूर्वाकाश में प्रस्फुटित हुई। क्रमशः आगे वाले की पूंछ में नकेल से बंधे ऊंटों की एक कतार सामने से आ रही थी। बगल से कतरा कर मैंने साइकिल बढ़ाई। प्रायः आधे फर्लाङ्ग निकल जाने के पश्चात मैंने मुड़कर देखा-मुनीश्वर जी लापता हैं। कुछ मिनट रुकने के बाद मैं पीछे लौटा तो देखता हूं, टेढ़ी मेढ़ी साइकिल सड़क पर पड़ी है और क्षीण प्रकाश में दोनों हाथों से टटोल-टटोल कर वे कुछ ढूंढ़ रहे हैं। मैंने पूछा-क्या हुआ ! मुनीश्वर जी ने उत्तर दिया—साइकिल ऊंट के पैरों के बीच घुस गई। क्या कहें, ठीक से दिखाई ही नहीं दिया। खैरियत हुई, ज्यादा चोट नहीं लगी, लेकिन चश्मा नहीं मिल रहा है। टूट गया तो मुश्किल होगी।

मैंने हंसी रोकते हुए कहा—चश्मा लगा रहते तो ऊंटों की कतार नहीं दिखाई दी, चश्मा नहीं रहा, तो क्या होगा ? सौभाग्य से पास ही पड़ा चश्मा मिल गया, जो टूटने से बच गया था। साइकिल भी इस लायक रह गई थी कि हम किसी प्रकार बिल्हौर पहुँच गए।

विचार करने से जान पड़ता है, क्रांतिकारी जन्मते हैं गढ़े नहीं जाते। तभी तो वर्षों के संयोग और परिश्रम के बाद भी कितने ही चिकने घड़े साबित होते थे, पर जिसके हृदय तल में विस्फोटक और पलीता संजोया रखा होता था, किसी से चिनगारी पाते ही फर्रर्र करके जल उठता था और अपनी मियाद पर छोटे अथवा विराट-विभ्राट के साथ, रूढ़ि तथा स्थाई स्वार्थ की चट्टानों को चूर्ण कर, उन्हें भी अग्नि-स्फुल्लिंगों में लीन कर देता था।

मुनीश्वर के भी हृदय-तल में वह छिपा पड़ा था। मेरे संस्पर्श ने उसे प्रज्ज्वलित कर दिया और तज्जनित अस्पष्ट वेदना से छटपटा कर, एक दिन गेरुआ वसन और स्वरूपानन्द का नाम धारण कर वे घर से निकल पड़े। कहां कहां वे घूमते फिरे, किन-किन के बीच रहे, यह तो मुझे मालूम नहीं, पर मेरी उनकी भेंट फिर तब हुई, जब १९२४ के साल कानपुर नगर में कांग्रेस अधिवेशन की तैयारियां जोरों से चल रही थीं। जब राजस्थान के प्रसिद्ध नेता और पुराने क्रांतिकारी श्री अर्जुनलाल सेठी

और उनके साथियों का प्रतिनिधित्व अमान्य ठहरा दिया गया, तो विरोध-प्रदर्शन में सेठी जी तथा मौलाना हसरत मोहानी आदि के साथ सम्मिलित हो लाठियों की वर्षा के बीच स्वरूपानंद स्वामी भी कांग्रेस पंडाल में प्रविष्ट हो तो हो गए। क्रांतिकारी दल के उनके साथी श्री बटुकेश्वर दत्त कांग्रेसी स्वयं सेवक थे। वे स्वामी जी को पकड़-धकड़ कर बाहर लाए।

वयोवृद्ध साहित्यिक एवं पत्रकार, समाज सुधारक और क्रांतिकारियों के लिए निर्भय सहायक तथा सहयोगी स्वर्गीय राधा मोहन गोकुल जी उन दिनों कानपुर में ही थे। वे क्रोपाटकिन के कम्युनिस्ट अनार्किज्म मत के प्रतिपादक थे, किन्तु उस मनीषी के विशाल हृदय में विचार-स्वातंत्र्य के लिए सहिष्णुता का व्यापक क्षेत्र था। गुरु के स्नेह और पिता के वात्सल्य के साथ हम क्रांतिकारी तरुणों को योरुप के सामाजिक क्रांतिवादियों की विचार-धाराओं और गूढ़ मत-विरोधों को समझाने में वे अथक प्रयत्न करते थे। उनकी सहायता से हम लोगों ने खूब पढ़ा और काफी लिखा भी।

समाजवाद के दार्शनिक सिद्धांतों और हमारे अनुरोध के वशीभूत स्वरूपानन्द ने गेरुआ उतार कर पुनः सफेद वस्त्र धारण कर लिए, परन्तु स्वामी रामतीर्थ की मोहक वाणी द्विज मुनीश्वर के हृदय में गुंजन करती रही। जब-तब देखता—'इन दि फारेस्ट आफ गाड रिअलाइ-जेशन' में उनके नेत्र और मुग्ध मन विचर रहे हैं।

मुनीश्वर ने उर्दू में मिडिल पास किया था, किन्तु क्रांतिकारी कथानकों

जिंदगी तुझे इसलिए नहीं दीगई
कि तू आलस्य के साथ कुछ सोचता
रहे या पढ़ता रहे या फिर धर्म की
किसी भावना को बैठा सेता रहे!
वह तुझे दीगई इस लिए कि तू कर्म
करे-करता रहे! याद रख तेरे कर्मों
से ही तेरा मूल्य आंका जा सकेगा!

फिचटे

और नवोदित प्रगतिशील साहित्य का अध्ययन करने के लिये उन्होंने अंग्रेजी, बंगला, मराठी, गुजराती, गुरुमुखी और यदि मैं भूल नहीं करता, तो तामिल भी सीखी। क्रान्तिकारी दल की भावनाओं के प्रचार के लिए हिन्दी को उन्होंने अपना माध्यम बनाया। लिखने का उन्हें व्यसन था। निजी और काल्पनिक नामों से उन्होंने न जाने कितने लेख और अनेक कहानियां लिखीं।

मेरा अनुमान है कि उनकी छोटी-बड़ी बारह-पंद्रह पुस्तकें प्रकाशित हुईं। कुछ मौलिक, कुछ अनुवाद और कुछ लेखों तथा कहानियों के संग्रह। सब को सब क्रांतिकारी आन्दोलन सम्बन्धी और अंग्रेजी अधिकारियों द्वारा, प्रकाशित होते ही, एक के बाद एक, सभी जप्त। गदर पार्टी सम्बन्धी उनके लेख गुरुमुखी में उपलब्ध सामग्री से परिपूर्ण थे। सावरकर की काले पानी की कथा उन्होंने मराठी से अनुवादित की थी। शरत्चन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यास पथेरदावी का सर्व-

( शेष पृष्ठ ६० पर )

# कुर्सियाँ और पद मुझे क्यों नहीं लुभा पाते ?

## कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

"मैं जाने से पहले तुम से कुछ देर बात करना चाहता हूँ।"

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में पूज्य पण्डित माखनलाल जी चतुर्वेदी भी मेरठ पधारे थे और मैं भी वहां गया था। सम्मेलन की समाप्ति के दिन वे अपने स्थान से चल, मेरे स्थान पर आए और बोले—"मैं जाने से पहले तुम से कुछ देर बात करना चाहता हूँ।" अपने से छोटों को बुलाकर प्यार और प्रोत्साहन देना उनका स्वभाव है। मैं उनके निकट एक ओर जा बैठा।

बिना किसी भूमिका के बोले—"हरद्वार-सम्मेलन में तुम्हें काम करते देखा था और यहां भी देखा। नेता होने के सब गुण तुममें भरपूर और इतनी अधिक मात्रा में हैं कि मेरी समझ में नहीं आता कि तुम अभी तक समाज में अपना पद क्यों नहीं पा सके ?

मैं चिन्तन की गहराइयों में उतर गया। उन्होंने समझा कि मैं उनके प्रश्न की खोज कर रहा हूँ, पर मैं सोच रहा था कि इन्हें अपने स्थान में अपनों की इतनी चिन्ता है, तभी तो ये नई पीढ़ी के सर्वमान्य दादा हैं।

श्रद्धाभिभूत हो, मैंने उनकी ओर देखा, तो उन्हें लगा कि मेरी आंखों में जिज्ञासा है और तब उन्होंने अपने लम्बे जीवन का गम्भीर अनुभव कुछ वाक्यों में गूंथ कर मुझे दे दिया।

गाड़ी का समय था। वे चले गए और मैं उसी एकान्त में बैठा सोचता रहा—क्या जीवन में सचमुच कुछ ऐसा है कि मैं चाहता रहा और अपनी कमियों या परिस्थितियों के कारण पा न पाया ? यों भी कि मुझे यत्न करके उसे अब पाना है ?

घोटने और बहलाने पर भी मेरा मन इस प्रश्न के उत्तर में हां न कह पाया और तब मैंने सोचा—समाज में जिसे पद-प्रतिष्ठा या कुर्सी कहा जाता है, उसकी मुझ में चाह ही कब हुई है कि कहूं वह मुझे नहीं मिली ?

यह हो गया समाधान, पर इस समाधान में आगया यह व्यवधान—मैं कोई वीतराग सन्यासी नहीं हूँ कि मुझमें इच्छाओं का एकान्त शयन हो। फिर यह क्या बात है कि मुझे पद-प्रतिष्ठा और कुर्सी की चाह नहीं सताती, मैं उसे पाने को कभी बेचैन नहीं होता ?

मेरा आज जो व्यक्तित्व है, वह मुझे बना-बनाया नहीं मिला था। उसकी एक-एक ईंट मैंने रखी है. एक एक कोना स्वयं धोया-पोंछा है और तब उसे कोई रूप मिला है।

तो निश्चित है कि मेरी यह वृत्ति भी जन्मजात या दैवी नहीं, प्रयत्नपूर्वक निर्मित ही होगी और मैं उस निर्माण का नख शिख देखना चाहूँ, तो अपने अतीत की पद-यात्रा करूं !

यह पद-यात्रा मेरे बचपन से ही आरम्भ होती है—

मेरे पिता—पूज्य पण्डित रमादत्त

स्वर्गीय–मेरे लि[illegible] रहे हैं। गान्धी और जवाहर को मैं अपवाद मानता हूँ और तब कहता हूं कि अपने पिता से बड़ा मनुष्य मैंने नहीं देखा। वे एक कस्बे के मामूली पुरोहित थे। शिक्षा इतनी कि बस काम चला लें और आर्थिक अवस्था ऐसी कि रोज़ सुबह को शाम के लिए सोचना पड़े, पर दानी ऐसे कि अपने कपड़े भी दूसरों को दे दें और बीसवीं सदी के आरम्भ में उदार ऐसे कि उनकी गाय के लिए घास लाने वाला चमार एवं उनके कपड़े धोने वाला धोबी रहीम बख्श भी उनके ही गिलास में चाय पीएं।

अपने जीवन का सिंहावलोकन करता हूँ, तो पाता हूं कि जीवन को आंख खोलकर देखने का संस्कार मेरा जन्मजात है। मैं अपने बचपन में देखा करता कि पंचायतों में, संगठन-समारोहों में, जाति के ऐसे लोगों की आवभगत होती, वे ऊंचे आसनों पर हाथों हाथ बैठाए जाते, जो उस समय भी शराब पिए होते और जिनके चरित्र और हर्ष की निन्दा उनके पीछे सदा सब करते !

स्पष्ट तो नहीं पर झिल मिल रूप में मेरा बाल मन सोचा करता, कभी क्षुब्ध होता, कभी दुखी–ये अमीर हैं, अधिकार सम्पन्न हैं, इसलिए इन की चरित्र हीनता भी समाज में पूजा की पात्र है और मेरे पिता महान होकर भी साधारण हैं, क्योंकि वे गरीब हैं !!!

क्षोभ की घड़ियों में मैं भी धनपति होने के सपने देखता, पर समाज में सम्मान की विषमता देख, मेरे मन में निश्चय ही पद के प्रति, बाहरी प्रतिष्ठा के प्रति अरुचि होती, विरक्ति उपजती और उसे मैं जीवन का स्वर्ण नहीं, मुलम्मा [illegible] ता !

पद-प्रतिष्ठा के प्रति यों मेरे मन में अरुचि की पहली ईंट रखी गई, जो बाद के अनुभवों से उठती–उभरती रही और अन्त में मेरा सहज संस्कार हो गई।

( २ )

कविता के नाम पर छन्दों में शब्दों का व्यायाम करते मैंने अपना साहित्यिक जीवन आरम्भ किया, तो लड़कपन मुझ पर यों छा गया कि चारों ओर छा जाऊं। वह कवि-सम्मेलनों का विकास काल था और हमारे पूरे प्रदेश में मेरठ के व्याकुल कवि-सम्मेलन की धूम थी। वह प्रति-वर्ष होता, समस्या पूर्ति चलती और प्रथम विजेता तो एक शानदार शील्ड पाता ही, द्वितीय-तृतीय भी सुन्दर पदक पाते। इस प्रदेश के कवियों के लिए वह शील्ड उन दिनों स्वराज्य थी।

मैं भी उस अखाड़े में उतरा और पहली बार तो अपना-सा मुंह लिए लौटा, पर दूसरी बार तीसरे नम्बर का पदक लूट ही लाया। इस पदक का सबसे गहरा रौब मेरी पत्नी पर पड़ा और सब से बुरा कवि मित्रों पर। पत्नी को उससे गर्व हुआ, मित्रों को ईर्ष्या। सबसे बड़ी बात यह हुई कि अगले वर्ष के लिए कवि-सम्मेलन के संयोजक श्री रामस्वरूप शर्मा का मैं सलाहकार बन गया। बात यह हुई कि उन दिनों कवि-सम्मेलन कम जमते थे और मैं सुझाव बखेरने में बहुत उदार था।

अगले वर्ष के कवि-सम्मेलन में मैं ही मैं था। सभापति मेरे परामर्श से चुना गया, कवियों को निमंत्रण मैंने भिजवाए, उनसे पत्र-व्यवहार मैंने किया और कवि-सम्मेलन में कवियों का क्रम और परिचय

भी मेरे ही हाथ रहा। कवि-सम्मेलन ऐसा जमा, इतना सफल हुआ कि सबने तो मुझे सराहा ही, मैंने स्वयं भी अपनी संचालन-प्रतिभा के गीत गाए।

दूसरे दिन सब कवियों का एक फोटो खींचा। उसमें आठ को कुर्सियों पर बैठना था, कुछ उनके पीछे खड़े रहने वाले थे और कुछ को आगे बैठना था। मुझे विश्वास था कि मैं सभापति के पास कुरसी पर बैठाया जाऊंगा, पर पता चला कि मुझे सभापति के चरणों में आगे दरी पर बैठना है।

मेरे गर्वीले हृदय में एक धमाका हुआ—क्यों भला! कानाफूसी हो रही थी–"पिछले साल ये तृतीय रहे थे। इन्हें ऊपर बैठना कैसे सम्भव है।"

मन एक बार तो ऐसा हुआ कि खुले आम रो पड़ूं पर तभी पीड़ा के उस घने अन्धकार में विचार की एक किरण चमक उठी—"मूर्ख, गतवर्ष की जिस विजय को, प्रतिष्ठा को तू अपने मान का माप-दण्ड मान रहा था; वह तो तेरी लघुता का नाप था !!!"

बस, मैं चोर की तरह चुप चाप उस फोटो की कुरसी से क्या खिसका, सदा-सदा के लिए कुरसी के मोह से ही दूर हो गया और मेरा वह बालपन में जन्मा विचार विश्वास में बदल गया कि बाहरी पद-प्रतिष्ठा मनुष्य की उच्चता का प्रमाण पत्र भले ही हो, प्रमाण नहीं है।

(३)

विचारों की खिचड़ी पकती रही, उम्र बढ़ती रही। १९२९ के देश व्यापी दौरे में गान्धी जी का सम्पर्क मिला और यह सम्पर्क मेरे लिए पारस हो गया।

वे कांग्रेस के न प्रधान थे, न मन्त्री, न खजांची; पर वे क्या नहीं थे? मन में एक सूत्र आया—'हम पदों पर, कुरसियों पर बैठते हैं, तो हमारी शक्ति उन्हें सम्भाले रखने में लग जाती है और हम पदों पर, कुरसियों पर, नहीं होते, तो हमारी शक्ति पदों को, पद पर बैठों को संवारने में लगती है।'

मेरे लिए इस सूत्र का फलार्थ यह था—'जो काम करना चाहते हैं, काम को आगे बढ़ाना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि पदों पर स्वयं न बैठें, हां, पदों पर बैठने वालों को पूरा सहयोग दें।'

१९३० में जब मैंने गम्भीर चिन्तन के बाद अपना जीवन पूरी तरह सार्वजनिक बनाने का निर्णय किया, तो तुरन्त मेरे नगर की कांग्रेस का सभापति पद मेरे सामने था। यह भी इस तरह कि मैं कांग्रेस का प्रधान बनना स्वीकार करूं तो वहां कांग्रेस कमेटी स्थापित हो!

मेरे लिए यह धर्म संकट और मुझे मार्ग निकालना था! मैंने गांधी जी को अपनी समस्या लिखी और तुरन्त उत्तर मिला। अब मेरा नियम यों था-'सार्वजनिक संस्थाओं में चुनाव लड़कर कभी कोई पद नहीं लेना। हां, कभी सर्वसम्मति से निमन्त्रण मिले और वहां अपनी उपयोगिता दिखाई दे, तो वह ले लेना, पर काम करते समय जब भी लगे कि सबका मन अपने साथ नहीं है, तो तुरन्त त्याग पत्र दे देना।'

इस सूत्र, अर्थ और फलितार्थ का सारांश मेरे लिए यह होगया कि मैं पदों से डरूं नहीं, पर पदों को लिपटता भी न फिरूं। संक्षेप में मैं उन्हें तभी लूं, जब सार्वजनिक हित की दृष्टि से वे अनिवार्य हों और इस अनिवार्यता को साथी भी अनुभव करते हों।

(४)

मेरे अपने लिए यह सारांश पदों और कुरसियों का स्वीकार नहीं, अस्वीकार ही तो हुआ। इस अस्वीकार पर पॉलिश हुई कानपुर में। उन्हीं दिनों एक काम से वहां गया और अपने एक कवि-बन्धु से मिला। एक राजनैतिक कांफ्रेंस के वे स्वागत मन्त्री चुने गए थे, पर दूसरे दल ने बल बढ़ा कर उन्हें हरा दिया। उफ, कितने अशान्त थे वे उस दिन। उनका रोम रोम रोऊं-रोऊं हो रहा था और उनका रोम-रोम क्या, उनके पूरे वातावरण में क्रन्दन ही क्रन्दन था। एक बार मेरे एक मित्र का एक मात्र तरुण पुत्र मर गया था और उनका दुख मैंने देखा था, पर इन कवि-बन्धु का दुख तो इतना सघन था कि वह दुख बहुत नीचे रह गया था। मुझे लगा कि कहीं वे आत्म हत्या न करलें।

पद के लिए छीना-झपटी का यह मेरे जीवन में प्रथम अनुभव था और इस अनुभव ने मुझे सिखाया कि जो लोग मानसिक शान्ति चाहते हैं, उन्हें पदों से, पदों के लिए संघर्ष से बचना चाहिए।

उन्हीं दिनों लार्ड मेकाले का एक सूत्र पढ़ा—"जिसके हाथ में अपना साहित्यिक और राजनैतिक भविष्य बनाना समान रूप से हो और वह साहित्यिक भविष्य की उपेक्षा कर राजनैतिक भविष्य के निर्माण में लगे, तो मैं बिना जांच-पड़ताल के उसे मूर्ख मान लेता हूं।"

मेरे भीतर एक गैस का हण्डा-सा जल उठा और मैंने सोचा—'पदों और कुरसियों के माया जाल में फंसना उनका काम है जिनमें रचनात्मक प्रतिभा न है।' दूसरे शब्दों में पद और कुरसियां जीवन में—विशेष परिस्थितियों को छोड़कर-दूसरी और तीसरी श्रेणी की चीज हैं, प्रथम श्रेणी की नहीं!

आगे चलकर जब गांधी जी ने रचनात्मक कार्यकर्ताओं को चुनावों में न पड़ने की सलाह दी, तो मेरे चिन्तन को पोषण मिला और जब चुनावों में 'सीट' न मिलने पर बहुतों को मैंने अपनी मातृ-संस्था के प्रति बगावत करते देखा, तो मान लिया कि पद की प्यास मनुष्य के मन का सन्तुलन खो देती है।

(५)

मन का सन्तुलन ही मनुष्य है। वह हाथ से छूटा कि पशुता का राज्य हुआ। मैंने यह राज्य अपनी आंखों से देखा।

उस दिन प्रसिद्ध गांधी वादी साधक श्री विचित्रनारायण शर्मा और शंकरलाल जी बैंकर सहारनपुर में थे। मैं विचित्र भाई से धीरे-धीरे बात कर रहा था और शंकरलाल भाई कुछ लिख रहे थे, पर इतने जागरूक कि मेरी बात भी सुनते रहे। विचित्र भाई से मेरी बन्धुता थी और शंकरलाल भाई से परिचय भी नहीं, पर भाग्य की बात मैं उन्हें पसन्द आ गया और उन्होंने मुझे गांधी-सेवा-संघ की सहायता के लिए 'आवश्यक पात्र' मान लिया। श्री चमनलाल बजाज से दिल्ली में मुझे मिलाया गया। सदस्य बनने के लिए मैंने जो कुछ चाहा, वह सब तो उन्हें स्वीकृत हुआ ही, कुछ अपनी तरफ से भी कह बढ़ाया।

मैं तैयार हो गया और नियमानुसार एक पत्र लिख आया। कुछ दिन बाद श्री किशोरलाल मश्रुवाला का एक पत्र मुझे

मिला कि गांधीजी, शंकरलाल जी, जमनालाल जी और मैं स्वयं वे मेरी सदस्यता से सहमत हैं, इसलिए मैं अब अपने को गांधी-सेवा-संघ का सदस्य समझूं, पर मेरे क्षेत्र में ही रहने वाले गांधी-सेवा-संघ के एक सदस्य ने मेरे विरुद्ध कुछ अभियोग लगाए हैं, उनका कोई प्रभाव नहीं है, फिर भी फाइल लगाने को मैं उनके उत्तर भेजूं। अभियोग इस प्रकार थे—

१—मैंने गुरुकुल कांगड़ी में कभी शिक्षा नहीं पाई, फिर भी अपने नाम के साथ गुरुकुल की विद्यालंकार उपाधि लगाता हूँ। स्पष्ट है कि पक्का धूर्त हूँ !

२—मैं कमलाकर एम.ए., डी.लिट. के नाम से विकास में लिखता हूं। स्पष्ट है कि यश-लिप्सु हूं।

मैंने आंखें फाड़-फाड़कर उस पत्र को पढ़ा और खूब हंसा। मुझे खुशी हुई कि इन अभियोगों ने मुझे सीमा में बंधने से बचा लिया। जिनके ये अभियोग थे, मैं उन्हें जानता था और यह भी कि मेरे संस्था में आने से उनकी कुरसी हिल जाने वाली थी।

मैंने किशोरलाल भाई को पत्र लिखा—आपके आदेशानुसार अभियोगों के उत्तर भेज रहा हूं, पर इस निर्णय के साथ कि अब मुझे गांधी-सेवा संघ का सदस्य नहीं होना है। प्रार्थना करता हूं कि आग्रह न करें।

मैं गुरुकुल की विद्यालंकार उपाधि का उपयोग नहीं करता। मेरे निबन्धों के कारण मुझे यह उपाधि एक सनातन-धर्मी संस्था ने दी थी। प्रमाण पत्र हमेशा के लिए आपको भेजता हूँ। उस संस्था से सम्बन्धित मासिक पत्रों में १-२ बार के अतिरिक्त यह कभी मेरे नाम के साथ छपी भी नहीं।

'विकास' का पूरा अंक प्रायः मैं ही लिखता हूं। सब स्तम्भों पर अपना नाम छापना मुझे पसन्द नहीं और उन्हें बे-नाम रखकर मित्रों को, इसलिए हर स्तम्भ के लिए उन्होंने एक कल्पित नाम बना दिया है। साहित्य-संसार पर डा० कमलाकर एम.ए. डी.लिट. नाम छपता है। इस स्तम्भ में लिखी टिप्पणियां धड़ाधड़ प्रतिष्ठित हिन्दी-पत्रों में उद्धृत हुई हैं। वे मेरे नाम से छपतीं, तो मेरा नाम होता, इस प्रकार यह मेरी यश लिप्सा का नहीं, यश-निस्पृहता का ही प्रमाण है।

पत्र पहुंचा, तो गांधी जी का पत्र आया—"उत्तर से सन्तुष्ट हूँ। क्या नाराज़ होकर सदस्य नहीं बनते ?"

मैंने उत्तर दिया—नाराज़ी से नहीं, खुशी से यह निर्णय किया है और सोचा है कि मैं 'मैं' बनकर ही देश का काम करूं, 'यह- वह' बनकर नहीं।

बस उस दिन से मैं किसी संस्था का सदस्य नहीं बना और इस प्रकार पद पाने की सम्भावना ही समाप्त कर दी। यह मेरी निजी बात हुई, पर प्रजातन्त्र में क्या पदों से, पदों के लिए संघर्ष से बचा जा सकता है ? सबका उत्तर एक ही है—नहीं, पर उस संघर्ष को गन्दगी से बचाया जा सकता है और सबके लिए यही शुद्ध मार्ग है।

○ ○

**सरूपराम के जेल जाते ही उसकी बहू अपने देवर के घर चली गई और जो उसने कहा झट मान गई ! यह उसका 'पतन' था, पर उसने इस पतन की तिहरी कीमत यों वसूल की कि स्वयं पतिव्रता बनी रही, देवर से करारा बदला लेसकी और अपने आवारा पति को भला मानुष बना लिया !!**

# सरूपराम की बहू

श्री विश्वनाथ भटेले

●

सरूपराम जेल से जमानत पर छूटकर आया, तो उसके छोटे भाई राधाकिशन का मन मलीन हो गया। क्वार की चटक-पीली धूप पेड़ों की फुनगियों पर पहुँच गई थी और गहरे सुनील आसमान में कहीं दूर कोई भूरा सा बादल बाल खोले सिर उठा रहा था। धुली-उजली और चमकदार शाम राधाकिशन के दूसरी मंजिल वाले अट्टे पर मंडरा रही थी, जिसमें वह किराए पर रहता था।

नीचे की दुकान में शराब का ठेका था। बहुत रात भीगने तक यह दुकान गुलज़ार रहती थी। सामने मुख्य सड़क थी, जहाँ दिन भर धूल उड़ती। दूसरी तरफ शाह जी का मज़ार था, अपने पीछे लम्बा-चौड़ा कब्रिस्तान लिए। इक्के वालों ने घोड़े खोल दिए और ठेके के सामने वाले मैदान में शाम के तराने गूंजने-इठलाने लगे।

राधाकिशन लेटा हुआ फिल्मी-गानों की एक किताब ज़ोर-ज़ोर से बेसुरे राग में अलाप रहा था और रानी भौजी चूल्हे पर चाय चढ़ाए बैठी थी कि नीचे से सरूपराम ने आवाज लगाई।

आवाज हवा में गूंजते ही राधाकिशन को सांप सूंघ गया। वह रानी भौजी का मुंह ताकने लगा। रानी भौजी का चेहरा खिल उठा और वह कठपुतली जैसी परवशता से चूल्हा छोड़कर फिरकी की तरह झट खड़ी हो गई।

सरूपराम ने दुबारा ज़ोर से आवाज दी—"राधाकिशन, ओ राधाकिशन।" हक्का-बक्का खड़े राधाकिशन ने कहा—"आया" और दबे पांव ज़ीने से उतर कर किवाड़ खोल दिए। सामने सरूपराम खड़ा था। उसकी आंखें गुलाबी होकर जल रहीं थीं।

राधाकिशन के सफेद-फक चेहरे पर लप्पड़-सा प्रश्न सरूपराम ने जड़ दिया—"वो कहाँ है ?" उसका अभिप्राय राधाकिशन की भाभी से था।

लड़खड़ाती ज़बान में उसने कहा—"ऊपर है" और वह नीचे उतर गया। सरूपराम खट-खट जूतों की कीलें बजाता ऊपर चढ़ गया। जीने के पास ही ऊपर रानी खड़ी थी। उसकी आंखों में आंसू छल छला रहे थे। सरूपराम को देखते ही रानी फूटकर बिलख पड़ी। ज्यों-ज्यों रानी विगलित होती गई, त्यों-त्यों सरूपराम की आंखें खुश्क होती गईं।

"क्या हुआ ? कोई नई बात है क्या ?"—भर्राई हुई ठस आवाज़ में सरूपराम ने पूछा। रानी चुपचाप सुबकती रही। अब के ज़रा कठोर आवाज़ अट्टे की दीवारों में बज उठी—"बोलती क्यों नहीं ?"

रानी सरूपराम के क्रोध को जानती थी, इस लिए कर्कश आवाज ने उसके शरीर में सिहरन पैदा कर दी और वह यन्त्रचालित-सी कह गई—

"तुम्हारा हाथ पकड़ते समय मुझे क्या मालूम था कि फिर कोई नई बात देखनी पड़ेगी !"

"ग्यारहवें दिन तो मैं जमानत पर आ ही गया हूं; दस दिनों में क्या नई बात हो गई ?" सरूपराम बोला।

स्त्री इशारों में ही अपने को अभिव्यक्त करती है, क्योंकि उसके ज्ञानतन्तु बहुत कोमल और सूक्ष्म होते हैं। उसका सहज ज्ञान और उसके मूलतत्व शील-संकोच इशारों में ही बोलने के लिए उसे विवश कर देते हैं। जड़तावश यदि उसे कोई इशारों की भाषा से हटाने का प्रयत्न करे, तो करता रहे। वह बात का रुख मोड़ देगी, लेकिन इशारों की भाषा नहीं छोड़ेगी।

"पुलिस को तुम्हारी मुखबरी देकर तुम्हें किसने गिरफ्तार कराया था; मालूम है कुछ ?" रानी ने कहा। "किसी दाई-दुश्मन ने किया ही होगा, पर जब मैं ही बुरा हूं, तो गिरफ्तार कराने वाले का क्या दोष ? अपना सोना ही खोटा है, तो परखने वाले का क्या कसूर ?" सरूपराम ने जवाब दिया।

इस समय वह उठाईगीरी करने वाला बदमाश नहीं था। नारी के समक्ष उस पेशेवर उठाईगीरे की उदात्त वृत्तियां जाग उठीं थीं और इस घड़ी उसके कंठ पर उसका देवत्व बोल रहा था।

"फिर भी जान लेना क्या बुरा है ? ताकि आगे के लिए उससे होशियार रहो और आंख बचा के खेलो।" रानी की नारी उसकी भावधारा को मोड़ने पर तुल गई थी।

"मेरे मन में एक बात आती है, एक जाती है। समझ काम नहीं दे रही। तूने कुछ सुना हो तो कह !" सरूपराम मुड़ गया।

"तुम मेरा विश्वास करते हो कि नहीं, पहले यह बताओ ?" रानी के सहज-ज्ञान का यह कौशल था।

सरूपराम ने उसे घूरा। आंखें कुछ ज्यादा सुर्खी पकड़ गईं और हंस पड़ने के लिए होंठ फरकने लगे। रानी ने कहा—"दस दिन के संग-साथ से मैंने राधाकिशन को खूब पहचान लिया है और उसी की ज़बान से कहलवा लिया है कि तुम्हें उसी ने गिरफ्तार कराया था। मुहल्ले में सबको यह मालूम है, तुम किसी से भी पूछ सकते हो।"

सरूपराम को धक्का लगा, पर वह खामोश सुनता रहा। रानी कहती गई—

"तुम्हें जब पुलिस वाले पकड़ ले गए, तो राधाकिशन मेरे पास आया और बोला—परवाह मत करो भौजी, अभी दो दिन में जमानत पर छुड़ाए लेता हूँ। तू चल मेरे साथ। मैं चली आई और उसने मुझे यहाँ इस अड्डे पर लाकर बिठाल दिया। मैं रोज़ कहती कि भाई की जमानत करा ला, मगर वह सुनता नहीं था। चौथे दिन उसने एक शर्त मेरे सामने रखी और कहा—वह जब तक पूरी न हो जाएगी, मैं नहीं जाऊंगा। मैंने उसी रात बहुत सोच-विचार के बाद उसकी शर्त पूरी की। रोज़ तो वह अफीम पीता था, उस दिन ऊपर से शराब भी पी आया। फिर उसने जाकर जमानत कराई और तुम आगए।" रानी चुप हो गई।

सरूपराम सुनकर बेकाबू हो गया—"अभी नीचे जाकर बेईमान को एक से दो किए देता हूं।"

रानी ने झपट कर पांव पकड़ लिए—"भगवान के लिए समझ से काम लो। मारपीट में तुम्हारा ही नुकसान होगा। मेरी-तुम्हारी बदनामी होगी और मैं कहीं की न रहूँगी। तुम नहीं हो, तो मैं अनाथ हूँ। तुम्हें कुछ करना ही है, तो पहले यहां से भाग चलो।"

"इससे क्या फायदा?" सरूपराम गुर्राया।

"फायदा यह कि कहीं दूसरी जगह शान्ति से रहेंगे। न बटिया चले न संदेशा आए।" रानी ने धैर्य से कहा।

"वारण्ट नहीं कट जाएगा?" सरूपराम फिर मन के झाड़-झंखाड़ में उलझ गया।

रानी ने फिरसहारा दिया—"वारंट तो पहले भी था। इतनी दूर चलकर मेहनत-मजूरी करेंगे कि किसी को पता भी न चलेगा।"

मिनट भर का मौन तोड़कर सरूपराम फिर एक प्रश्न पकड़ लाया—"भाग चलेंगे, तो राधाकिशन को जमानत का रुपया भरना पड़ेगा। पांच सौ रुपए की जमानत है।"

जीत की खुशी में फरकती जीभ से रानी चटचटाई—"उसके किए की यही वाजबी सजा है। बैरी रुपया भरे या जेल में मरे मेरी बला से!"

रानी ने सरूपराम के सीने में सर टिका दिया और सरूपराम की भुजाओं ने उसे विभोर होकर भर लिया। दो मिनट बाद रानी हटी और चूल्हे पर चली गई। बोली—"जंगल झाड़े हो आव, तब तक चाय बनाती हूं।"

जब लिखना, अच्छा लिखना, जमकर लिखना, दमक कर लिखना, तमतमाकर लिखना उसकी जवानी में इठलाती कलम का स्वभाव हो गया है।

उसकी अपढ़ मां ने उसे घुट्टी के साथ भाषा पिलाई थी—ठीक जन्म के दिन और गलियों में खेलते-खेलते गाँव की धरती ने उसे सिखा दिया था—भाषा के हुस्न का राज़—

पर सरूपराम की बहू कहती है कि उसकी लावारिस खूबियों ने अभावों और परेशानियों के जंगल में भटकते-घूमते पालिया है कलम का वह नूर भी, जो इशारों से ही, अन्धेरे में छिपे-खोए जीवन के रहस्यों को खोजकर नगण्य को अग्रगण्य बना देता है।

यह चाय अफीमची राधाकिशन के लिए बन रही थी। रानी उसे बना रही थी। अब वही चाय बदमाश सरूपराम के लिए बन रही है और रानी बरबस उसे बनाने लगी है। मन फूल-सा हल्का हो गया और हाथ-पांव खुद-ब-खुद नाचने लगे।

नीचे उतरते ही सरूपराम को दस-पांच लोगों के बीच स्पीच झाड़ता राधाकिशन दिखाई दिया। खरबूज़े को देख कर खरबूज़ा रंग पलट गया। उसके दिमाग की नसें सनसनाने लगीं और नयन फिर से सुर्ख हो गए। दूर से ही चिल्लाकर वह बोला—"तुझे जमीन में गड़वाकर तेरे ऊपर कुत्ते छोड़े जाएं, तो भी कम है।"

"क्यों नहीं! क्यों नहीं!! भाँवरे पड़ने पर मौर को दुनिया तालाब में फेंक देती है।" राधाकिशन ने ताना कसा।

सरूपराम की आंख में बांस की फांस कसक रही थी। बोला—"ज्यादा बकबक मत कर, वरना कुछ का कुछ हो जाएगा।"

"मैंने जमानत न कराई होती, तो जेल में आठ-आठ आंसू टपकाते होते। छूट आए तो मुझे मर्दूमी दिखा रहे हैं।"

"चुप नहीं रहेगा तू पापी, दगाबाज़" सरूपराम चिल्लाकर राधाकिशन पर टूट पड़ा और लप्पड़-थप्पड़ करके दोनों गुंथ गए। आन की आन में पचासों तमाशाई इकट्ठे हो गए और बीच बचाव कर दिया गया। सरूपराम एक तरफ कांपता हुआ बड़बड़ा रहा था—"जिन्दा नहीं छोड़ूंगा इस पाजी को।

उधर राधाकिशन फूल रहा था—"सबेरा होते ही अपनी जमानत कटा दूंगा और सींकचों में पहुँचा दूंगा तुझे! तू है किस हवा में!"

कोई राधाकिशन के पक्ष में बोल रहा था—"बेचारे का होम करते हाथ जल गया।" कोई सरूपराम का हिमायती था—"राधाकिशन ने ही पाजामा उधेड़ा था, उसीने सिया। इसमें ऐहसान क्या है।"

कोई-कोई संशय में था। जोर-जोर से बतबताहट और हो-हल्ला हो रहा था। एकाएक ऊपर से रानी उतरी और बाहें फटकार कर बोली—"लोगो, अपने अपने घर जाव। झगड़ा यह है कि मेरा पति आ गया, तो मैं इसके संग रहूं या इस पातकी के?" उसका इशारा राधा-किशन की तरफ था। कुछ लोग सुन्न रह गए, फिर कुछ ने ठहाका मारा और खिस-खिस करके खिसक गए।

रात भर राधाकिशन अट्टे पर नहीं फटका। अलस्सुबह जब वह जमानत कटवाने के लिए तैयार हुआ, तो पता चला कि सरूपराम और उसकी बहू रात में ही कहीं भाग गए!

> हमारी शक्ति का परिचय है यह कि—
> हम दूसरों के लिए क्या कर सकते हैं?
> हमारे प्रेम का परिचय है यह कि—
> हम दूसरों के लिए क्या सह सकते हैं?
>
> वैस्टकाट

# पलकों का मधुवन

★

शब्दों के, भावों के, रितुओं के श्रृंगार सजन !

तेरा नेह समेटे भीतर
प्राण जिए जाते हैं,
तुझको जो अच्छा लगता
ये ओंठ वही गाते हैं,
खींचे हृदय - चितेरा
प्रतिपल तस्वीरें तेरी ही,
तेरी रंग - रलियों में
दुनिया संवर रही मेरी भी,

रूप तुम्हारा, मेरी इन दो पलकों का मधुवन !

तुम आते जब पास
कि हो जाती आवाज़ें भारी,
तुम पर कितनी सुरभित सांसें
मुग्धा लाजें वारीं,
अनगिन बार तोड़ दी
मुस्कानों ने अपनी सीमा,
चंचल-चित का दीप प्रकाशित
तुमसे, हो क्यों धीमा ?

क्या दूं तुमको, तुम ही जब मेरे हिस्से का धन !
शब्दों के, भावों के रितुओं के श्रृंगार, सजन !

श्री पुरुषोत्तम खरे

इस तरह का शहर जिसमें कोई भिखारी न हो, सदियों से कल्पना का विषय रहा है, लेकिन मध्य त्रिवांकुर स्थित कोटायम नगर ने इस काल्पनिक स्वप्न को पूरा कर दिया है। यहां की साफ़-सुथरी तारकोल बिछी सड़कों पर चलने से आप व्यस्त जीवन की झांकी ले सकते हैं और खूबी यह कि आपको रास्ते में तंग करने वाला कोई भिखारी नहीं मिलेगा।

कोटायम से भिखारियों को हटाने का निर्णय सर्व प्रथम १६४० में किया गया था। इसके लिए एक भिखारी-सहायता-केन्द्र की स्थापना की गई, जिसके अध्यक्ष मेयर श्री ए. बी. जार्ज थे। भिखारियों को या तो नगर छोड़ने या भिखारी सहायता-केन्द्र में काम करने के लिए विवश किया गया।

इस केन्द्र में यद्यपि भिखारियों के लिए अच्छे मकानों में रहने, अच्छे कपड़े पहनने और अच्छा भोजन करने की व्यवस्था की गई, तो भी उन्हें इस केन्द्र में लाना कोई सरल काम नहीं था, क्योंकि भीख मांगने को वे एक अच्छा लाभदायक व्यवसाय समझते थे। अन्य भिखारी इस प्रकार के साहसिक जीवन को छोड़ना नहीं चाहते थे। इस केन्द्र में उन्हें न केवल रहने की जगह दी जाती थी, बल्कि काम भी दिया जाता था।

इन भिखारियों को केन्द्र में व्यस्त रखा जाता है। उनकी रुचि और क्षमताओं का सावधानी पूर्वक निरीक्षण कर शीघ्र ही पता लगा लिया जाता है और बाद में उन्हें उपयुक्त काम दिया जाता है। उन्हें कलाओं और दस्तकारियों की शिक्षा देने के लिए अध्यापकों और समाज-सेवा-समिति के स्वयं-सेवकों को रखा जाता है। इन भिखारियों को एक से चार आने तक रोज प्रोत्साहन की दृष्टि से दिए जाते हैं। अस्वस्थ भिखा-

# कोटायम में अब

रियों को उपचार-गृह में रखा जाता है।

जब यह पता चल जाता है कि यहां रहने वाला भिखारी कार्य-कुशल और अच्छा नागरिक बन गया है, तब उसे औद्योगिक कम्पनियों और लोगों के व्यक्तिगत घरोंमें काम करने की अनुमति दे दी जाती है। अभी तक बहुत कम ऐसे मामलों की सूचना मिली है, जब व्यक्ति काम सीखने के बाद फिर भिखारी बन गया हो।

ये नव-प्रशिक्षित लोग जो कालीन-कम्बल, दरी, कपड़े आदि अन्य वस्तुएं तैयार करते हैं, वे केन्द्र द्वारा प्रदर्शित की जाती हैं और उनकी बिक्री भी होती है।

केन्द्र में बालक स्कूल में पढ़ते हैं, जिन्हें शिक्षा द्वारा भिक्षा-वृत्ति से विमुख करने की कोशिश की जाती है। इन्हें पढ़ाई, लिखाई, संगीत, कला, नागरिकता और सफाई आदि की शिक्षा दी जाती है। इस तरह हज़ारों बालकों को परम्परागत भिखारी पन के अभिशाप से मुक्ति मिल गई है।

इस केन्द्र को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाना भिखारी-सहायता-समिति के अध्यक्ष श्री ए. बी. जार्ज का लक्ष्य है, जिसकी पूर्ति में वे निरन्तर प्रयत्नशील है।

कोटायम की भिखारी-सहायता-समिति के कार्यकर्ताओं का यह अनुभव है कि रोजगार की खोज में थकावट से मायूसी बढ़ जाती है और अन्त में भीख मांगने के लिए विवश होना पड़ता है। इसलिए भिखारी-सहायता केन्द्र में, रोजगार की सम्भावनाओं को बढ़ाने और दस्तकारियों को सिखाने की ओर हर तरह से अधिक ध्यान दिया जा रहा है। अन्य नगरों के सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए कोटायम का सफल परीक्षण एक सबक भी है और निमंत्रण भी!

# कोई भिखारी नहीं!

# बेमौसम याद !

आज बे मौसम तुम्हारी याद आई है; करूं क्या ?

अब न पनघट गा रहा है, अब न बादल रो रहे हैं,
और मुझको लग रही है अब न फूलों पर उदासी;
मस्त भौंरे गा रहे हैं, चल रही चंचल पवन है,
लग रही हैं आज मुझको बाग की कलियां न प्यासी;
आज का मौसम भला है, गीत गाने का समा है,
पर अजाने आज मेरी आंख भर आई; करूं क्या ?

आंख जब खोली नज़र के सामने कुछ भी न पाया,
पर भटकता नाम तेरा ओठ पर हर बार आया;
साथ तुम थे जब यहाँ मैं साध कर स्वर चल रहा था,
किन्तु तुम से दूर अब तो गीत वैसा गा न पाया;
आज भी मन चाहता है प्राण के गजरे चढ़ाना,
पर मुखर प्रतिमा तुम्हारी स्वप्न बन आई; करूं क्या ?

जबकि मैं तो चल दिया हूं आज सोतों को जगाने,
और बैठा हूँ यहां पर गैर को अपना बनाने;
गीत हैं केवल यहां तो एक बस मेरा खज़ाना,
इसलिए इनको लिए अब चल दिया रूठे मनाने;
जबकि है निर्माण का पल और कोसों दूर हूँ मैं,
रोकने तब तुम्हारी आवाज़ आई है; करूं क्या ?

**श्री वीरेन्द्र शर्मा**

## उपदेश नहीं बातचीत

उपदेश देना और नेक सलाहें बांटना मुझे कितना नापसंद है। जब कभी ऐसा करने को मेरा जी चाहता भी है, तो मुझे हमेशा एक 'बहुत अक्लमन्द आदमी' की कहानी याद आ जाती है, जो मैंने एक बार पढ़ी थी।

तेरह सौ बरस हुए एक ह्यूएनसांग अनुभव और ज्ञान की खोज में चीन से भारत आया था। इसने एक किताब लिखी और जो कहानी मुझे याद आई, वह उसी किताब में है।

कहानी यों है कि दक्षिण भारत का रहने वाला एक आदमी कर्ण सुवर्ण नाम के नगर में गया। यह आदमी अपने पेट और कमर के चारों ओर ताम्बे के पत्तर लपेटे रहता था और अपने सिर पर जलती हुई मशाल बांधकर हाथ में डण्डा लिए और अकड़ के साथ लम्बे-लम्बे डग रखता हुआ यह शख्स इधर उधर घूमा करता था।

जब कोई उससे पूछता कि तुमने यह अजीब स्वांग क्यों बना रक्खा है, तो वह जवाब देता कि "मुझमें इतनी ज्यादा अक्ल है कि मैं अपने पेट के चारों तरफ तांबे की चादरें न बांधे रहूँ, तो डर है कि मेरा पेट कहीं फट न जाए और क्योंकि मुझे सब तरफ दिखाई देने वाले अज्ञानी आदमियों पर, जो अन्धेरे में भटक रहे हैं, दया आती है, इसलिए मैं अपने सिर पर मशाल लेकर चलता हूँ।"

मुझे पूरा भरोसा है कि अक्ल की ज्यादती के कारण मेरे पेट के फट जाने का कोई अन्देशा नहीं है, इसलिए मुझे तांबे की चादरें या जिरह बख्तर पहनने की जरूरत नहीं है। बहरहाल, मुझे उमीद है कि मुझ में जो कुछ भी अकल है, वह मेरे पेट में नहीं रहती। खैर मेरी अक्ल चाहे जहां रहती हो, वहां और ज्यादा के लिए काफी जगह बाकी है।

इसलिए मेरा हमेशा से यह विश्वास रहा है कि यह जानने के लिए कि क्या सही है और क्या नहीं; क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, सब से अच्छा तरीका यह नहीं है कि उपदेश दिया जाए, बल्कि यह है कि बातचीत और चर्चा की जाए, क्योंकि ऐसी चर्चाओं में से कुछ न कुछ सचाई निकल आती है।

हममें से किसी को भी उस बेवकूफ और घमण्डी आदमी की तरह यह खयाल न करना चाहिए कि जितना सीखने लायक था, वह सब हमने सीख लिया और हम बहुत अक्लमन्द हो गए। अपनी भलाई शायद इसी बात में है कि हम बहुत अक्लमन्द नहीं बन जाते; क्योंकि ऐसे लोग नई बातों के सीखने और नई चीजों को खोज निकालने के आनन्द से—उस महान साहस पूर्ण कार्य के आनन्द से, जिसे जो चाहे प्राप्त कर सकता है–जरूर वंचित रह जाते होंगे।

जवाहरलाल नेहरू

# जीवन के झरोखे से

## रामचरण

रामचरण के पिता वृद्ध भी हैं और दमे के रोगी भी। उसकी उम्र होगी १५-१६ साल। सुबह-शाम का अपना काम वह करता है, अपने और पिता के लिए भोजन-चाय बनाता है और कुछ देर पढ़ता भी है। विशाल हाथी-बिल्डिंग के ७ परिवारों में कोई भी, कभी भी, उसे अपने किसी भी काम के लिए आवाज़ दे सकता है और जवाब में 'आया जी!" सुन सकता है।

वह कभी किसी की शिकायत नहीं करता और हरेक आदमी उसे "सबसे अधिक अपना" समझता है। एक दिन उसे टटोलने को मैंने कहा—"तुम्हारा बूढ़ा तुम्हारी कमाई में से शराब पीता है, तुम कुछ नहीं कहते?"

बोला—"पीने से खांसी कम उठती है, इसलिए मैं ही उसे थोड़ी-सी ला देता हूं!" भाषा और भावना; दोनों की दृष्टि से कितना मधुर और कितना परिपूर्ण है यह उत्तर!

रामचरण मेरे बुजुर्ग भंगी श्री मुन्नासिंह का पुत्र है और सब मिला कर ३५-४० रुपये कमाता है।

उस दिन श्रीमती चन्द्रवती ऋषभसैन जैन का जड़ाऊ लॉकेट शौचालय में गिर गया और रामचरण के हाथ आया। बीच में ही अपना काम छोड़कर वह आया और लाकेट दे गया। उन्हें ध्यान भी न था, वे भौंचक रह गईं। विचारणीय यह कि रामचरण पर सन्देह भी सम्भव न था और महत्वपूर्ण यह कि लौटाने के सिवाय इस सम्बन्ध में और कोई बात रामचरण ने सोची तक नहीं। रामचरण; भारत की आत्मा का प्रतिनिधि!

## तुम्हारी सज़ा

अकबर भाई गांधी जी का कमरा साफ कर रहे थे कि भूल से गांधी जी के तीन बन्दरों का छोटा-सा स्टैच्यू गिर कर टूट गया।

उन्होंने सीधे गांधी जी के निकट जा, अपना अपराध कह सुनाया और सजा सुनाने की प्रार्थना की।

गांधी जी मुस्कराए—हां कसूर हुआ, तो सजा जरूर मिलेगी। तुम्हारी सजा यह है कि तुम हमेशा सच बात कहने का साहस रखो!

गांधी जी का दण्ड-विधान सुनकर और तो सब हंसे ही, स्वयं अपराधी भी खूब दोहरा हुआ।

## पहले मुझे मारो!

बम्बई में उपद्रव हो रहा था और राज्य-पुनर्गठन के प्रश्न पर उठा मत-भेद गुण्डा गर्दी और लूट-मार में बदल गया था।

गुण्डों की एक भीड़ एक दूकान को लूटने के लिए आई, तो पुलिस अधिकारी ने उसे रोका, पर वह एक था और ये अनेक। दूकान का ताला तोड़ने से पहले वह उसका सिर फोड़ने को उबल पड़े।

पुलिस अधिकारी का जीवन अब

खतरे में था कि कहीं से आ निकले श्री एस. एम. जोशी एम. एल. ए.। उन्होंने दौड़कर पुलिस अधिकारी को अपने पीछे कर लिया और भीड़ को ललकारा–"पहले मुझे मारो, तब इनको मारना और दूकान लूटना !"

बलिदानी ललकार की इस दीवार ने भीड़ को वहीं रोक दिया और वह तितर-बितर होगई।

## बादशाह खान

बड़े भाई का नाम है डाक्टर खान और छोटे का बादशाह खान; यानी खान अब्दुल गफ्फार खां-सरहदी गांधी।

डाक्टर खान पाकिस्तान के केन्द्रीय मंत्री थे और बादशाह खान सरकार के संदिग्ध व्यक्ति। वे तभी लम्बी जेल से छूटे थे।

बादशाह खान का सरहद में जाना निषिद्ध था और डाक्टर खान वहां सरकारी दौरा कर रहे थे। उस दिन अपनी ही तहसील चारसद्दा के पास से उनकी मोटर जा रही थी, जिसपर पाकिस्तानी झण्डा लगा था।

एक भीड़ ने उस मोटर को घेर लिया। सेक्रेटरी ने भीड़ को बताया कि यह मिनिस्टर खान की मोटर है, पर भीड़ ने कहा–"किसी की मोटर हो, तुम नीचे उतरो और पांच बार बादशाह खान जिन्दाबाद बोलो, तब आगे जा सकते हो !"

एक हल्की-सी झिझक के बाद बड़ा भाई मोटर से उतरा और पांच बार छोटे भाई को ज़िन्दाबाद कर आगे बढ़ गया। यह सत्ता द्वारा साधना की वन्दना थी।

## श्रीमती पण्डित

महामान्या श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित प्रतापी महान मोतीलाल नेहरू की पुत्री, नेता महान श्री जवाहरलाल नेहरू की बहन और मनुष्य महान श्री आर० एस० पण्डित की पत्नी हैं। वे पराधीन भारत की प्रथम महिला-मिनिस्टर थीं, स्वतन्त्र भारत की प्रथम महिला राजदूत और विश्व-परिषद् की प्रथम अध्यक्षा।

उनके व्यक्तित्व में सुकुमारता, सुरुचि, सौंदर्य, स्वास्थ्य और स्थिरता का ऐसा समन्वय है कि वाह! सुरक्षा परिषद् में कश्मीर के प्रश्न पर सर जफरुल्ला की डरावनी पाकिस्तानी दहाड़ों के बाद वे मुस्कराते हुए जब अपनी बात कहने को उठतीं, तो एक अमरीकन सम्वाददाता के अनुसार, उनकी उस मुस्कराहट से ही ५० प्रतिशत 'कन्वेसिंग' हो जाता।

अमरीका की ड्रेस इंस्टीट्यूट ने १९५५ में सर्वोत्तम परिधान पहनने का प्रथम पदक श्रीमती पण्डित को ही दिया है। अमरीकी राष्ट्रपति श्री आइज़नहावर और फ्रांस के पूर्व प्रधान मंत्री श्री मैंडेस फ्रांस की पत्नी भी प्रतिद्वंदिता में उनसे पीछे रह रह गईं।

## स्वस्थ नेहरू

प्रधान मंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू हैदराबाद में कैंसर के अस्पताल का उद्घाटन कर रहे थे। बोलते-बोलते वे अपने में खो गए और तब बोले—"मुझे किसी अस्पताल में एक दिन के लिए भी नहीं रहना पड़ा। सचाई तो यह है कि अस्पतालों से मेरा सम्बन्ध बस शिलान्यासों और उद्घाटनों तक ही सीमित है।"

★

# हमारा स्वतन्त्र भारत राष्ट्रों की सभा में चंदन के रथ चढ़कर आया है !

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

अरविन्द, रमन, विवेकानन्द और गांधी तथा रवीन्द्र, नानालाल, भारती और इकबाल तथा प्रसाद ने विलाप किया था कि मनुष्य का हृदय उसके मस्तिष्क के नीचे दब गया है, अतएव इस दबाव से उसे मुक्त करना चाहिए। हम में से बहुत-से लोग उस बात को आज भी दुहरा रहे हैं किन्तु फिर भी आलोचना पर आसक्त होकर हम साहित्य के नेत्र में प्रखरता तो भरते जा रहे हैं, किन्तु इस बात पर हमारा ध्यान बहुत कम है कि सहित्य का हृदय-भाग पहले से कहीं अधिक शुष्क होता जा रहा है।

ऐसा लगता है, मानो हिन्दी में कलियां चटकाने वाले मलय-पवन ने बहना छोड़ दिया है और जो बहता है वह बुद्धि का झंझावात है, जिससे पतली टहनियां और रुग्ण डालियां तो टूट रही हैं, किन्तु पेड़ में नये पत्ते नहीं निकलते, फूलों में नये रंगों का उभार नहीं आता। आलोचनाकीउपयोगितासे मैं इनकार नहीं करता। मैं तो सिर्फ यह याद दिलाना चाहता हूँ कि साहित्य की समृद्धि के वास्तविक प्रमाण बड़े-बड़े कवि, कथाकार और नाटककार होते हैं। आलोचना के आचार्य तो उस समृद्धि के ज्ञापक मात्र हैं। कहीं ऐसा न हो कि भाव छोड़ कर हम केवल ज्ञान की ही तिजारत को सर्वश्रेष्ठ साहित्य मान कर बैठ जायें।"

मैं यह सोच रहा हूँ कि क्या कारण है कि हमारी पीढ़ी के निर्माण के समय जनताने हमारी पीठ पर प्रोत्साहन का जो हाथ रखा वह आज के नवोदित, संघर्षशील उमंगों से आकुल और कुछ कर गुजरने की धुन से मतवाले युवकों की पीठ पर नहीं हैं। क्या कारण है कि स्वतंत्रता-संघर्ष के दिनों में जब कवि और जनता मिलते थे, तब दोनों का ध्यान एक ही ध्येय की ओर होता था, किन्तु आज उस एकता का कहीं पता नहीं चलता। उन दिनों कवि यह समझता था कि मैं जनता के हृदय से एकाकार हूं और जनता भी मानती थी कि कवि ठीक वही बात कह रहा है जो हमारे मन में है। कैसा था वह समय जब कविता सुन कर पूज्य राजेन्द्र बाबू की आंखों से झर-झर अश्रुपात होने लगता था और विहार-केसरी मसनद पर सिर धुन कर रोने लगते थे एवं श्रोताओं के बीच से अच्छे-अच्छे वयस्क लोग अपने-अपने

सिर के बाल खींच कर खड़े हो जाते थे ! आज वह समां कहीं भी दिखाई नहीं देता। मैं अपने ही जीवन में डूब कर यदि कल से आज की तुलना करूं तो मुझे कहना चाहिए कि नेशनल फ्रन्ट के कवि को समाज के हाथों जो प्रेम और पुचकार मिलता था, वह एम० पी० साहब को नसीब नहीं है; सम्मान और बाहरी आडम्बर में चाहे जो भी वृद्धि हुई हो।

भारत के कवि और साहित्यकार आज विचित्र स्थिति में हैं। लोग कभी-कभी मुझसे पूछ बैठते हैं, तेरी आग ठंडी क्यों हो गई ! इसका जवाब क्या दिया जाय? देश स्वाधीन हो गया। अब तो हाकिम और महकूम, जालिम और मजलूम तथा शोषक और शोषित, जो कुछ हैं, हमी हैं। अब आग किसके ख़िलाफ़? क्या आग पैदा करके अपने आप को जलाएं? और जवानी के गुजर जाने के कारण यदि मेरी आग ठंडी हो गई हो तो और नौजवानों को क्या हुआ है ? उनके कंठों से ज्वाला के स्फुलिंग क्यों नहीं निकलते ?

यह सच है कि देश में यदि आत्म-हत्या की स्थिति आ गई हो तो कवि के लिए यह भी श्रेयस्कर कार्य है कि वह अपनी ही भावना की आग में जलकर भस्म हो जाय, किन्तु अपने चारों ओर मुझे वह स्थिति दिखाई नहीं देती। आत्महत्या मनुष्य नैराश्य के कारण करता है, किन्तु साहित्य को जिसने ग्रसित किया है, वह निराशा नहीं, दुविधा और द्वन्द्व है। स्वराज्य के बाद से जनता के भीतर जो असंतोष रहा है, उसका ताप विद्रोह की वाणी बनने के लिए बार-बार साहित्य के भीतर पहुँचा है और बार-बार साहित्य ने उसे पीकर पचा लेने की कोशिश की है, क्योंकि साहित्यकार को यह ज्ञात नहीं है कि अब जो विद्रोह उठेगा उसका परिणाम क्या होगा। नये कवियों में न तो प्रतिभा की कमी है, न प्रज्वलन
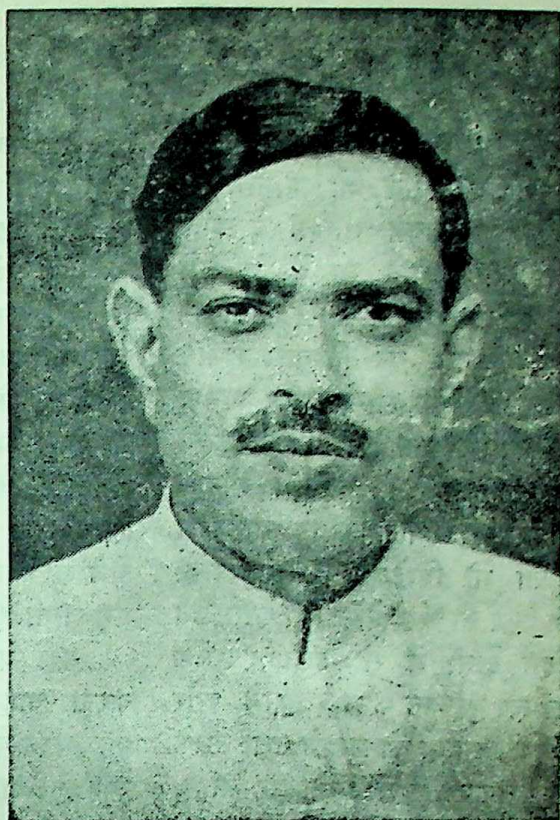
का अभाव। असल में, कोई द्वन्द्व है जो उन्हें खुल कर फूटने नहीं देता, कोई दुविधा है जो उनके अन्तर्मन में बैठी हुई है।

साहित्यकारों में दो प्रकार के लोग मिलते हैं, एक तो वे, जो यह मानते हैं कि साहित्य केवल सौन्दर्य है और सौन्दर्य की पहचान यह है कि उसे देखते ही मन आनन्द से भर जाता है। दूसरे वे जिनका यह विश्वास है कि साहित्य का लक्षण सौन्दर्य और आनन्द अवश्य है, किन्तु साहित्यकार केवल इतने से ही संतुष्ट नहीं हो जाता। सौन्दर्य और आनन्द के भीतर से वह समाज में सुरम्यता भी बिखेरता है, मनुष्य को किसी ध्येय की ओर प्रेरित भी करता है।

इन दोनों में से पहली परंपरा के विकृत रूप मुहब्बत के गन्दे तराने और मनुष्य की आत्मा को सुलाने तथा उसके शरीर को जगाने वाले सस्ते उपन्यास हैं, जिनकी बाज़ारों में बड़ी मांग है। दूसरी परंपरा की विकृति उनलेखकों और कवियों में मिलेगी जो अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए चरखे या हथौड़े का नाम लेना जरूरी समझते हैं, किन्तु ये दोनों विकार ही विकार हैं अन्यथा ऊंचा साहित्य कला की इन दोनों परंपराओं में लिखा गया है।

इन्हीं दो परंपराओं में एक के कवि कालीदास और दूसरी के कवि बाल्मीकि हुए हैं, एक के पुष्प विद्यापति, सूरदास और बिहारी तथा दूसरे की ज्योति कबीर और तुलसीदास हैं। कविता बाल्मीकि लिखते हों या कालीदास, कबीर लिखते हों या सूरदास, इस अनुभूति से बल दोनों को प्राप्त होता है कि जिस लक्ष्य की हम सेवा कर रहे हैं, वह समाज का प्यारा लक्ष्य है, जिस वासना पर चढ़ कर हम बोल रहे हैं वह सबकी वासना है और जो भाव हमारे भीतर उठता है, वह सभी के भीतर विद्यमान है, किन्तु जहां कवि के विश्वास और, तथा जनता के विश्वास और हों अथवा जहां दोनों का यह हाल हो कि हम किस बिन्दु पर खड़े हों, इस बात का निर्णय वे नहीं कर पा रहे हों, वहां साहित्य में जोर नहीं रहता और साहित्यकार उद्दाम प्रेरणाओं के अभाव में भाव को छोड़ कर सारा ध्यान शैली पर केन्द्रित करने लगता है, जीवन को प्रेरित और आन्दोलित करने वाली भावनाओं में कमी होने से केवल शैलीकार और पच्चीकार बन जाता है।

यही वह बाधा है जिसका मैं जिक्र करना चाहता था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व भारत के सामने जो ध्येय था वह स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ समाप्त हो गया। उसके बाद भारत को जिधर जाना है, वह रास्ता जनता और साहित्यकार को दिखाई नहीं पड़ रहा है और जिन्हें इस रास्ते का ज्ञान है उनका स्वर अनेक कारणों से अभी मन्द है। परिणाम यह हुआ है कि आदर्श के धरातल पर हम "न ययौ न तस्थौ" की स्थिति में ग्रस्त हो गए हैं। जिस ओर को हमें चलना चाहिए उधर हमारे कदम नही उठते और जिस राह पर हम चल रहे हैं, वह हमें पसन्द नहीं है। संशय का महाजाल सारे देश के मन पर छाया हुआ है। दुविधा के मारे हमारा व्यक्तित्व विभक्त हो गया है। जनता जिन्हें गाली देती है उन्हें ही अपना वोट भी देती है और साहित्य के भीतर जो विद्रोह के स्वर पहुँचते हैं उन्हें साहित्य दबाकर पीता जा

रहा है। यह संशय की विषम स्थिति है और कहावत प्रसिद्ध है कि 'संशयात्मा विनश्यति।'

देश को संशय के इस कुहासे से कौन निकालेगा? कौन है जो इस मिहिका को भेद कर नए आदर्श के दर्शन सारे देश को करा सके? जातियों के आदर्शों की रचना संत और कलाकार करते हैं। राजनीति उन आदर्शों को मूर्त्तिमान करने का यंत्र मात्र है, वह आदर्शों की रचना नहीं कर सकती। जहाँ भी आदर्श-रचना का कार्य राजनीति के हवाले किया जाता है, वह देश ऊंचा नहीं उठता। उसके लोग मात्र उपयोगी के उपासक बन जाते हैं और उपयोगिता की दृष्टि से वे अपने कदम बराबर बदलते रहते हैं।

कर्म का महत्व तो है ही, किन्तु, उसके साथ-साथ अथवा उस से पूर्व चिन्तन का बड़ा भारी महत्व है। जातियाँ जैसे दर्शन में विश्वास करती हैं, उनका साहित्य ही नहीं, बल्कि, उनके सारे कर्त्तव्य वैसे ही हो जाते हैं और जब दर्शन साफ तथा आदर्श सुस्पष्ट होते हैं तब जातियों की प्रगति बहुत तेज हो जाती है।

इसके विपरीत, जब जाति के सम्मुख कई प्रकार के दर्शन और लक्ष्य उतराते होते हैं और वह उनमें से किसी एक को कस कर नहीं पकड़ पाती, तब उसके पाँव डगमग होने लगते हैं और उसकी प्रगति बहुत ही मद्धिम हो जाती है, मानो, आग केवल धुवाँ दे रही हो।

पहली स्थापना का उदाहरण स्वाधीनता के ठीक पूर्व का भारतवर्ष था और दूसरी स्थापना का उदाहरण वह देश है जिसमें हम आज जी रहे हैं।

बल ने दुनिया से कहा—"तू मेरी है।"

दुनिया ने उसे अपने राज्य का बन्दी बनाकर रख लिया!

प्रेम ने दुनिया से कहा—"मैं तेरा हूं।"

दुनिया ने उसे अपने घर की स्वतन्त्रता सौंप दी!

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अतएव यह आवश्यक है कि हम उस लक्ष्य को पहचानें जिसकी ओर चलने को नवीन भारत का जन्म हुआ है, हम उस आदर्श को सुस्पष्ट करें जिसे इतिहास ने हमारे लिए पहले से ही निश्चित कर रखा है।

पहले से ही निश्चित आदर्श! हाँ, भारत को जिस आदर्श के लिए संघर्ष करना है, उसकी रचना आज के लेखकों और कवियों, सन्तों और नेताओं की इन्तजारी में रुकी हुई नहीं है। वह आदर्श हम से बहुत पहले निर्धारित हो चुका है; उसकी मूर्त्ति गाँधीजी से भी पूर्व, राममोहन और विवेकानन्द गढ़ चुके थे। गाँधी जी ने उस मूर्ति में केवल प्राणप्रतिष्ठा की; अरविन्द ने उसके भीतर अतिमानसी मानस का संचार किया; रवीन्द्र ने उसकी कविता लिखी और राधाकृष्णन उसका संदेश सारे विश्व में फैला रहे हैं।

*विचित्र बात है कि जिस आदर्श की सुरभि सारे विश्व में फैल रही है, उसका सबसे कम ज्ञान यदि किसी को है, तो उस मृग को जिसके नाभिकुंड में इस सौरभ का उत्स बसता है। जिस सुधा-शिखा की ओर*

सारा संसार उत्सुकता से देख रहा है, उस का सबसे कम परिचय किसी को है, तो उस दीपक को जिसका मस्तक फोड़ कर यह शिखा बाहर आई है। यूरोप में भारत का प्रचार करने की अपेक्षा यह कहीं आवश्यक कार्य है कि हम भारतवासियों को भारत का मर्म समझाएं। भारतवासी अपने आप को नहीं पहचानते। कितने आश्चर्य की बात है कि जब पश्चिमी जगत् के लोग यह सोचने लगे हों कि मानवता की जिस समस्या का समाधान यूरोप में नहीं मिला, उसका हल, शायद भारत में मिल सकता है, तब भारतवासी यूरोप का अन्धानुकरण करने को आतुर हो उठें।

यूरोप बननें की कोशिश बहुत ठीक है, क्योंकि यूरोप सभ्यता के शिखर पर पहुंचा हुआ है। यूरोप में वैज्ञानिकता है, समृद्धि है, जीवन की उद्दामता और स्वास्थ्य का अप्रतिम तेज है। उसकी कविता भी उच्छल और विचार बड़े बलवान् हैं। यूरोप का अनुकरण तो हमें करना ही चाहिए, किन्तु हम उस यूरोप का अनुकरण करेंगे जो सन् १९५६ ई० का यूरोप है, उस यूरोप का नहीं जो उन्नीसवीं सदी का यूरोप था, बल्कि, उस यूरोप का भी नहीं जो रूसी प्रयोग के आरंम्भिक दिनों का यूरोप था।

यह मैं इसलिए कहता हूं कि आज के यूरोप को ग्रहण करने से हम उसका विज्ञान ही नहीं, बल्कि विज्ञान के विरुद्ध उठने वाली शंकाएं भी लेंगे, आज के यूरोप को ग्रहण करने में हम उसकी आधिभौतिक समृद्धियां ही नहीं, प्रत्युत, यह निराशा भी लेंगे कि भौतिक समृद्धियों से मनुष्य को पूरा संतोष नहीं मिलता। एक और तृषा है जो मनुष्य के समृद्ध हो जाने पर भी अतृप्त रह जाती है। भूखे मनुष्य के सामने रोटी के बदले दर्शन और कविता परोसना निर्दयता का कार्य है, किन्तु यह भी सत्य है कि रोटी खा लेने के बाद मनुष्य कला और विचार खोजता है, मिट्टी से छूट कर वायु में विचरण करना चाहता है।

रूस में जब साम्यवादी प्रयोग आरम्भ हुए थे, तब समस्त विश्व के चिंतकों को यह आशा हो चली थी कि मनुष्य की सारी समस्याओं का समाधान, शायद मिल गया, किन्तु प्रयोग ज्यों-ज्यों आगे बढ़े, चिन्तकों की आशा दिनों-दिन क्षीण होती गई और आज तो यह स्थिति आ गई है कि विश्व का चिंतन साम्यवादी प्रयोगों की असफलता पर अपना मस्तक धुन रहा है। रोटी मिली यह बहुत अच्छी बात हुई, किन्तु मन बंध गया, यह मानवता के लिए बुरा हुआ। शिक्षा तो रूसी प्रयोगों से भी लेनी है और रूस ने मानवता के रथ को जो अप्रतिम प्रगति दी है, उस प्रगति से भी हमें पूरा लाभ उठाना है, किन्तु इतना ही यथेष्ट नहीं है। अपने प्रयोगों में हमें उस निराशा का भी समाधान खोजना है जो रूस के प्रयोग के विरुद्ध उत्पन्न हुई है। हम समस्त विश्व के साथ वहां खड़ा होना चाहते हैं जहां वह आज है, वहां नहीं जहां वह कल था।

फिर यूरोप से हम केवल लेना ही नहीं चाहते, बदले में उसे कुछ देना भी चाहते हैं। यूरोप को हम क्या दे सकते हैं? मोटर, महल, जहाज़ और हथियार, ये हमारे पास नहीं हैं और हम चाहें भी तो ये चीज़ें यूरोप को देने की स्थिति में कभी नहीं आएंगे, न यूरोप को ये वस्तुएं हमसे लेने की कभी आवश्यकता होगी, किन्तु फिर भी, एक चीज़ है जो हमारे पास है और उस की आवश्यकता यूरोप

को महसूस भी हो रही है।

वह चीज है व्यक्तियों और वस्तुओं को देखने की वह दृष्टि जिसे आध्यात्मिक कहते हैं। यूरोप और अमेरिका में आध्यात्मिकता नहीं है, यह कहना ग़लत होगा। थूरो, एमर्सन, रस्किन, ईलियट, रोम्यां रोलां और टालस्टाय एशिया में नहीं जन्मे थे, किन्तु जहां वे जन्मे वहां का जीवन उन्हें अपने भीतर पचा नहीं सका।

पश्चिम के पास दर्शन है, पर जीवन-दर्शन नहीं है। वहां दर्शन के आचार्य होते हैं, दार्शनिक नहीं होते। यूरोप और अमेरिका में जितनी फिलासफी लिखी गई है, उतनी तो समग्र एशिया में भी तैयार नहीं हुई थी। फिर भी यह फिलासफी दिमाग में अटकी हुई है। वास्तविक जीवन में पश्चिम वालों को जब दर्शन की आवश्यकता होती है तब उनका कोई भी दर्शन उनके काम नहीं आता और केवल उपयोग को सामने रख कर परिस्थितियां उन्हें जिधर ढकेल देती हैं, उधर को वे चले जाते हैं।

प्रश्न यहां वादों का नहीं, प्रत्युत् मनुष्य के सामूहिक विकास का है। प्रश्न विज्ञान के त्याग का नहीं प्रत्युत् यह है कि विज्ञान ने हमारे हाथों में जो सिद्धियां रखी हैं वे यथेष्ट हैं या मनुष्य को अभी और आगे बढ़ना है और यदि और आगे बढ़ना है तो किस दिशा की ओर? किन ध्येयों को प्राप्त करने के लिए? किन शक्तियों का विकास करने के लिए? विज्ञान अधिक-से-अधिक तीन सौ वर्षों की चीज़ है, किन्तु पिछले तीन हजार वर्षों में मनुष्य ने और भी बहुत-सा ज्ञान अर्जित किया है। चिन्तकों के सामने समस्या यह उठी है कि इन दोनों ज्ञानों का समन्वय कैसे किया जाय?

कौन वह मार्ग है जिससे सूक्ष्म और स्थूल मनुष्य के व्यक्तित्व का परस्पर एक-दूसरे में विलयन किया जा सकता है? कौन वह साधन है जिससे बुद्धि और हृदय के बीच सामंजस्य बिठाया जा सकता है? कौन वह मंत्र है जिससे यंत्र और अध्यात्म एक दूसरे के पूरक बनाए जा सकते हैं? विज्ञान यह अनुसन्धान करता है कि मनुष्य का हृदय उसकी छाती में बाईं ओर स्थित है या दाहिनी ओर। अभिनव चिंतक यह पता लगाना चाहते हैं कि असल में हृदय को होना कहां चाहिए। विज्ञान हमारे हाथों में केवल शक्ति देता है, किन्तु इस शक्ति का उपयोग हम किन उद्देश्यों के लिए करें, इसका समाधान वह नहीं दे सकता, क्योंकि यह उसके क्षेत्र के बाहर की बात है। यह समाधान हमें देना है, कवियों, लेखकों, चिंतकों, कलाकारों और सन्तों को देना है।

भारत के कवियों और लेखकों का कर्त्तव्य है कि वे इस कार्य में अपने हाथ बटायें। यह किसी एक देश या क्षेत्र की जनता की सेवा नहीं, प्रत्युत् विश्व की समग्र मानवता के उद्धार का कार्य है। यह चिंतन मनुष्य को वर्तमान स्थिति से ऊपर उठाने के लिए है। यह तपस्या मनुष्य के सामूहिक विकास के निमित्त है। यह ठीक वही कार्य है जिसके लिए भारत सहस्राब्दियों से तैयार होता आया है।

जब विश्व के चिंतकों के सामने यह समस्या प्रत्यक्ष हुई, भारत ठीक उसी समय अहिंसा द्वारा स्वाधीन हुआ, इसे भी विधि का ही विधान समझना चाहिए। यही कारण है कि समस्त विश्व

के सूक्ष्म चिंतक हमारी ओर आशा से देख रहे हैं। स्वतन्त्र भारत स्वतंत्र राष्ट्रों की सभा में चन्दन के रथ पर चढ़ कर आया है। जब स्वाधीनता के लिए सारे संसार में रक्तपात की क्रिया अनिवार्य समझी जाती थी, तब भारत अहिंसा से स्वाधीन हुआ और जिन सामाजिक कार्यों के लिए संसार में बन्दूकों और मशीनगनों के प्रयोग की परम्परा मौजूद है, वे कार्य भी यहां समझौते और सद्भाव से होते जा रहे हैं। जब तक ये कार्य नहीं हुए थे, लोग उन्हें असम्भव मानते थे, किन्तु आज वे संभव माने जाने लगे हैं। चिन्तक यह मानकर नहीं चलता कि चूंकि अमुक काम पहले कभी नहीं हुआ, इसलिए वह आगे भी नहीं हो सकता। इतिहास अपने को दुहराता है, यह तो आंशिक सत्य है। वास्तविक सत्य तो यह है कि इतिहास इसलिए इतिहास है कि उसमें मनुष्य की नित्य-नूतन विजयों का आख्यान लिखा जाता है। जो भी व्यक्ति या समाज कोई ऐतिहासिक कार्य करने को अवतरित होता है, उसके सामने भयानक कठिनाइयां आती हैं, उसका मिशन अत्यन्त असम्भव प्रतीत होता है, किन्तु असम्भव कल्पनाओं से जूझने में ही मनीषा के सारे चमत्कार खुलते हैं, असम्भव कल्पनाओं से संघर्ष करने वाला चिंतक ही मनुष्य का सच्चा नेता होता है।

विज्ञान और बुद्धिवाद की विजय की कहानी पुरानी पड़ चुकी। संसार उन्हें भली-भांति अंगीकार कर चुका है। विज्ञान और बुद्धिवाद, ये विश्व की नवीनतम चिंताधारा के विषय नहीं हैं। विश्व की नवीनतम चिंताधारा तो वह है जो विज्ञान से निकली हुई निराशा का निराकरण खोज रही है, बुद्धि की सीमाओं से टकरा कर कोई नई राह ढूंढ रही है, जिससे उस सत्य का साक्षात्कार किया जा सके जो विज्ञान की छड़ी से छुआ नहीं जा सकता और बुद्धि जिस की थाह पाने में असमर्थ है।

विज्ञान और बुद्धिवाद के यान पर चढ़ कर विश्व विजय को निकला हुआ मनुष्य अग-जग को छानकर, अन्त में अपने घर वापस आ रहा है। जिनकी आंखों में दूर तक देखने की ज्योति है, वे इस सूक्ष्म दृश्य को सुस्पष्टता से देख रहे हैं और उन्हीं के हृदयों में इस विलक्षण विजेता के स्वागत की तैयारी भी चल रही है, किन्तु यह विजेता और कुछ होने से पहले भारतीय होगा क्योंकि जिन सपनों को वह आकार देने वाला है वे स्वप्न सबसे अधिक भारतवर्ष के हृदय में पलते आये हैं।

इसलिए उचित है कि भारतवर्ष के कवि, चिंतक और कलाकार उसके स्वागत में अपने सपने बिछा दें, उसके मार्ग को निष्कंटक बनाने के प्रयास में अपनी आयु समाप्त कर दें। वर्षों और मासों की गिनती तो उनके लिए है, जो छोटे धरातल पर काम करते हैं। चिंतकों और कवियों के वर्ष शताब्दियोंमें गिने जाते हैं।

इसकी भी क्या चिंता कि स्थूल मनुष्य की ओर से पीटे जाने वाले भीषण पटह के विकराल रोर में हमारी पतली आवाज डूब जाती है? हमें इस विश्वास के साथ आगे बढ़ते जाना है कि यही पतली आवाज़ दुनिया की अमर आशा की आवाज़ है और यही पतली आवाज़ एक दिन सारे विश्व की आवाज बनेगी जबकि प्रत्येक स्थूल मनुष्य पटह फेंक कर कोई मुरली उठा लेगा।

एक हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक हैं। विद्वान्, मिलनसार, सहृदय, भावुक और उदार, लेकिन उनमें एक दुर्बलता है, वस्तुओं के प्रति लापरवाही। उन की औरों की वस्तुओं के प्रति ही नहीं, अपनी वस्तुओं के प्रति भी। उनकी इस लापरवाही के मूल में है उन की स्मृति की निर्बलता।

एक दिन स्कूल के साहित्यिक कार्यक्रम में देर हो जाने के कारण जब मैं शीघ्रता में वहां से चलने लगा और अपना छाता खोजा, तो वह गायब था। पूछने पर पता चला कि प्रधानाध्यापक
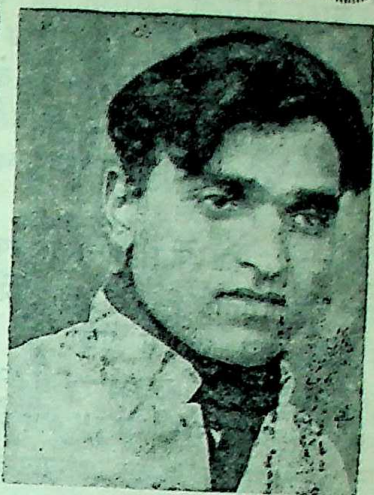
# जब मेरा छाता खो गया!

श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा 'मुकुर'

महोदय किसी आवश्यक कार्यवश बाहर जा रहे थे, अपना छाता घर से नहीं लाए थे, इसलिए मेरा छाता लेते चले गए।

मेरा माथा ठनका। अब क्या करूं? किसी ने कहा कि वे जहां गए हैं, वहां किसी को भेज दूं और वहां से छाता मंगा लूं। मन ने उत्तर दिया—ऐसा करना हीन मनोवृत्ति का परिचायक होगा। इसलिए सोचा कि वे जब वापस आ जाएंगे, तब छाता लेकर ही चलूंगा, लेकिन मुझे भी शीघ्र ही बाहर जाना था। चपरासी से कह दिया कि वे जब आ जाएं तो मेरा छाता रख लेना या मुझे भिजवा देना। यह शनिवार की बात थी।

रविवार की शाम को जब उस स्कूल के एक और अध्यापक मिले, तो पूछा कि क्या प्रधानाध्यापक महोदय ने स्कूल में या आपके कमरे में कोई छाता रक्खा है, तो उन्होंने उत्तर दिया—"प्रधानाध्यापक महोदय जब बाहर से आए, तो उनके हाथ में एक छाता अवश्य था, लेकिन उन्होंने कहा कि यह छाता किस का है, मैं नहीं जानता। वे उसे मेरे कमरे में रखना चाहते थे लेकिन, जाते समय लेते ही चले गए।"

जब मैंने उन्हें कहा कि वह छाता मेरा था, तो उन्होंने राय दी कि मैं किसी को भेज कर प्रधानाध्यापक महोदय के

घर से छाता मंगा लूं, लेकिन यहां भी ऐसा करना मैंने उचित नहीं समझा। सोचा, जब वे घर लेते चले गए हैं, तो कल स्कूल भी लेते आएंगे और लेते नहीं आएंगे तो किसी को भेज कर उनके घर से गा लूंगा।

सोमवार को जब प्रधानाध्यापक महोदय मेरा छाता स्कूल नहीं लाए और मैंने जब उसके बारे में पूछा, तो वे बहुत अचकचाए और कहा—"मैं आप का छाता कहां ले गया था?" जब मैंने उन्हें बतलाया कि अमुक अध्यापक ने परसों आप को मेरा छाता उठा कर दिया था, तो वे सर खुजलाते हुए बोले—"हां, मैं किसी का छाता परसों अवश्य ले गया था और यहां जब आया, पूछ-ताछ की कि यह छाता किसका है, तो मुझे कुछ पता नहीं चला। मैं उसे लिए हुए घर जा रहा था कि रास्ते में ही एक सज्जन मिले। उन्होंने छाते की ओर इशारा करते हुए कहा—क्या यह आप का छाता है? मैंने कहा—नहीं, क्या यह आपका छाता है? उन्होंने सिर हिलाया और मैंने उन्हें छाता दे दिया।

इसके बाद उन्होंने अपनी स्मृति के तारों को सहलाते हुए कहा—"हां मैं जहां गया था, वहां से जब कुछ दूर आया, तो वहां से एक व्यक्ति एक छाता लिए हुए आया था कि मास्टर साहब, आप अपना छाता भूल गए। मैंने उसे कह दिया था कि मैं अपना छाता नहीं भूला हूँ। कृपया आप वहां पूछताछ करवाइए तो वह मिल जाएगा।"

मैंने वहां पूछताछ करवायी, खोजा भी और स्वयं भी वहां गया, किन्तु न तो मुझे छाते का पता चला और न यही कि जाते समय कौन व्यक्ति मास्टर साहब को छाता देने गया था।

इस घटना से सम्बन्धित मेरे मन में कई विचार-तरंगें उठीं, जिन में मुझे तीन जीवन-सूत्र मिले—

१—बिना मांगे किसीकी वस्तु का उपयोग करना नागरिक जीवन की अस्वस्थ मनोवृत्ति है।

२—बिना मांगे किसी की वस्तु का उपयोग करना और उसे खो देना नागरिक जीवन की अस्वस्थतर मनोवृत्ति है।

३—बिना मांगे किसी की वस्तु का उपयोग करना, उसे खो देना और उसे खोजने-ढूंढ़ने या नई लाकर लौटाने का भार स्वयं न लेना नागरिक जीवन की अपराधी मनोवृत्ति है।

यहां यह भी स्वीकारना होगा कि जहां हम अपना अधिकार समझते हैं, वहां बिना मांगे भी किसी की वस्तु का उपयोग कर सकते हैं, लेकिन विचारणीय यह है जहां आपका इतना अधिकार है, क्या वहां आपका कुछ कर्त्तव्य नहीं है?

मुझे याद आ गया किसी मित्र से सुना एक संस्मरण। १९४७ में श्रद्धेय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन बहुत बीमार थे। चारपाई से वे उठ भी नहीं सकते थे। कोई सज्जन उनको देखने आए और अपना फाउण्टेनपेन उन्हीं के पास भूल गए। कई दिनों तक वह उनके पास ही रखा रहा। एक दिन टण्डन जी के प्राइवेट सेक्रेट्री उनके पास एक आवश्यक पत्र लिखाने गए। संयोगवश सेक्रेटरी की कलम में स्याही नहीं थी। उन्होंने टण्डन जी के पास रक्खी हुई लावारिस कलम उठायी और पत्र लिखने लगे, परन्तु अभी एक-दो शब्द ही लिखे थे कि टण्डन जी की दृष्टि उस ओर गई।

# डण्डा

श्री वाचस्पति

गले में मालवीयाना साफा, चौधराना बोलचाल और बुजुर्गाना व्यवहार, यह हैं श्री वाचस्पति जी। लगता है—अधिक से अधिक किसी देहाती स्कूल के प्रधानाध्यापक, पर हैं जुडीशियल मैजिस्ट्रेट—पी.सी.एस.।

हर मैजिस्ट्रेट लेखक होता है—मुकदमों के फैसलों का लेखक, जिसके लेख-फैसले फाइलों में बन्द रहते हैं, पर वाचस्पति जी लेखक हैं, जिनके लेखों में युग का दर्शन पर लगाकर उड़ा करता है आसमानी उड़ानें।

उनकी दृष्टि पैनी है, अभिव्यक्ति सरल। उनमें व्यंग है, जो तंग नहीं करता; बस गुदगुदा देता है कि फाँस-सा करके तो, पर आलपीन सा चुभे नहीं।

डण्डा मनुष्य का बड़ा पुराना साथी है।

मनुष्य का इतिहास जितना पुराना है, डन्डे का भी शायद उतना ही पुराना है।

मनुष्य ने जब से होश सम्भाला, डण्डा उस का तभी से साथी है और अब भी वह मनुष्य का साथ छोड़ने को तैयार नहीं है।

डण्डा मनुष्य का सब से पहिला हथियार है।

अतीत काल में जब मनुष्य जंगलों में रहता था और शेर, चीते, भालू, भेड़िए और सांप आदि उस को चारों ओर से घेरे रहते थे, डण्डा ही उस की मदद करता था और उन से उसे बचाता था।

डण्डे ही के बल पर मनुष्य ने बड़े-बड़े पशु अपने बस में कर लिए। बहुतेरों को पालतू बना लिया। गाय-भैंस उस को दूध देने लगी, घोड़ा सवारी देने लगा, बैल हल चलाने लगा, ऊंट, गधा उस का बोझ उठा कर चलने लगे।

शेर चीते जैसे हिंसक पशु डण्डे की मार से सर्कस में नाच नाचने लगे और हाथी जैसा भीमकाय पशु बिना नकेल, उंगली के इशारे पर चलने लगा।

पूछा—"क्या यह तुम्हारी कलम है ? कई दिनों से यहीं पड़ी है।"

"जी नहीं, यह मेरी कलम नहीं है। मेरी कलम में स्याही नहीं थी, इसीलिए मैंने इस से लिखना शुरू किया······।"

इतना सुनना था कि टण्डन जी ने अपने सेक्रेटरी को आड़े हाथों लेना शुरू किया और कहा—"यह किसी की थाती है, इसलिए जब तक इसका अधिकारी न आए, तब तक हमें उस की हिफाज़त करनी चाहिए। यह क्या कि आप इसे खराब करने लगे!"

इस संस्मरण का फलितार्थ सचमुच हमारे राष्ट्रीय जीवन की थाती है। दूसरे की चीज़ आप मांग कर लें, अपना अधिकार समझ कर लें या भूल से वह आप के पास रह जाए, आप पर नागरिकता का तकाज़ा है कि आप उसे थाती की तरह संजोकर रक्खें।

यह सब डंडे ही के बल पर तो हुआ !

कहते हैं डण्डे की मार से भूत भी भागता है—रीछ भी नाचता है।

जानवर ही क्या, डण्डे के बल से मनुष्य ने मनुष्य पर शासन किया।

डण्डे ने जब जानवरों से छुट्टी पाई तो मनुष्य उस का प्रयोग आपस ही में करने लगा।

लड़ाई में जिस का डण्डा शक्तिशाली होता था, वह हारने वालों को पकड़ कर दास बनाता था। इतिहास इस का साक्षी है कि हारी हुई जाति के पुरुष-स्त्री-बच्चे पकड़ कर बाज़ार-बाज़ार बेचे जाते थे।

नादिर शाह हमारे देश से न मालूम कितनी स्त्रियां पकड़ कर ले गया और उन्हें अपने देश में जगह-जगह बिकवाया। वे भारतीय ललनाएं दूसरे देश में बिकी थी केवल डण्डे के जोर से। हम सब कायर यहीं बैठे रहे केवल डण्डे के डर से।

गुलामी की प्रथा डण्डे की ही करामात है।

अभी पिछले दिनों ही की तो बात है। अफ्रीका से हब्शियों को पकड़ पकड़ कर अमरीका के गोरों को बेच दिया जाता था। वहां उन से जानवरों की तरह काम लिया जाता था। डण्डे की मार खाते खाते वे काले गुलाम कभी कभी बेहोश हो कर गिर जाते थे, मर जाते थे, फेंक दिए जाते थे।

डण्डे में बड़ा बल है ! कहावत नहीं सुनी—'जिस का डण्डा उस की भैंस।'

मनुष्य को डण्डे की जब आदत पड़ गई तो उस ने उस का प्रयोग अपने प्रियजनों पर भी करना आरम्भ कर दिया।

पुरुष स्त्री से बहुत प्यार करता है। उसके लिए क्या क्या वह नहीं करता। पहाड़ लांघ जाता है, समुद्र पार कर जाता है। उसके लिए बड़ी बड़ी लड़ाइयां लड़ जाता है, परन्तु डण्डे का प्रयोग करने से उस पर भी नहीं चूकता। डण्डे ही के कारण घर-घर में स्त्री कैद में पड़ी मिलेगी।

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने
रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति

ढोल गंवार शूद्र पशु नारी
ये सब ताड़न के अधिकारी

और बहुत से लोगों ने तो स्त्री को मुंह खोल कर चलने की भी आज्ञा नहीं दी। बुर्का पहिनों, तो घर की चहार दीवारी से निकलो।

यूरोप में महारानी विक्टोरिया के समय तक यह वातावरण था कि "वूमेन आर मैन्ट टु बी ह्विप्ड एण्ड स्टिक्ड" अर्थात् स्त्री कोड़े और डण्डे खाने के ही लिए है।

पिता पुत्र को कितना प्यार करता है इस का सहज उदाहरण बाबर और हुमायूं की ऐतिहासिक कथा से स्पष्ट है, परन्तु डण्डे का प्रयोग पुत्रों पर भी खूब किया जाता रहा है।

लालयेत् पंच वर्षाणि
दस वर्षाणि ताडयेत्

दस वर्ष तक पुत्र की डण्डे से खबर लेने की आज्ञा तो यहां भी दे दी गई। पुराने समय में तो पिता पुत्र को मार डालने तक का अधिकार रखते थे और गुरू तो शिष्य पर डण्डे का प्रयोग खूब ही करते थे।

अंग्रेजी कहावत है "स्पेयर दि रॉड एण्ड स्पायल दि चाइल्ड" डन्डे को अलग रख दो और बच्चे को बिगाड़ लो।

और राजा, नवाब, जमींदार किस प्रकार शासन करते थे? केवल डन्डे के जोर से!

पुराने युग में कभी आपने किसान को बेगार देते और पिटते नहीं देखा? नहीं देखा, तो सुना तो होगा?

आज गांव के किसान बेगार में पकड़ कर आए हैं। जमीदार साहब की पालकी उठा कर ले चलेंगे। उन पर गालियां भी पड़ेंगी और डन्डे की मार भी।

आज जमीदार साहब के यहां शादी है। गांव वाले बेगार में भूसा, लकड़ी, दूध आदि ले कर आ रहे हैं। उन से कोई यह पूछने वाला नहीं कि लो थोड़ा पानी भी पी लो। गालियों की बौछार करने वाले मौजूद हैं—क्यों बे इतनी देर में दूध लेकर आया है? ओ बे बुड्ढ के बच्चे! पत्तल लाने का यह वक्त है? और अगर किसी ने कुछ जवाब दिया, तो डन्डा बजने को तैयार ही रहता था।

और पुलिस का डन्डा?

ओहो! जितने डन्डे हैं, उन सब से सख्त डन्डा तो पुलिस का ही रहा है।

पुलिस के सिपाही को दूर से देखा कि बड़े तो बड़े, बच्चे भी घरों में घुस जाते थे।

भूत से एक बार आदमी बच जाए, परन्तु लाल पगड़ी वाले से बचना कठिन था।

प्लेग का बीमार भी कोई कोई बचते देखा है, परन्तु पुलिस की चपेट से कोई सही सलामत निकल आया हो ऐसा नहीं सुना।

भले आदमियों का तो कहना ही क्या, चोर, डाकू, बदमाश भी पुलिस के डन्डे से थर-थर कांपते देखे गए हैं। कैसा भी नम्बरी बदमाश हो थाने में आ कर भीगी बिल्ली बन जाता देखा गया है। यहां आकर ही उस को पता लगता है कि वह कितना छोटा बदमाश है!

> बन्धुत्व से यह मतलब नहीं है कि जो तुम्हारा बन्धु बने उसके बन्धु बनो। बन्धुत्व केवल मनुष्य मात्र से ही नहीं, बल्कि प्राणी मात्र से होना चाहिए।
>
> हम अपने दुश्मन से भी प्रेम करने के लिए तैयार न होंगे, तो हमारा बन्धुत्व निरा ढोंग है। जिसने बन्धुत्व की भावना को हृदयस्थ कर लिया है, वह यह नहीं कहने देगा कि उसका कोई शत्रु है।
>
> गान्धी जी

डन्डे ही के बल पर अंग्रेजी सरकार यहां राज्य करती थी। जिस महकमे में जाओ, डन्डे का ही बोल बाला नजर आता था।

किसान पर पटवारी का डन्डा।

पटवारी पर कानूनगो का, कानूनगो पर तहसीलदार का, उस पर डिप्टी का और डिप्टी पर कलक्टर का डन्डा खूब चलता था।

जिधर देखो डन्डा, डन्डा और डन्डा!

ज़िन्दगी क्या थी? किसी से पिट लिए और किसी को पीट दिया।

प्यार-मुहब्बत का कोसों तक नाम नहीं था, सम्मान की बात कौन कहे!

—परन्तु समय बदला।

मनुष्य भी बदला और उस के साथ बदले उसके विचार और काम करने के तरीके भी।

ज्यों-ज्यों मनुष्य ने सभ्यता स्वतंत्रता की ओर पैर बढ़ाया, उस के हाथ से डन्डे

का प्रयोग कम और कम होता गया।

उस का स्थान लेता गया प्रेम।

सभ्यता का मापदण्ड ही डन्डे का अप्रयोग तथा प्रेम का प्रयोग होता गया।

बच्चों की शिक्षा ही को लो।

सभ्य देशों में डन्डे का प्रयोग बिल्कुल ही छूट गया। बच्चों को कोई नहीं मारता। उनके पढ़ाने की नई-नई विधियां निकली हैं और निकाली जा रही हैं। कहीं कहीं पर तो उनके पढ़ाने के लिए स्त्री अध्यापिकाएं ही रखी जाती हैं क्योंकि स्त्रियां स्वभाव से ही कोमल प्रकृति की होती हैं। अब बच्चे स्कूलों में जाते हुए डरते नहीं हैं, अपितु खुशी-खुशी वहां चले जाते हैं। उनको वहां डन्डे का डर नहीं है, उन्हें वहां प्रेम मिलता है।

स्त्री के प्रति बर्ताव में भी बड़ा परिवर्तन आया है।

जब मानव ने बर्बरता का जंगल छोड़कर सभ्यता के उपवन में कदम रक्खा था, तभी किसी महा मानव के मुख से निकल पड़ा था—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः

परन्तु बीच में इसे सुना-अन-सुना कर दिया गया।

आज यूरोप अमरीका आदि सभ्य कहे जाने वाले देशों को देखो वे इस वाक्य पर अक्षर-अक्षर अमल करते हैं। स्त्री को डंडे से मारना तो दूर, तू भी नहीं कहते। उसके प्रति आदर दर्शाने को सभा सोसाइटी में आगे रखते हैं। सबसे पहिले बैठने का उसको स्थान देते हैं। उसकी इच्छा का ध्यान पहिले किया जाता है। प्रत्येक शुभ कार्य में वह पुरुष की अग्रणी रहती है।

और पुलिस?

सभ्य कहाने वाले प्रत्येक देश की पुलिस ने अपने हाथों का डन्डा केवल प्रदर्शन कार्य के लिये ही रखा है। उसका प्रयोग तो अब नहीं के बराबर है। इंग्लिस्तान की पुलिस तो इस सम्बन्ध में अनुकरणीय है, शिष्टता की प्रतिमूर्ति है। कोई उनके पास जाता हुआ या अपनी तकलीफ कहता हुआ नहीं डरता। लोग बेधड़क उन से सहायता लेते और सहायता पाते हैं। डन्डे का प्रयोग छोड़कर अपराधियों का पता लगाने की ऐसी-ऐसी विधि निकाली हैं और निकालते जारहे हैं कि स्वयं अपराधी भी विस्मित रह जाते हैं कि उनका पता कैसे लगा लिया गया।

—परन्तु जिनके पास डन्डा होता है वे उसका प्रयोग जल्दी से छोड़ने को तैयार नहीं होते।

हमारे देश के पराधीनता काल में डन्डे का जो प्रयोग हुआ वह जल्दी से छूटता नजर नहीं आता।

बच्चों की शिक्षा ही को लो।

प्रत्येक अध्यापक कुछ को छोड़कर यह ही कहता हुआ मिलेगा कि अब विद्यार्थी निरंकुश न होंगे तो होगा क्या; अब उन्हें डर किसका है। हम क्या कर सकते हैं। पीटना तो पीटना, हम तो किसी विद्यार्थी को तू भी नहीं कह सकते। फिर हम को क्या पड़ी है, कोई पढ़े या न पढ़े। हम तो क्लास में अपना सबक दुहरा कर चले आते हैं। यही कारण है कि आजकल के विद्यार्थी पढ़ने में इतने कमजोर होते हैं कि हाई स्कूल पास मामूली शब्दों के हिज्जे भी ठीक ठीक नहीं लिख सकते। और विद्यार्थियों की उद्दंडता तो कुछ न पूछो। शिष्टाचार तो अब चला ही गया।

उनके सामने से अध्यापक निकल जाएं, वे मुंह फेरकर खड़े हो जाएंगे। प्रणाम करना तो दूर रहा सिगरेट पीते भी सामने नहीं लजाएंगे। इकट्ठे होकर ऊधम मचाना तो नित्य की बात हो गई है। स्कूल के स्टूल डेस्क तोड़ना तो रोज़ मर्राह की बात हो गई है। जब जी चाहा सिनेमा-घर का घेरा डाल लेते हैं। या तो उनको कम टिकट पर तमाशा दिखाओ, वरना वहां आग लगा देंगे। कोई अध्यापक उनको रोकने का साहस कर सकता है? राम का नाम लो। ऐसा करके क्या उसे अपनी कम्बख्ती बुलानी है। पहिला ज़माना था कि विद्यार्थी अध्यापकों से थर थर कांपा करते थे !!

इस सबका कहने का तात्पर्य केवल यही है कि अध्यापक वर्ग अपना डन्डा वापिस चाहते हैं।

और पुलिस की सुनिये।

उस दिन एक थानेदार साहब मिल गए। कहने लगे—"साहब, अब चोरी-डकैती का पता क्या खाक लगाएं; किसी को मारना तो एक तरफ रहा, ज़रा तू कह दो कि इस्तगासा दायर कर देते हैं, अखबार में छपवा देंगे और असेम्बली में सवाल करा देंगे। फिर हमें क्या पड़ी है कि किसी को मारे पीटें। बताइये कोई सीधे मुंह कहे देता है कि हम ने चोरी की या डकैती डाली? पहिले भी तो जुर्मों का पता हम ही लगाते थे। मार-मार कर भुस भरवा दें, उलटा टंगवा दें, आंखों में मिर्च भरवा दे, पिटने से कोई मर जाए, मजाल है, जो हमारा बाल भी बांका हो जाए। जुर्म करने वाले हम से थर थर कांपते थे। कोई वे लोग जुर्म इसलिए थोड़ा ही नहीं करते थे कि पकड़ जाने पर अदालत से सजा होने का डर होता था, बल्कि वे तो हमारे डन्डे से डरते थे। अब हम क्या कर सकते हैं। अफसर लोग अब ऐसे हो गए कि हमारी मदद करना तो दूर रहा, उलटे हमें फंसवाने की फिक्र में रहते हैं। जो अफसर पहिले होते थे, उनके बल-बूते पर हम अमन कायम रखते थे।

तो पुलिस वाले भी अपना डन्डा छोड़ने को तैयार नहीं हैं।

कलक्टर साहब कहते हैं—उनसे अब डिप्टी नहीं डरता। डिप्टी कहते हैं कि तहसीलदार कुछ नहीं सुनता। तहसीलदार कानूनगो और कानूनगो पटवारी को कहते हैं कि बस कुछ न पूछिए क्या ज़माना आ गया, कोई डरता ही नहीं।

गोया डरना बड़ी अच्छी बात है और डरा कर काम कराना कोई बड़ा अच्छा असूल!

ये सब लोग अपना-अपना डन्डा छोड़ने को तैयार नहीं। उदाहरण बहुत-से बढ़ाए जा सकते हैं।

अभी हमारे देश में एक महापुरुष हुआ था। उसने कहा—डन्डे का प्रयोग बिल्कुल छोड़ो, प्रेम से काम लो। उसने इस असूल की पराकाष्ठा ही कर दी और कहा-अपने दुश्मन से भी प्रेम करो।

सुनी तो, पर हमें उसकी बात अच्छी न लगी, हम डन्डा छोड़ने को तैयार न हुए और उस दिन दिल्ली में शाम के वक्त हमने अपने हाथों से उसे मार दिया।

परन्तु हवा का रुख यही है कि चाहो न चाहो, डन्डा तो छोड़ना ही होगा।

★

# आपबीती सुनिए

## श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'
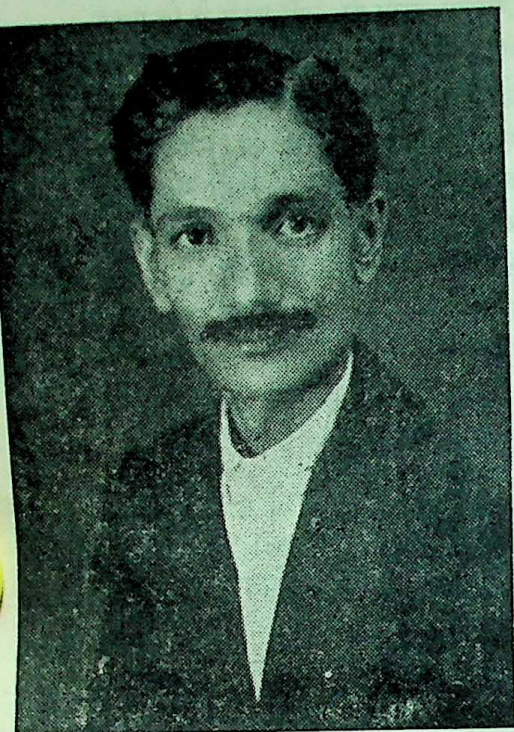
'रमता जोगी और बहता पानी' की उक्ति मेरे पत्रकार-जीवन पर अक्षरशः चरितार्थ होती है। पिछले पच्चीस वर्ष के अपने कर्मठ पत्रकार-जीवन में चार वर्ष से अधिक तो किसी भी पत्र-पत्रिका की सम्पादकीय गद्दी से मैं चिपका नहीं रह सका। पत्रकार की व्यास गद्दी की पवित्रता आज समाप्त हो चुकी है। अन्य नौकरियों की भांति अब पत्रकारिता भी सेवा-भाव से बहुत दूर जा छिटकी है। ऐसी दशा में आधुनिक पत्रकारिता के क्षेत्र में उस व्यक्ति को पग-पग पर विषमताओं का सामना करना ही पड़ेगा, जो आज से पच्चीस वर्ष पूर्व इस क्षेत्र को सार्वजनिक सेवा और साहित्य के अनुष्ठान का जीवन प्रांगण समझकर अपना कर्मक्षेत्र बना चुका था।

तरुणाई की उमंगें उस वेगवती सरिता की भांति होती हैं, जो मार्ग में आने वाली कठोरतम चट्टानों को भी चूर-चूर कर देने की क्षमता रखती है और निरन्तर अग्रसर होती जाती है। मेरे पत्रकार-जीवन का प्रारम्भ भी उन तूफानी घड़ियों में हुआ था, जब हमारा राष्ट्र स्वतन्त्रता की सुनहरी किरणों का दर्शन करने की व्यग्रता से छटपटा रहा था। सन् १६३१ ई० में जब नगर-नगर में प्रबुद्ध नागरिकों द्वारा राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के सत्याग्रह का अनुष्ठान किया जा रहा था और फलस्वरूप तत्कालीन शासकों द्वारा ऐसे नागरिकों की भीड़ पर लाठी प्रहार कर देना और मंच पर आसीन अथवा भाषण देने वाले नेताओं को जेल में बंद कर देना साधारण-सी बात थी, तभी जबलपुर के दैनिक 'लोकमत' के सम्पादकीय विभाग में सहायक संपादक होकर मैं अपने भावी जीवन की सुनहरी कल्पनाओं के ताने-बाने बुनने लगा। उन दिनों आज की भांति टेलीप्रिंटर नहीं थे, अतः रात में बारह-एक बजे तक तार द्वारा प्राप्त संवादों के अनुवाद पर ही दैनिक पत्रों का प्रातः संस्करण निर्भर करता था। रात्रि के उत्तरार्द्ध में कहीं तीन

बजे मैं घर लौटता था। मित्रों और सम्बन्धियों से लेकर परिवार वालों तक सभी को मेरी इस पत्रकारिता से सन्तोष नहीं था। आम तौर पर इन सबका एक ही उपालम्भ होता—एक ही शिकायत होती—"यह भी कोई नौकरी है कि रात-रात भर जागते रहो, रुपये पैसे भी कम से-कम हाथ लगें और इस पर भी नौकरी का कोई भरोसा नहीं, बल्कि जेल जाने का सदा भय!" और मैं था कि सबकी फब्तियाँ सुनकर बस इतना कह दिया करता-'अपनी-अपनी रुचि है।' इस पर मुझे जो कुछ सुनने को मिलता, वह यही कि यह अद्भुत रुचि है !!

और आज अपने कर्मठ पत्रकार जीवन के पच्चीस वर्ष समाप्त कर चुकने पर जब कभी मैं अपनी रुचि पर विचार करता हूँ तो लगता है, सचमुच मेरी यह रुचि अद्भुत रही। इस रुचि ने मुझे जीवन के उन उपादानों से सर्वथा वंचित कर दिया, जो जीवन के उतार में मनुष्य को जीवित रखने के लिए अनिवार्य माने जाते हैं। इन पच्चीस वर्षों में केवल

किन्तु यह स्वीकार करने में मुझे संकोच नहीं कि मेरी साहित्यिक कृतियों से जो प्राप्ति हुई, वही मुझे और मेरे परिवार वालों के लिए संकट-मोचन सिद्ध हुई। बहुधा इन संकटों से त्राण पाने के लिए मुझे अपनी अधिकांश कृतियों के सर्वाधिकार प्रकाशकों को दे देने पड़े। इसलिए आज उतरती अवस्था में मुझे अपनी कृतियों से इतना भी आर्थिक सहारा नहीं मिल रहा है कि कभी आवश्यकता पड़ने पर भी इस ढलते शरीर को कोई विश्राम लेने दूं।

कुछ साहित्यिक बन्धुओं को मेरी पुस्तकों की लम्बी सूची देखकर बड़ा कुतूहल होता है। एक साप्ताहिक पत्र के सहकारी सम्पादक ने तो स्पष्ट शब्दों में अपना यह कुतूहल प्रकट करते हुए मुझे लिखा है: क्या आपको अपने उपन्यासों से भी पर्याप्त आर्थिक प्राप्ति नहीं हो रही है? क्या सभी साहित्यकारों की बुढ़ापे तक यही स्थिति रहती है?

सभी नहीं, तो अधिकांश हिन्दी साहित्यकारों की यही स्थित रहती है,

# रमता जोगी, बहता पानी

पत्रकारिता करने तक ही मेरी गति विधि सीमित नहीं रही। पत्रकारिता से मिलने वाले पैसों पर तो रूखी-सूखी दाल-रोटी ही किसी तरह चल सकी। परिवार के सदस्यों की अन्य आवश्कताओं की पूर्ति तो मेरी उस साहित्यिक तपस्या से हो सकी, जो अवकाश के क्षणों में रात-दिन निरन्तर चलती रही। व्यावसायिक कामना से मैंने कभी कुछ नहीं लिखा,

इसमें तनिक भी सन्देह की गुंजाइश नहीं। जब पत्र-संचालकों द्वारा हिन्दी के पत्रकारों की सुख-सुविधा की रत्ती भर चिन्ता नहीं की जाती, जब प्रकाशकों द्वारा हिन्दी साहित्यकारों को अधिक से अधिक शोषित करने की चेष्टा की जाती है, तब हिन्दी सहित्यकार की स्थिति सन्तोष-प्रद रह कैसे सकती है?

पत्रकारों के लिए अब कानून बनने

लगे हैं, अतः भविष्य में भले ही स्थिति कुछ सुधर जाय, किन्तु अब तक तो हिन्दी-पत्रकारिता का इतिहास बड़ा ही करुण रहा है। मैंने स्वयं जिन उमंगों को लेकर इस क्षेत्र में पदार्पण किया था, वे न जाने कितनी बार कठोर चट्टानों से टकरा कर छिन्न-भिन्न हो, मुझे विचलित कर बैठीं, किन्तु यह विचार कर कि लक्ष्यवेध के पूर्व ही हिम्मत हार बैठना कायरता होगी, मैं बार-बार अपने मार्ग के रोड़ों को हटाता हुआ आगे और आगे ही बढ़ता गया।

केवल छः महीने ही संपादकीय कार्य कर सका था कि 'लोकमत' का प्रकाशन तत्कालीन सरकार द्वारा बन्द कर दिया गय, मैंने कभी कल्पना भी न की थी कि मेरे रंगीन सपने इतने जल्द टूट जाएंगे, किन्तु वास्तविकता का सामना करना ही मानव की बहादुरी है। मैं भी नियति के इस चक्र का सामना करने के लिए कटिबद्ध था।

पहली-पहली नौकरी थी और नई-नई गृहस्थी। लेकिन छः महीने के बाद ही जब पत्र का प्रकाशन ठप्प हो गया, तब जबलपुर के प्रमुख पुस्तक-प्रकाशक मिश्र बन्धु कार्यालय पर मेरी दृष्टि गई। उसके अध्यक्ष स्वर्गीय पं० नर्मदाप्रसाद मिश्र से मैंने भेंट की। मिश्र जी 'श्री-शारदा' के सम्पादक रह चुके थे और स्वयं सहृदय साहित्यकार थे, अतः मुझे उन्होंने तत्काल अपने कार्यालय में नियुक्त कर लिया। पांडुलिपियों का सम्पादन और प्रूफ संशोधन का कार्य मुझे दिया गया। गृहस्थी का छकड़ा खींचने में इस कार्य ने भले ही मुझे कुछ सहारा दिया हो, किन्तु मुझे इससे तनिक भी सन्तोष नहीं था। मैं तो पत्रकारिता करना चाहता था। अतः जबलपुर छोड़ कर छिन्दवाड़ा (मध्यप्रदेश) चला गया और श्री रामेश्वरदयाल वर्मा के सहयोग से 'स्काउट-मित्र' नामक एक छोटा-सा मासिक पत्र प्रकाशित किया। सम्पादक के रूप में मेरा नाम तो छपने लगा, किन्तु इस पत्र का प्रचार केवल कुछ पाठशालाओं तक ही सीमित था, अतः मुझे इससे भी सन्तोष न हुआ और मैं सितम्बर सन् १९३५ में माननीय ब्रिजलाल बियाणी के साप्ताहिक 'नव-राजस्थान' का सहकारी सम्पादक होकर सपरिवार अकोला (बरार) चला गया।

अकोला मुझे बहुत आकर्षक प्रतीत हुआ। श्री ब्रिजलाल बियाणी उस समय कौंसिल आफ स्टेट, दिल्ली के सदस्य थे और राजस्थान अकोला के मैनेजिंग डाइरेक्टर। बरार कांग्रेस कमेटी के भी वे प्रादेशिक अध्यक्ष थे। और भी कितनी ही संस्थाओं में उनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हाथ था। वे बरार-केसरी कहे जाते थे। बरार में राजनीतिक जागृति का शंखनाद उन्होंने ही किया था। बड़ी चहल-पहल रहती, बड़ी व्यस्तता रहती, उनके जीवन में। फिर भी 'नवराजस्थान' का संचालन वे बड़ी लगन और तपस्या से किया करते थे।

मैंने अपने पच्चीस वर्ष व्यापी दीर्घ पत्रकार जीवन में श्री ब्रिजलाल बियाणी को ही एक ऐसा पत्र-संचालक पाया, जिसकी सहृदयता और उदारता की छाप सदा के लिए मेरे मानस पटल पर अंकित हो गई। उन्हें मैं कभी भूल नहीं सकता, उनकी उदारता का चित्र मेरी दृष्टि में कभी भी धूमिल नहीं हो सकता।

पहले-पहल जब मैं सपरिवार अकोला पहुँचा, तो श्री बियाणी जी ने

सिलेण्डर मशीन खरीद कर अपना प्रेस चालू रख सकता, परन्तु ये सब सुविधाएं मेरे लिए आकाश-कुसुम से कम न थीं। मुझे विवश होकर वह साहित्य प्रेस बेच देना पड़ा—मिट्टी के मोल बहा देना पड़ा, जिसकी स्थापना में न केवल मेरा बहुमूल्य समय नष्ट हुआ, प्रत्युत जिस के संचालन में मेरी पसीने की सारी कमाई भी स्वाहा हो चुकी थी।

जब प्रेस बिक गया, तब उदर-पोषण की समस्या पुनः सामने आई। एकमात्र पत्रकारिता का सात-आठ वर्ष का अनुभव मेरे साथ था। उसी के सहारे 'माया' इलाहाबाद के संचालक को एक आवेदन-पत्र भेज बैठा। डूबते को तिनके का सहारा। उन्होंने जो भी थोड़ा बहुत वेतन मुझे देना चाहा, उसी को मैंने स्वीकार कर लिया।

इलाहाबाद आने के पूर्व ही मेरी आर्थिकस्थिति एकदम चिन्त्य हो उठी थी। प्रेस में सर्वस्व झोंक चुका था। उसी समय मेरा ज्येष्ठ पुत्र हरिदयाल मोती झारा से अस्वस्थ हुआ और इस बीमारी में ही ग्रामोफोन खरीदने का हठ पकड़ बैठा। अन्य कोई चारा न देख, हीरादेवी जी की सोने की एक जंजीर बेचकर तत्काल ग्रामोफोन खरीद लाया। अब इलाहाबाद आने के लिए पुनः आर्थिक समस्या सामने आई। पत्नी की एक सोने की जंजीर पहले ही बेच चुका था, अब दूसरी जंजीर मांगने का साहस नहीं होता था, परन्तु परिस्थितियों की विषमता हीरादेवी जी भी भली भांति समझती थीं। उन्होंने स्वयं अपनी दूसरी सोने की जंजीर देकर मुझे इस चिन्ता से मुक्त कर दिया और मैं सपरिवार दिसम्बर १९४१ ई० में इलाहाबाद आ गया, 'माया' का सम्पादन करने लगा।

> लोगों की लगन जानना और उसे प्रकट करना अखबार का पहला काम है। उसका दूसरा काम है लोगों में विशिष्ट और आवश्यक लगन पैदा करना। तीसरा काम है यह कि लोगों में जो दोष हों, उन्हें चाहे जितनी मुसीबत पड़े, तो भी बेधड़क होकर बताना।
>
> समाचार पत्र एक भारी शक्ति है, पर जिस प्रकार एक निरंकुश जलप्रवाह नाश कर देता है, उसी प्रकार निरंकुश पत्रकार की कलम की धार भी सत्यानाश कर देती है।
>
> गान्धी जी

इलाहाबाद आकर मैंने स्वीकार किया कि पत्रकारिता ही मेरे जीवन की संजीवनी है। इसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकता। माना कि इस पत्र-कारिता में मुझे सदा फटे हाल रहना पड़ा, किन्तु धीरे-धीरे अब तक मेरी पत्रकारिता के पच्चीस वर्ष समाप्त हो चुके हैं।

इलाहाबाद आने के पश्चात् मेरे पत्रकार-जीवन का दूसरा महत्वपूर्ण अध्याय प्रारम्भ होता है; ऐसा अध्याय, जो बड़े-बड़े संघर्षों और तूफानों से ओतप्रोत है। ये संस्मरण भी लिपिबद्ध कर रहा हूं। इनमें 'माया' इलाहाबाद 'बिजली' पद्मा (हजारी बाग) और इण्डियन प्रेस इलाहाबाद की पत्रिकाओं, 'मंजरी' तथा 'सरस्वती' के मेरे सम्पाद-कीय संस्मरण रहेंगे।

★

## अपना अपना चश्मा

'जैन-जगत' में प्रकाशित यह दृष्टान्त सचमुच दृष्टि-शोधक है—

दो सिपाही घूमने जारहे थे। दोनों की नजर एक ही साथ–ऊपर की उस ढाल जैसी शिला पर पड़ी।

एक बोला–ओ हो, वह देखो, उस पर कमल का कितना अच्छा चित्र बनाया गया है।

दूसरे सिपाही ने उसे निहारते हुए कहा–"कमल का ? छिः, वह कमल थोड़े ही है–? वह तो तलवार है।

पहला बोल उठा, "नहीं जी–वह कमल साफ तो दीख रहा है–वह देखो, वह डंठल और पत्र।"

दूसरा झल्ला उठा—"अरे अन्धे तो नहीं हो गए–वह तलवार, उसकी वह म्यान और नोक–साफ नहीं दीखती ?"

पहला गुस्से से बोला–अन्धे तुम हो।

इसी तरह गाली-गलौज होने लगी, जब गुस्सा इतने पर भी न रुका तो दोनों ने अपनी-अपनी म्यान से तलवार खींच ली और लगे वहीं लड़ने। नतीजा यह हुआ कि दोनों ही ज़ख्मी हो गए और दोनों ही उस दरवाजे की देहली पर आर-पार लुढ़क पड़े। जब वे इस हाल में थे तब उन दोनों की नज़र उस शिला की दूसरी बाजू की ओर गई तो उन्होंने देखा कि वे दोनों ही सही थे क्योंकि उसके एक तरफ कमल था और दूसरी तरफ तलवार। दोनों ही पछताए कि पहले ही वे दूसरी बाजू देख लेते तो इतनी खून-खराबी क्यों होती ? लेकिन यह अक्ल उन्हें देर से आई।

# अपने पढ़ने के कमरे में

## उत्सर्ग

'जैन-जगत' में प्रकाशित श्री महेन्द्र कुमार की यह कथा मर्मस्पर्शी है—

युवकरत्न नेमिकुमार की बरात का जुलूस ठाठबाट से निकल रहा था। दूल्हा नेमिकुमार अपनी जीवनसंगिनी राजुल के सुखस्वप्नों की ऊर्मियों में लहरा रहे थे कि पशुओंकी करुण चीत्कार ने उनके स्वप्न को भंग कर दिया। सारथी से पूछा– यह चीत्कार कैसी ? सारथी ने सच्ची बात कह दी–"कुमार, यह उन निरीह पशुओं की आखिरी चीत्कार है, जिनका वध आपके विवाह में आए हुए म्लेच्छ राजाओं के भोज के लिए किया जायगा।"

कुमार के मुंह से 'आह' निकल गई। वे बोले–सारथी, रथ रोक दो।

दूसरे ही क्षण बरातियों ने देखा–नेमिकुमार अपने हाथों से पशुओं के बन्धन खोल रहे हैं।

कुमार ने न केवल पशुओं के बन्धन ही खोले, किन्तु अपने हाथ का कंगन भी खोल डाला।

और आश्चर्यचकित बरातियों ने सुना कि कुमार बाहर-भीतर की सब गाँठें खोल परम निर्ग्रन्थ हो गए। भोग से योग की ओर मुड़ गए।

और देखा कि राजुल भी दुलहिन का शृंगार उतार शुभ्रवस्त्र पहिन गिरनार पर्वत पर चढ़ रही है–जीवन का चरम फल पाने के लिए !

## मैं समझ गया !

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी जी आत्मकथा का यह अंश सूक्ष्म होकर भी कितना

गहरा है ?

एक दिन अमीनाबाद पार्क में घूम रहा था।

एकाएक क्या देखता हूँ कि सामने की शीशे की दुकान पर कोई हवा के सर्राटे की तरह आकर अपनी लाठी से तड़ातड़ कुछ तोड़ फोड़ कर उसी तेजी से चला गया। इसके बाद इधर-उधर लूटपाट होने लगी। दूकानें धाँय-धाँय जलने लगीं। मैं चकित होकर सोचने लगा—यह कोई तमाशा है या बलवा !

वह हिन्दू-मुस्लिम दंगे का हंगामा था। तब तक मैंने हिन्दू-मुस्लिम दंगे का नाम भी नहीं सुना था। लोगों को भागते देख कर मैं भी भाग खड़ा हुआ। चौराहे पर पहुँच कर पुलिस से कहा—रक्षा करो। पुलिस ने सूखा जवाब दे दिया।

मैं इधर-उधर आश्रय खोजने लगा, लेकिन जान पड़ता है कि तूफान आने के पहिले ही सजग पक्षी की तरह सब लोग अपने-अपने घरों में छिप गए थे। रास्ते में तीन-चार मसजिदें पड़तीं थीं। मैं अपने ही में गुम सुम आगे बढ़ता चला गया। गणेशगंज पहुँच कर मिश्रबन्धुओं के यहाँ आश्रय लिया।

लखनऊ की गलियों में जब मैं आत्मरक्षा के लिए भटक रहा था तब हाथ में छुरा, गँडासा, तलवार, कटारी लिए हुए एक-से-एक खूँख्वार मुसलमान कराल काल की तरह दौड़े चले आ रहे थे। मेरा भोलापन देखिये, मैं उन्हीं से कहता था—हिन्दू हूँ, मुसलमान उपद्रव मचा रहे हैं, बताइए किधर जाऊँ ?

किसी ने मेरे ऊपर कोई आघात नहीं किया। सबने प्यार से पुचकार कर मुझे भाग जाने के लिए रास्ता दे दिया। मैं समझ गया कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।

'नवभारत टाइम्स' में प्रकाशित श्री शम्भुनाथ सक्सेना का यह अपराधों पर दृष्टि देता है।

**हबीब !**

बताया गया, यह हबीब बड़ा खतरनाक है। इसे कई बार जेल भेजा गया, लेकिन यह है कि अपने करतबों से बाज़ नहीं आता !

मैंने उसे गौर से देखा। वह मुझे अनिमेष अपनी ओर देखते देख कर हंस पड़ा। मैंने थानेके अधिकारी से पूछा—

"कहां का रहने वाला है !"

बतलाया गया—"लखनऊ के एक तांगे वाले का लड़का है। बाप शरीफ था। अभी दो साल हुए मर गया और यह दो बरस में ही हरफन मौला बन गया। अजी साहब, हजरतगंज और अमीनाबाद में इस के 'गेंग' हैं, जो मारपीट करते हैं, बहानेबाज़ी से राहगीरों का चित्त बंटाते हैं और जेबों पर बड़ी आसानी से नश्तर चला देते हैं। बड़ा चलता हुआ लड़का है। आप इसकी बोटी-बोटी काट डालिए लेकिन क्या मजाल कि उसकी इच्छा के विरुद्ध आप एक शब्द भी कहलवा लें।"

मुझे हबीब के बारे में अधिक जिज्ञासा हुई। पूछा—"पहली दफा यह किस जुर्म में पकड़ा गया था !"

थानेदार ने मुस्कराते हुए कहा—"हजरत इश्क फरमाने गए थे और वहां जाकर लौंडिया के पिता से फसाद कर बैठे। करीमुद्दीन बिसातगिरी का काम करते हैं। उनकी लड़की इसके बाप के ज़माने से तांगे में बैठ कर स्कूल जाती थी। वालिद के बाद आपने तांगा

सम्भाला और अपने करतब दिखाना शुरू किया। लड़की भोली थी। इसकी बातों में आगई। ले उड़े कानपुर।

हतक इज्जती के कारण उन्होंने पुलिस की पकड़ के मामले को दूर रक्खा और मौका ताकते रहे। साहिबजादे एक दिन घर से बाहर गए और मियां करीमउद्दीन लौंडिया को फुसला कर, डरा कर, धमका-कर लखनऊ वापस ! हबीब को जो पता लगा तो खून आंखों पर उतर आया।

उलटे पैरों लखनऊ वापस और करीमउद्दीन से दंगा फसाद पर आमादा! इस तरह वह पहली दफा पुलिस के शिकंजे में कस लिया गया। ठोका-पीटा गया, अपमानित किया गया और बादको मचिलके पर छोड़ दिया गया।"

थानेदार ने इसके बाद अपनी बात पूरी करते हुए कहा—

"और इसके बाद देखिए तो साहिब-जादे कभी जेब काटने के जुर्म में आ रहे हैं—कभी चोरी करने या सेंध लगाने के इल्जाम में चले आ रहे हैं। और अब तो हजरतगंज तथा अमीनाबाद के रौनक भरे बाजारों में इनके कई आगिर्द-शागिर्द, चेले-चपाटी हैं, जो इनके व्यवसाय को नियमित रूप से चलाते हैं। करीमउद्दीन ने इनकी मेहरबानियों से लौंडिया की शादी कर दी और अपना व्यवसाय उठा कर दूर बम्बई का सहारा लिया, क्योंकि साहिबजादे एक दिन जोशे जुनून में उसकी दुकान पर करौली लेकर पहुँचे और चीख भर बोले—"मियां मैं फरहाद या मजनू तो बन न सकूंगा लेकिन तुम्हारा खून कर दूंगा। तुमने मेरी बीवी को भगाया है।"

अनायास यह विचार उठा कि यह नौजवान यदि सही रास्ते पर चलता तो समाज में अपना स्थान बना सकता था। परिश्रम में इसकी तमन्ना है—इसमें भावना है—कल्पना है—निश्चय है और निश्चय तक पहुंचने की शक्ति है, लेकिन यह अपनी परिस्थितियों द्वारा गलत मार्ग पर चलने के लिए बाध्य किया गया है। यह तांगा चला कर सन्तुष्ट रह सकता था, यदि करीमउद्दीन ने इसे अपमानित न किया होता। आज मानव-विधान इसे मान्य नहीं है। उन सारी आन्तरिक उद्भावनाओं का यह विनाश कर बैठा है, जिसके द्वारा संयम, विवेक, ईमानदारी और चरित्र-गठन की भाव-नाओं को प्रेरणा मिलती है।

करीमउद्दीन यदि अपनी लड़की से इसका विवाह नहीं करना चाहता था तो न करता। और साधनों का उपयोग कर के भी वह इसके निश्चय से दूर ले जा सकता था। लेकिन उस ने प्रतिहिंसा से काम लिया। इस प्रतिहिंसा को उसने पुलिस की कार्रवाई द्वारा पूर्ण कराया।

अपराधियों के मनोविज्ञान विशेषज्ञ श्री मालवे ने कहा है—

"थानों और जेलों को सुधार-गृह में परिवर्तित कर दो और नब्बे प्रतिशत अपराधियों को आप अपराध-रहित मानव बनाने में समर्थ हो सकेंगे।

## प्रेम क्या है ?

'मानवता' में प्रकाशित यह संस्मरण विचारोत्तेजक है—

एक दिन एथेन्स के अंगाधान नामक सुप्रसिद्ध कवि के घर एक प्रीतिभोज का आयोजन था। कवि महोदय के लिखे गए एक नाटक पर पारितोषिक मिलने की खुशी में उन्होंने अपने सभी मित्रों को इस अवसर पर आमंत्रित किया था।

## तू याद रखना !

—सुश्री विद्या

सीपी के हृदय में एक मोती पला।

एक दिन गोताखोर ने सीपी का हृदय भेद, उस पर अधिकार कर लिया और अब मोती चला जौहरी बाजार की किसी सजी-संवारी दूकान में गर्व से अपना स्थान लेने !

असहाय सीपी दो दलों में समुद्र तट पर उपेक्षित पड़ी थी। मोती का गर्व उसे चुभा और उसके मुंह से निकल गया—ऐ स्वाति का क्षुद्र बून्द, तुझे देवताओं ने निष्कासित किया, आकाश ने गिराया कि तू समुद्र के महागर्भ में विलीन हो, पर मैंने तुझे अपने कलेजे में छुपा लिया और उसी का फल है कि आज तू सम्मानित रत्न है और मैं एक निकृष्ट वस्तु !

फिर भी मैं सुखी हूं। निर्माता ने कब दुख माना है ? हाँ, संसार भले ही मेरा महत्व न माने, मुझे पैरों तले रौन्द डाले, समुद्र की लहरें मुझे बहा ले जाएं या फिर इस बालुका-राशि में ही मेरी समाधि बन जाए, तू याद रखना—क्षुद्र सीपी के समर्पण में ही तेरे गौरव का निर्माण हुआ है।

अपने निवास-स्थान राजस्थान-भवन में ही मुझे न केवल ठहराया, प्रत्युत हमारी सारी सुविधाओं का उन्होंने जिस आत्मीयता के साथ ध्यान रखा, वह अविस्मरणीय रहेगी। लगभग ढाई वर्ष नव-राजस्थान का प्रकाशन स्थापित किए जाने तक मैं अकोला में रहा और कितने ही ऐसे प्रसंग आए, जिनमें बियाणी जी की उदारता तथा आत्मीयता में उत्तरोत्तर निखार का ही मैंने अनुभव किया। उन की इस आत्मीयता में कभी कोई अन्तर नहीं आया। यहां तक कि अकोला छोड़ देने के युगों पश्चात् जब मैंने इलाहाबाद से उन्हें मध्यप्रदेश के वित्त-मंत्री हो जाने पर एक पत्र लिखा, तो उस के उत्तर में भी उनकी उसी पुरानी आत्मीयता की झांकी देखकर मैं गद्गद् हो उठा। उन्होंने मेरे 'सरस्वती' सम्पादक हो जाने पर न केवल अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की, प्रत्युत यह लिख कर अपनी स्वाभाविक नम्रता का परिचय दिया कि 'मेरे साथ तो आप एक छोटे-से पत्र में काम करते थे, किन्तु अब आपका क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया, इसका मुझे गर्व है।'

'नव-राजस्थान' के सम्पादकीय विभाग में रह कर मैं पूर्णतः सन्तुष्ट रहा। वहां का वातावरण जैसा सौम्य रहा, वैसा मुझे अन्य किसी पत्र में नहीं मिला। श्री रामनाथ 'सुमन' सम्पादक थे। उन के ओजपूर्ण और अध्ययनपूर्ण लेखों के कारण 'नव-राजस्थान' उस युग के हमारे देश के प्रमुख साप्ताहिकों में अपना विशेष स्थान बना चुका था। श्री रामगोपाल माहेश्वरी संयुक्त सम्पादक थे और पत्र की व्यवस्था का समस्त भार भी वही वहन करते थे। 'नव-राजस्थान' में रह कर मुझे अपने अनुवाद के उस अभ्यास को परिष्कृत करने का स्वर्ण संयोग मिला, जो 'लोकमत' में केवल छः महीने रह कर प्रारम्भिक दशा में ही अधूरा रह गया था। कांग्रेस के अनेक दिग्गज

नेताओं के लेखों और भाषणों के अनुवाद मैंने 'नव-राजस्थान' के लिए तैयार किए, जिनका यथेष्ट स्वागत हुआ।

कुछ कारणों से जब श्री बियाणी जी ने 'नव-राजस्थान' का प्रकाशन स्थगित कर दिया, तब श्री रामगोपाल माहेश्वरी ने 'नव-भारत' नामक अर्द्ध साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन नागपुर से प्रारम्भ करने का निश्चय किया। वे मुझे अपने साथ नागपुर ले गए, जहां 'नव-भारत' का प्रकाशन १९३८ में प्रारम्भ किया गया। पहले यह पत्र अर्द्ध साप्ताहिक था और इसकी नींव डालने में यदि किसी के परिश्रम का गारा उल्लेख्य है, तो वह केवल तीन व्यक्तियों का—स्वयं श्री माहेश्वरी जी का, इन पंक्तियों के लेखक का और श्री शैलेन्द्र कुमार का। सारे दिन और रात-रात भर जागते रह कर सम्पादकीय कार्य करते रहना मेरे लिये उन दिनों साधारण-सी बात थी। कारण, उस समय इस पत्र का अपना प्रेस नहीं था। अब तो 'नव-भारत' मध्यप्रदेश का ऐसा एक मात्र दैनिक है, जिसके तीन-तीन संस्करण विभिन्न नगरों से एक साथ प्रकाशित होने लगे हैं।

'नव-भारत' का अपना प्रेस न होने से मेरी कठिनाइयां बहुत बढ़ गईं थीं। माहेश्वरी जी उन दिनों धर्म पेठ में रहते थे, मैं अपने फूफा-श्वसुर पं० काशीप्रसाद जी सरैया, डिपुटी डायरेक्टर आफ लैंड रिकार्ड्स के साथ सीताबर्डी में रहता था और जिस प्रेस में उन दिनों 'नव-भारत' छपता था, वह सन्तरा मार्केट में था। सुबह भोजन कर के मैं पहले धर्मपेठ जाता, डाक देखता, प्रेस-सामग्री तैयार करता और आवश्यक ब्लाक आदि एक झोले में भर, अपनी साइकिल पर लटका कर प्रेस चला जाता। प्रेस पहुँचने का समय तो लगभग निश्चित रहता, किन्तु लौटने का कोई निश्चय न रहता। श्री शैलेन्द्र जी के साथ प्रेस में ही कभी-कभी आधी रात तक कार्य करता, तब कहीं घर लौट सकता।

बड़ा अव्यवस्थित जीवन-क्रम था। इसीलिए मैं जान-बूझ कर अपने सरैया फूफा के साथ रहता था, जिससे पत्नी हीरादेवी जी को एकाकी न रहना पड़े। सरैया फूफा का सहज स्नेह मुझे प्रारम्भ से ही प्राप्त था, जो अब तक अक्षुण्ण है। उनके साथ रहकर मैं अपनी पारिवारिक चिन्ताओं से एकदम मुक्त रहा। केवल 'नव भारत' का सम्पादन कार्य ही मेरे सामने था, जिस में रात-दिन लगा रहता था।

पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रारम्भ से ही मैं सेवा-भाव को लेकर प्रविष्ट हुआ था, अतः मैंने अपने आर्थिक पहलू पर कभी दृष्टिपात नहीं किया। इतना कठोर परिश्रम करने पर भी मैंने वेतन-वृद्धि की कभी कोई बात माहेश्वरी जी के समक्ष नहीं रखी। स्वभावतः अपने लाभ की बात करते समय मेरी वाणी जैसे मूक हो जाती है। मैं अपने इस स्वभाव के कारण सदा घाटे में रहा। कदाचित् इसी कारण मेरी आर्थिक स्थिति सदा दयनीय रही। जो भी हो, स्वभाव साधारणतः बदला नहीं जा सकता। हुआ यह कि इस घोर परिश्रम का दुष्परिणाम मेरे स्वास्थ्य पर शीघ्र दीखने लगा और मुझे छः महीने में ही 'नव-भारत' से पृथक् हो जाना पड़ा।

सन् १९३१ से १९३८ तक की पत्र-

कारिता का मुझे जो अनुभव हुआ था, उससे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस क्षेत्र में रह कर जीवन बिताना सदा कष्टकर रहेगा। जीवन बिताने के लिए जिस अर्थ की आवश्यकता को कभी अस्वीकार नहीं किया जा सकता, वह इस पत्रकारिता के क्षेत्र में रह कर कभी पूरी न हो सकेगी। विचारों के इस उद्वेलन के कारण मैंने अपनी जीवन-धारा में एक मोड़ लाने का संकल्प किया। एक दिन मैंने सरैंया फूफा से एक छोटा-सा अपना प्रेस स्थापित करने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने न केवल मेरे प्रस्ताव का समर्थन किया, प्रत्युत कुछ आर्थिक सहयोग का वचन भी दिया।

अपना प्रेस स्थापित करने का संकल्प लेकर एक दिन मैं सपरिवार जबलपुर के लिए प्रस्थान कर बैठा। 'नव-भारत' के लिए छः महीने में रात-दिन अथक परिश्रम करते करते मेरा शरीर कितना टूट चुका था, इसका प्रमाण जबलपुर स्टेशन पर उतरते समय ही मिल गया। ट्रेन से उतरते ही मुझे क़य होने लगी। कुछ ही मिनटों के पश्चात् दस्त भी हुआ। यह हैज़े का आक्रमण था। शरीर में कोई शक्ति तो रह नहीं गई थी, जो किसी बीमारी के आक्रमणकारी कीटाणुओं को परास्त करने में सक्षम होती। हैजे का यह आक्रमण इतना प्रबल था कि कुछ ही मिनटों में इसने अपनी विकरालता प्रकट कर दी। फल यह हुआ कि जो तांगा हम लोगों को लेने के लिए स्टेशन पर मेरे श्वसुर पं दुर्गाप्रसाद जी पाठक ने भेजा था, उस पर हम लोगों का केवल सामान ही लाद कर भेजा जा सका और मुझे अपने एक परिचित वैद्यराज पं०

श्रीमती हीरादेवी

नर्मदाप्रसाद मिश्र के दवाखाने में उतर जाना पड़ा।

मेरे मित्र वैद्यराज जी ने आयुर्वेदिक औषधियां देकर मेरा हैज़ा रोकने की बहुत चेष्टा की; किन्तु उन्हें सफलता हाथ न लगी और मुझे अपने पुराने परिचित डॉ० सूबेदार एम. बी. बी. एस. को, जिनका अब निधन हो चुका है, तत्काल बुलवाना पड़ा।

इधर मेरा डाक्टरी उपचार होने लगा और उधर जब तांगे पर हमारा केवल सामान पहुंचा और हैजे के अचानक आक्रमण का संवाद मिला, तो मेरे सास-ससुर, सालियां और एक साढू भाई आदि घबरा कर फौरन आ पहुँचे।

हैजे का यह आक्रमण इतना भीषण था कि डा० सूबेदार मुझे जबलपुर के संक्रामक अस्पताल में गए, जिसके वह आनरेरी सर्जन थे। दो दिन तक अस्पताल में रह कर जब मैं घर वापस गया, तो प्रतीत होता था कि मेरा शरीर भीतर से मानो खोखला हो चुका है और मैं धरती पर पैर रखते ही हवा में

उड़ जाऊंगा। किसी तरह एक महीने में चलने-फिरने की शक्ति प्राप्त कर सका। इस हैजे का सबसे बुरा परिणाम मेरे स्वास्थ्य पर यह हुआ कि उसके पश्चात् आज तक मैं पहले जैसा हृष्ट-पुष्ट नहीं हो सका। मेरी आंतें सदा के लिए इतनी कमज़ोर हो चुकी हैं कि आज तक मैं तनिक भी गरिष्ठ अथवा ठंडा भोजन नहीं पचा पाता।

लगभग ६ महीने में जब मेरा स्वास्थ्य सुधर गया, तब दौड़-धूप कर अपने संकल्प को साकार रूप देने के लिए मैंने साहित्य-प्रेस की स्थापना की, परन्तु अपने जीवन में जिस ज़बरदस्त मोड़ की मैंने कल्पना कर रक्खी थी, वह कभी साकार न हो सकी। साहित्य-सृजन और व्यवसाय दोनों एक दूसरे से, सरस्वती और लक्ष्मी की भांति ही विपरीत रहने वाले तत्व हैं।

व्यवसाय चलाने के लिए जिस कौशल की आवश्यकता है, उससे मैं बहुत दूर था। जब तक का मेरा जीवन-क्रम पत्रकारिता करने और साहित्य-साधना में ही बीत रहा था, किन्तु प्रेस की स्थापना करते ही व्यवसाय का चक्र मुझे उसी गति से चालित करने लगा, जिस गति से मेरे प्रेस की क्राऊन फोलियो ट्रेडिल का बड़ा चक्र घूमता था। उस चक्र की गति में भी एक ऐसी जड़ता थी, जो मेरी प्रवृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल थी।

प्रेस के लिए कार्य जुटाने का क्रम अनवरत रखने के लिए मुझे अपने बहुमूल्य समय की हत्या करनी पड़ती थी। बिना ऐसा किए प्रेस के कर्मचारियों का खर्च पूरा करना असम्भव था। मेरे पीछे किसी बड़ी पूंजी का बल तो था नहीं कि बाहरी काम न करने पर भी खर्च चल जाता। मुझे शीघ्र ही यह स्वीकार करना पड़ा कि प्रेस चलाना और हाथी बांध लेना एक समान है। फिर मेरे सामने एक भयंकर समस्या यह थी कि मेरे प्रेस की ट्रेडिल एक बार में पुस्तक के आकार के केवल चार पृष्ठ ही छाप सकती थी। दूसरे शब्दों में यह कह लीजिए कि सोलह पेजी फार्म जहां अन्य बड़े प्रेस एक बार में छाप कर रख देते थे, वहां मुझे चार बार में छापने पड़ते थे। इस प्रकार परिश्रम और पारिश्रमिक चौगुना हो जाता, किन्तु छपाई उतनी ही प्राप्त होती, जितनी अन्य प्रेसों को। इस स्थिति में पड़कर मैं बहुत जल्द प्रेस व्यवसाय से खीझ उठा और उदासीनता से भर गया।

प्रेस में जब कभी प्रयत्न करने पर भी बाहरी काम न मिलता, तब मुझे अपनी ही पुस्तकों का प्रकाशन करना पड़ता। मेरा कहानी संग्रह 'अन्तर्ज्वाला' और रेखा-चित्र 'दुनिया के तानाशाह' तथा हीरादेवी जी का कविता-संग्रह 'मधुवन' ऐसी ही परिस्थितियों में प्रकाशित पुस्तकें हैं। ये तीनों पुस्तकें आज अप्राप्य हैं।

उसी समय विश्वव्यापी दूसरा महायुद्ध छिड़ गया और कागज तथा प्रेस सम्बन्धी सामग्री के भाव भी अन्य वस्तुओं की भांति ही सातवें आसमान पर जा पहुँचे। अन्य प्रेसों की प्रतिस्पर्धा में पहले ही मेरी नाव डगमगा उठी थी, अब कागज आदि की महंगी ने और भी मेरी कमर झुका दी। किसी पूंजी का बल होता, तो मैं भी इन विषम परिस्थितियों का मुकाबला करने में सक्षम होता और ट्रेडिल के स्थान पर एक

अतिथिगण अपने सर्वप्रिय विषय 'प्रेम' की चर्चा कर रहे थे।

फिड्रस ने कहा—"प्रेम ही समस्त देवताओं में सर्वश्रेष्ठ है। यही वह शक्ति है, जो साधारण नवयुवकों को शूरवीर बना देती है। इसका कारण यह है कि कोई भी प्रेमी अपनी प्रेमिका के सामने कायरता का प्रदर्शन करते हुए शर्माता है। मुझे आप प्रेमी लोगों की सेना देकर देखें कि मैं किस प्रकार अखिल विश्व पर उनकी सहायता से, अधिकार जमा लेता हूँ।"

"जी हां।" पॉसेनियस ने समर्थन करते हुए कहा—"परंतु भौतिक और दिव्य प्रेम ( शारीरिक तथा आत्मिक अर्पण ) के बीच जो अंतर है, उसका तुम्हें स्पष्टीकरण कर देना चाहिए। शरीरों का क्षणिक और क्षुद्र प्रेम, जवानी की बहारों का अंत आते ही एक पक्षी के समान उड़ जाता है, परंतु आत्मा का श्रेष्ठ प्रेम चिरस्थायी होता है।"

हास्यरस के कवि, अरिस्टोफन्स ने अपनी मौलिक कल्पना करते हुए कहा—"प्राचीन काल में स्त्री और पुरुष एक ही पिंड में जुड़े हुए पैदा होते थे। यह शरीर गेंद के समान वृत्ताकार हुआ करता था। चार हाथ, चार पैर तथा दो मुखाकृतियां वाली यह देह आश्चर्यजनक तीव्र गति से कलाबाजियां करती हुई इधर उधर दौड़ा करती थी। इस मिश्रलिंगी देह की भयंकर शक्ति तथा अद्भुत महत्वाकांक्षाओं का पूछना ही क्या। जब ये लोग देवलोक पर चढ़ाई करने की तथा देवताओं से लड़ने की योजनाएं बना रहे थे, तो झीयस नामक देवता को एक सुन्दर युक्ति सूझी।

उसने कहा—इन पिंडों को काट-काटकर एक के दो कर डालने चाहिये; क्योंकि ऐसा करने से उनकी शक्ति आधी रह जायगी और हमें दुगने बलिदान मिल सकेंगे। इस प्रकार उसने उनको दो हिस्सों में पृथक किया, जिसके फलस्वरूप स्त्री और पुरुषों के बीच एक ऐसे आकर्षण का अनुभव हुआ, जिसको हम प्रेम कहते हैं।

सुकरात ने कहा—"प्रेम मनुष्य की आत्मा में लगनेवाली दिव्य सौंदर्य की क्षुधा को कहते हैं। प्रेमी केवल सौंदर्य प्राप्ति के लिये नहीं, अपितु उसके निर्माण एवं उसकी चिरायु के लिए सदैव उत्सुक और प्रयत्नशील रहता है।

और वह सौंदर्य क्या है, जिसे हम प्रेम के बल पर चिरायु बनाना चाहते हैं? वह है विवेक, गुण, साहस, प्रतिष्ठा, न्याय और श्रद्धा।"

## जीवन सन्देश

'अणुव्रत' में प्रकाशित श्री अनवर-आगेवान की यह भाव कथा भाव-बोधक है—

प्रातःकाल की शीतल पवन लहरी आई और गुलाब की कली को हंसाकर चली गई। यह देखकर पत्ता गुलाब से कहने लगा—"अरे इतने अल्प जीवन में क्या मजा! मेरे देखते ही कई फूल खिले और कुम्हला गए और कई तोड़े जाने पर असमय में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर गए।"

गुलाब ने हंसकर कहा—"तो फिर क्या हुआ?"

पत्ता बोला—"अरे अभी माली आएगा और तुझे भी तोड़ कर ले जाएगा। क्या यह दो घड़ी का जीवन भी कोई जीवन कहला सकता है?"

गुलाब ने मुस्करा कर उत्तर दिया—"जीवन का अर्थ है सच्ची सुवास। इसी सुवास को फैलाते हुए आमन्त्रित मृत्यु ही जीवन और अमरता है···!"

फूल अभी अपनी बात समाप्त भी न कर पाया था कि माली ने आकर उसे तोड़ लिया। जाते-जाते फूल पत्ते से कहने लगा—"चलना हो तो मेरे साथ चलो!"

पर पत्ते ने व्यंग से उत्तर दिया—"ना भाई, मरने के लिए तुम्हारे साथ कौन जाए? मुझे तो अभी बहुत दिन जीना है, तुम हीं जाओ!"

माली फूल को इत्र बनाने वाले के पास ले गया। गंधी ने खौलते पानी में कोमल देहधारी फूल को डाल कर उसका इत्र निकाल लिया। फूल तो मर गया, पर उसकी सुवास से सारा पानी महक उठा। मानों, मृत्यु जीवन बन गई।

इस बात को बहुत दिन बीत गए। फूल जीवन की अमरता को प्राप्त कर चुका था। पत्ता अब वृद्ध होकर पवन के झोंकों से धरती पर गिर पड़ा था, बुढ़ापे में उसे किसी ने भी नहीं उठाया। जीवन और मृत्यु के भेद को जानने के लिए वह रास्ते पर इधर से उधर ठोकरें खाता फिरने लगा। इतने में दूर से उसे फूल की महक आई। उसे आश्चर्य हुआ कि फूल अब तक जीवित है? इतने में पवन की लहरी आई और उसे फूल का जीवन-संदेश सुना गई।

पत्ते को मार्ग में पवन की लातें खाते देख फूल की आत्मा बोल उठी—क्यों भाई, तेरी यह दशा? तू तो कहता था कि मुझे बहुत दिन जीना है।"

यह समय पत्ते की जीवन-लीला का अन्तकाल था। फूल ने पत्ते से कहा—"मैंने तुझे कहा न था कि आत्मा अमर है, तो फिर नश्वर देह की बात ही क्या है?"

## ईश्वर का न्याय

आस्कर वाइल्ड के आधार पर श्री तारकेश्वर मतिन द्वारा लिखित यह भाव कथा कितनी मधुर है?

न्यायालय में पूर्ण शांति थी। ईश्वर के समक्ष मनुष्य को उपस्थित किया गया।

ईश्वर ने उस मनुष्य के जीवन का लेखा निकाला।

मनुष्य का पूरा जीवन निरर्थक ही बीता था। ईश्वर ने कहा—"तुम्हारा जीवन व्यर्थ गया है। जो तुमसे सहयोग चाहते थे, उन्हें तुमने कठोरता दी। जिन्हें सहयोग नहीं चाहिए था, उन्हें तुमने अपने कटु और कड़े हृदय का परिचय दिया। निर्धनों के प्रति तुमने कभी दया न दिखाई। दरिद्रों की पुकार तुम्हारे कानों तक न पहुंच पाई। तुमने अपने पड़ोसियों का कभी ख्याल तक न किया। तुमने बच्चों के मुख से रोटी छीनकर कुत्तों को खिलायी। मेरे प्रिय भक्तों ने जब तुमसे भिक्षा मांगी तो तुमने उन्हें सड़क का रास्ता दिखाया और मेरी ही बनाई हुई धरती पर तुमने कितने ही निर्दोष व्यक्तियों का खून चूसा है।"

मनुष्य ने ईश्वर के कथन का समर्थन किया—"सभी बातें ठीक हैं।"

ईश्वर ने उस व्यक्ति के जीवन-इतिहास का दूसरा पृष्ठ खोला। ईश्वर ने कहा—"इस नश्वर धरती पर तुम सुन्दर वस्तुओं के पीछे दीवाने रहे। तुमने वस्तु की अच्छाई से अधिक उसकी सुन्दरता पर ध्यान दिया। तुम केवल सुन्दरता के

पुजारी थे। तुमने अपने कक्ष की मूक पाषाण प्रतिमाओं की उपेक्षा कर अपना जीवन केवल राग-रंग में व्यतीत किया। तुमने असंख्य पाप किए। अभोज्य पदार्थों का भोजन किया, तुम्हारे वस्त्र का हर धागा तुम्हारी निर्लज्जता और कठोरता का प्रतीक था। तुमने शारीरिक सुख का उपभोग किया, इस नश्वर शरीर के लिए। भोग-विलास और ऐश्वर्य में तुम यह भी भूल गए कि किस परोपकार के उद्देश्य से तुम्हें पृथ्वी पर भेजा गया है।"

मनुष्य ने कहा—'हां !'

ईश्वर ने मनुष्य के जीवन का तीसरा पृष्ठ खोला—"तुमने अपने जीवन में केवल नीचता को प्रश्रय दिया है। उस नीचता को जिसने तुम्हें निर्दय, कठोर, झूठा, बेईमान और कपटी बनाया, अमानवीय व्यवहार का पाठ पढ़ाया। जिन हाथों ने तुम्हारे घावों पर एक दिन पट्टी बांधी, जिस मां के दूध से तुम्हें जीवन-दान मिला, तुमने उनकी भी अवज्ञा की। जो तुम्हारे लिए पानी लाया, वह प्यासा लौटा। जिसने तुम्हें आश्रय दिया, उसको तुमने ठोकर मारी। जिस शत्रु ने तुम्हें जीवन दान दिया, उसे तुमने धोखे से मरवा डाला। जिस मित्र ने तुम्हारे जीवन के हर क्षण में साथ दिया, उसे तुमने चांदी के चन्द टुकड़ों के लिए मरवा दिया। जिस स्त्री ने तुमसे प्यार किया, उससे तुमने अपनी लालसा पूरी करनी चाही।"

मनुष्य ने कहा—"सब सच है।"

ईश्वर ने जीवन पुस्तक बन्द करदी। उन्होंने कहा—"तुम्हारे लिए केवल नर्क है।"

मनुष्य चीख उठा—"नहीं, नहीं, मुझे नर्क नहीं चाहिए।"

ईश्वर पूछ बैठे—"तुम्हारे लिए नर्क के सिवा और कोई स्थान नहीं। तुम नर्क क्यों नहीं जाना चाहते ?"

"क्योंकि मैं आजन्म नर्क में रहा," मनुष्य ने कहा।

न्यायालय में फिर शांति छा गई। थोड़ी देर तक ईश्वर सोचते रहे और फिर कहा—"ठीक है, तुम जन्म भर नर्क में रहे। अपने किए की सजा भुगतते रहे, अब तुम स्वर्ग में जाओ।"

मगर आश्चर्य ! मनुष्य फिर चीख उठा—"नहीं, नहीं, मैं स्वर्ग नहीं जाऊंगा।"

"क्यों ?" ईश्वर को अत्यधिक आश्चर्य हुआ। आज तक स्वर्ग जाने से किसी मनुष्य ने इन्कार नहीं किया था।

"क्योंकि नर्क में रह कर मैंने आज तक स्वर्ग की कल्पना भी नहीं की है।" मनुष्य का उत्तर था।

न्यायालय अब एकदम शान्त हो गया और सोचने लगा।

•

टु रिटर्न ईविल फार गुड इज डेवलिश,
टु रिटर्न गुड फार गुड इज ह्यूमन,
टु रिटर्न गुड फार ईविल इज डिवाइन !

भलाई के बदले बुराई करना शैतानियत है,
भलाई के बदले भलाई करना मनुष्यता है,
बुराई के बदले भलाई करना देवत्व है !

# मुनीश्वर अवस्थी

( पृष्ठ १५ का शेष )

प्रथम अनुवाद उन्हीं का किया हुआ था।

मुझे याद है, एक दिन वे मेरे घर आए हुए थे। मैंने उन्हें बतलाया कि 'बांगलाय विप्लववाद' का हिन्दी अनुवाद मैंने उसी दिन पूर्ण किया है। उन्हों ने कहा–अरे, इसको आधे से अधिक तो मैं भी अनुवादित कर चुका हूँ। मैंने कहा–तब यह पूरा ले लें। लेखों अथवा पुस्तकों के प्रकाशित करवाने की कला में मैं अज्ञ था और वे विज्ञ। इसके अतिरिक्त मैं प्रकाश में भी नहीं आना चाहता था। कन्हाइलाल दत्त और युगान्तर दल के नेता यतीन्द्रनाथ की जीवनियों के अनुवाद भी मैंने उन्हें सौंप दिए। 'बांगलाय विप्लववाद' का अनुवाद उन्होंने 'कर्मवीर' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित करवाया था। १८५७ में विहार के विद्रोहियों के नेता कुंवरसिंह और अमरसिंह की जीवनियां भी अंग्रेजी ग्रंथों आदि से बहुत सी खोजपूर्ण सामग्री जुटा कर उन्होंने लिखीं और प्रकाशित करादीं। 'बागी की बेटी' नामक उनका कहानी संग्रह उन दिनों चाव से पढ़ा जाता था और समाचार पत्रों में आलोचकों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की थी। दुःख है; क्रांतिकारी दल के साथ साथ मुनीश्वर का यह साहित्य भी विलीन हो गया और उनकी समस्त पुस्तकों की सूची प्राप्त कर सकना भी अब दुष्कर हो रहा है।

काकोरी षड़यन्त्र की गिरफ्तारियों के बाद हमारे प्रदेश में क्रांतिकारी दल विशृंखलित ही नहीं, निष्प्राण हो गया था। धन और साधन-विहीन बचे हुए हम चार पांच तरुण दूसरे नगरों में जाकर नया संगठन कैसे खड़ा करें? उस दुष्काल में मुनीश्वर की याद आई। वे सन्यासी रह चुके हैं। बनारस में असन-वसन का कोई आश्रय निकाल ही लेंगे। कुछ महीनों बाद, हम लोग भौंचक रह गये, जब एक दिन खबर आई कि मुनीश्वर बनारस से निकलने वाले संस्कृत के साप्ताहिक 'सूर्य' में उपसम्पादक नियुक्त हो गए हैं।

स्मरण रखिए-क्रांतिकारी के जीवन की समस्त दुश्चिंताओं और विपत्तियों, अस्थिरताओं और विघ्न वाधाओं, जीवनान्तक योजनाओं और कार्यकलापों की जटिलता और बहुलता के बीच केवल ४-५ वर्षों के भीतर उन्होंने भाषाओं का यह ज्ञान, साहित्यिक साधना और पत्रकारिता की दक्षता अर्जित की थी, क्योंकि २०-३० वर्ष की आयु के बीच केवल १० वर्ष का ही तो उनका क्रांतिकारी जीवन है। उर्दू में शिक्षित तथा गालिब और जौक से भी पहिले से लेकर चकबस्त और अकबर तक उर्दू साहित्य की परम्परायें जिस के मस्तिष्क में शेरो-शायरी के रूप में गंजी पड़ी थी-संस्कृत-समाचार पत्र के सम्पादकीय विभाग में उसका प्रवेश किस करिश्में से कम है?

कानपुर का डी. ए. वी. कालेज क्रांतिकारियों का प्रधान अड्डा था। एक दिन देखता हूँ, शिव वर्मा के कमरे में छोटे कद का एक स्वल्प भाषी तरुण गम्भीर मुद्रा में बैठा है। यह मुनीश्वर की खोज थी, जिसे वे बनारस से लाये थे। ये थे

राजगुरु, जो भगतसिंह के साथ लाहौर सेंट्रल जेल में फांसी का फंदा चूम कर शहीद हुए। मुनीश्वर ने और कुछ न किया होता, तो राजगुरु की शिक्षा ही क्रान्तिकारी इतिहास में उन्हें अमर रखने को पर्याप्त थी।

गोरखपुर जेल की फांसी की कोठरी से जब पंडित रामप्रसाद बिस्मिल ने संदेश भेजा-"एक चतुर और कार्य कुशल व्यक्ति मुझ से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तुरन्त भेजिए" तो मुनीश्वर को ही हम लोगों ने उपयुक्त माना। गोरखपुर पहुँचकर उन्होंने 'स्वदेश' का उप-सम्पादक पद सम्हाला और बिस्मिल जी से सम्पर्क स्थापित किया। पहरेदारों को मिलाकर उन्होंने फांसी की कोठरी में अवैध लेखन सामग्री की सुविधा जुटवा दी। थोड़े दिनों बाद बिस्मिल जी ने अपनी जीवनी और काकोरी षड़यंत्र का इतिहास लिखकर मुनीश्वर को सौंप दिया, जिसे बाद में स्वनामधन्य श्री गणेश शङ्कर विद्यार्थी ने सम्पादित करके प्रताप प्रेस कानपुर से प्रकाशित किया। योजना तो बिस्मिल जी को जेल से मुक्त कर लेने की भी थी, किन्तु हम लोग समय रहते शस्त्र नहीं जुटा पाये, इसलिए उसका यश मुनीश्वर को नहीं मिल सका।

हां, 'स्वदेश' की उन्होंने काया पलट कर दी। वे जब तक वहां रहे, स्वदेश की प्रति मेरे पास बराबर आती रही। उसकी क्रमागत उन्नति मुनीश्वर की सफल पत्रकारिता की ज्वलंत साक्षी थी।

गोरखपुर के प्रवास काल में मुनीश्वर ने कैलाशपति को क्रांतिकारी दल में खींचा। वह पोस्ट मास्टर था। मेरे कहने पर डाकखाने का सब रुपया लेकर वह मेरे घर कानपुर आ पहुंचा। यह पहली रकम थी, जिसके आधार पर क्रांतिकारी दल का संगठन और कार्य फैला।

इसके बाद तो मुनीश्वर और हम सब लोग प्राण हथेली पर रख कर क्रान्तिकारी आंदोलन की उन्नति में जुट गए। पढ़ना-लिखना, प्रचार-संगठन, शस्त्रास्त्रों का संग्रह, बमों का निर्माण और खून की होली। आराम क्या है, और जीवन की चाह किसे कहते हैं, यह भूल ही गए। दिन कब आया और रात किधर निकल गई, यह पता ही न चलता। आजादी की लगन और क्रांति की मस्ती, हमारे संसार का यही अस्तित्व था। कैसा अद्भुत था वह जमाना।

अब न वे दिन हैं और न वे रातें।
सिर्फ कहने को रह गईं बातें।

अब मुनीश्वर और जेल के बीच आंख-मिचौवल प्रारम्भ हुई। लाहौर षड़यंत्र में गिरफ्तार करके उन्हें वहां के शाही किले के तहखाने में डाल दिया गया। प्रायः एक महीने भांति भांति की यातनायें देकर भी पुलिस उनसे कुछ न निकाल सकी और सजा कराने लायक प्रमाण जुटाने में भी वह असफल रही तो, उन्हें रिहा कर दिया गया। कानपुर के नारियल बाजार बम-कांड और काकोरी केस के मुखबिर बनारसीलाल को पार्सल-बम भेजने के मुकदमों में भी उन्हें सजा नहीं कराई जा सकी। गंगा पुल पर बम के साथ गिरफ्तारी के मामले में तो सी. आई. डी. के अफसर एकदम उल्लू बन गये। उन्हें बन्द करवाने का और कोई उपाय न चलता देख कर उनपर दफा १०९ में मुकदमा चलाया गया, किन्तु इस फंदे से भी वे निकल गये।

तब सी. आई. डी. वालों ने उनकी हत्या करा डालने का उपक्रम किया। राजाराम जालिम नामक उनके चर ने मेस्टन रोड में सरे बाजार, दिन दोपहर, मुनीश्वर पर गोलियां चलाई। वे घायल हो गए किंतु मृत्यु उनके पास से हिचक कर लौट गई। जनता जालिम को पकड़ने दौड़ी, तो वह भागकर सी. आई. डी. के डी. एस. पी. शंभूनाथ के घर में घुस गया। पुलिस-प्रश्रय से दुर्दान्त बना राजाराम जालिम देश भक्तों के लिए विषम समस्या हो उठा, किन्तु कुछ ही दिनों बाद धोबी मुहाल की एक गली में जालिम मरा मिला। अब तक सब लोग यही समझते हैं कि उसने आत्म-हत्या कर ली थी, परन्तु यहाँ सर्व प्रथम यह तथ्य प्रकाशित किया जा रहा है कि नराधम जालिम ने आत्म-हत्या नहीं की थी, उसका वध कर दिया गया था!

जब मैं बम्बई से मुक्त होकर आया तो मुनीश्वर को दफा ११० में ३ वर्ष की सजा हो चुकी थी। वीरेन्द्र ने बतलाया कि जिस दिन मुनीश्वर को सजा सुनाई गई, वे अदालत में उपस्थित थे। और ओह, मुनीश्वर का लिखित बयान! जब वे उसे पढ़ रहे थे, तो एक एक वाक्य से रोमांच हो उठता था। अन्त में यह शेर पढ़ते हुए उन्होंने बयान मजिस्ट्रेट के हाथ में दे दिया—

"राहे मकतल में तो हम,
बांध के बैठे हैं कफन!
आज किस नाज से,
आती है कज़ा देखेंगे!!"

मुनीश्वर के मुकदमे की अपील हाईकार्ट में कराने की मैंने आयोजना की, लेकिन अधिकारियों के आतंक और पुलिस की धमकियों के कारण उनकी जमानत करने के लिए हम कानपुर में किसी को तैयार नहीं कर सके। फिर तो सी. आई. डी. को सुगम मार्ग मिल गया और पहिले मुझे, फिर वीरेन्द्र को, फिर अजय घोष (कम्युनिस्ट पार्टी के वर्तमान महामंत्री) को और उसके बाद जो भी क्रांतिकारी पकड़े गए, उन्हें दफा ११० में जेल में धांग दिया गया! साढ़े चार वर्ष बाद, तपेदिक लेकर, जब मैं रिहाई के लिए पुनः कानपुर जेल वापस लाया गया, तो मेरी तनहाई की कोठरी का ताला बन्द करते हुए पुराने परिचित वार्डर पं० रघुवर दयाल ने खबर सुनाई "मुनीश्वर का देहांत हो गया। कहते हैं कि उन्होंने आत्महत्या कर ली।" सुनते ही मैं हतज्ञान होकर फर्श पर गिर पड़ा।

कुछ दिन बाद मुनीश्वर के सीतापुरी शिष्य वर्ग में से शिवनारायण जी मेरे घर आये। उन्होंने कहा—मृत्यु से कुछ दिन पूर्व मुनीश्वर जी १६ फुलस्केप कागजों में लिखा अपना एक पत्र, आप के लिए, सीतापुर के एक साथी के पास सुरक्षित करवा आए थे। उनका आदेश था, जेल से रिहा होने पर वह पत्र आप के पास पहुँचा दिया जाए। भाग्य का व्यंग देखिए कि वह साथी एक बारात में गया हुआ था। दूल्हे ने मजाक में नली उसकी ओर करके बंदूक का घोड़ा दबा दिया। मालूम नहीं था, बन्दूक भरी थी। साथी जहाँ का तहाँ सो गया! बहुत तलाश करवाने पर भी फिर वह पत्र मुझे नहीं मिला।

एक दिन वीरेन्द्र एक कापी कहीं से खोजकर लाए। इसमें मुनीश्वर के अन्तिम दिनों के लिखे लेख थे। अधिकांश अर्ध रात्रि के पश्चात् समाप्त हुए थे। प्रत्येक के अन्त में उनका हस्ताक्षर, तारीख और

समय अंकित था। उनमें से एक का शीर्षक था–'आत्महत्या' ! उसका सारांश था–जीवन की सार्थकता है उद्देश्य-निहित कार्यशीलता। जब उस की धारा सूख जाए, तो जीवन भार मात्र है। उसे संजोए फिरना, कृपणता का चिन्ह और कायरता का प्रमाण है। ऐसे जीवन का परित्याग उदात्र मानव का लक्षण है। राम और कृष्ण जैसे महापुरुषों की यही परिपाटी है।

उन दिनों मैं अपने साथी श्री मणिलाल शर्मा के साथ रह रहा था। एक दिन दोपहर को कोई उनके यहां आया और मेरे कपड़े, बिस्तर, अनेक सामग्री से पूर्ण मेरा भारी ट्रंक, सभी कुछ, इक्के पर लदवा कर चला गया। उसी ट्रंक में एकमात्र शेष स्मृति चिन्ह मुनीश्वर के अन्तिम लेखों की वह कापी भी चली गई।

उनका अंत हत्या से हुआ अथवा आत्म-हत्यासे ? इधर-उधर पूछ-ताछ करने पर उनके सम्बन्धियों और अन्तिम दिनों के निकट सम्पर्क वालों से इतना ही मालूम हो सका–विल्हार में उनका जीवन उदासी से परिपूर्ण था। वे प्रतिदिन प्रातः गंगास्नान के लिए जाया करते थे। एक दिन दोपहर को खबर मिली कि उनकी मृत देह एक बगीचे में पड़ी है। दूसरे दिन पुलिस ने लाश दी। पास पड़ी पाई गई विष की शीशी और जेब में मिली चिट्ठी पुलिस ने रख ली।

पत्र के लेख का तात्पर्य था–"मेरे देश-प्रेम के मतवाले साथी मुझसे बिछुड़ गए। जो जेलों में हैं, वे न जाने कब आवें और जिनकी मृत्यु हो चुकी है, वे तो कभी नहीं आवेंगे। कायर और विश्वासघाती बाकी हैं, किन्तु इनसे मेल कैसा ? मातृ भूमि और मृत्यु दो की ही मैंने आराधना की है। स्वतंत्रता के प्रयास में फांसी का फंदा मेरे गले में पड़ता–यह कामना मन में ही लिए जा रहा हूं। अफसोस–

'मैं दार का तालिब था,
तकदीर में पर यह था !
मुझको न मिला-न मिला,
जो हक-ए-शहीदां है !!"

मैं इस सम्बन्ध में विश्वस्त नहीं हूँ और खोज कर रहा हूँ कि उनके जीवन का अन्त कैसे हुआ ?

●

जिन्दगी मुझ परशिकस्ता की, असीरे दाम की !
यूं तो मेरी चीज है, लेकिन मेरे किस काम की ?

जब एक रोज जान का जाना जरूर है,
फिर फर्क क्या वो आज गई, ख्वाह कल गई !

जो किस्मत में जलना ही था शमग्र होते,
कि पूछे, तो जाते किसी अंजुमन में !

सफ़ी लखनवी

# हिटलर के नाम गांधी जी का पत्र

( पृष्ठ ११ का शेष )

*अङ्गरेज न सही, तो कोई और शक्ति आपकी प्रणाली में सुधार करके आपके ही हथियार से आपको पराजित कर देगी।*

आप अपनी जाति के लिए कोई ऐसी विरासत नहीं छोड़ रहे हैं, जिस पर वह गर्व कर सके । निर्दयता-पूर्ण कृत्यों का पाठ करने में उसे गर्व का बोध कदापि नहीं होगा; उनकी रचना में चाहे कितना ही बुद्धि-कौशल क्यों न खर्च किया गया हो।

इस लिए मैं मानवता के नाम पर आप से युद्ध बन्द कर देने की अपील करता हूं। आप उन समस्त विवादग्रस्त विषयों को, जो आपके और ब्रिटेन के बीच में हों, दोनों पक्षों की पसन्द के किसी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंप देंगे, तो आपकी कोई क्षति नहीं होगी। यदि आपको युद्ध में सफलता मिल गई, तो इससे यह सिद्ध नहीं होगा कि न्याय आपके पक्ष में था। इससे तो केवल यही सिद्ध होगा कि आपकी विनाशकारी शक्ति अपेक्षाकृत अधिक प्रबल थी। इस के विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का फैसला, जहां तक मनुष्य के लिए सम्भव हो सकता है, यह प्रकट करेगा कि न्याय किस ओर था।

आप जानते ही हैं कि मैंने कुछ ही समय पहले अंग्रेज जाति मात्र से अहिंसात्मक प्रतिरोध की प्रणाली अपनाने की अपील की थी। मैंने यह अपील इस लिए की थी कि अंग्रेज जानते हैं कि मैं विद्रोही होते हुए भी उनका हितैषी हूँ। आप और आपकी जाति के लोग मुझसे परिचित नहीं हैं। मैंने अंग्रेजों से जो अपील की थी, वही अपील आपसे करने का तो साहस मुझे नहीं होता, पर वर्तमान सुझाव तो अधिक सरल है, क्योंकि वह अधिक व्यावहारिक भी है और सबका जाना-बूझा भी है।

इस घड़ी यूरोप के लोगों के हृदय शान्ति के लिए छटपटा रहे हैं और हमने अपना शान्तिमय संघर्ष भी स्थगित कर दिया है। क्या मेरा आपसे इस घड़ी शान्ति सम्बन्धी प्रयास करने की अपील करना अनाधिकार चेष्टा समझा जाएगा? इसघड़ का मूल्य आपके निकट चाहे कुछ न हो, पर लाखों-करोड़ों यूरोप वासियों के लिये वह बहुत मूल्यवान सिद्ध हो सकती है, जिनका शान्ति का चीत्कार मेरे उन कानों में आ रहा है, जिन्हें जन-साधारण की मूक वेदना सुनने का अभ्यास है।

मैंने आपके और सीन्योर मुसोलिनी के नाम; जिनसे इंगलैंड की गोलमेज परिषद् में भाग लेकर वापस आते समय रोम में मिलने का मुझे सुअवसर मिला था, एक संयुक्त अपील भेजने का इरादा किया था। मैं आशा करता हूं कि वह इस अपील को आवश्यक परिवर्तन के बाद अपने को भी सम्बोधित मान लेंगे।

मैं हूं आपका सच्चा हितैषी
मो० क० गांधी

○